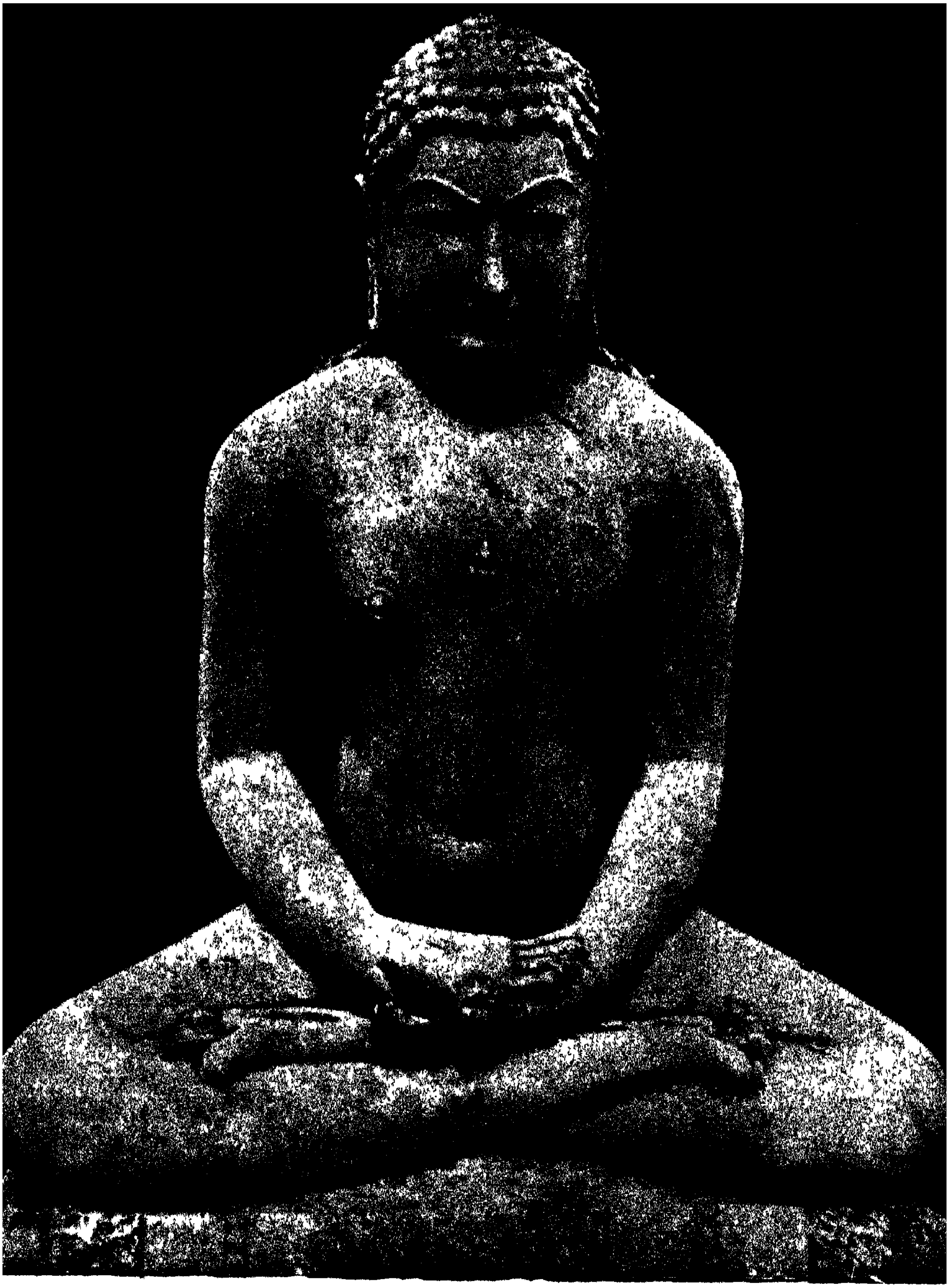
जैन कला एवं स्थापत्य

खण्ड 2



उज्जैन, मध्य प्रदेश　　तीर्थंकर　　ग्यारहवीं शताब्दी

जैन कला एवं स्थापत्य

भगवान् महावीर के 2500 वें निर्वाण
महोत्सव के पावन अवसर पर प्रकाशित

मूल-संपादक

अमलानंद घोष

भूतपूर्व महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण

तीन खण्डों में प्रकाशित

खण्ड 2

भारतीय ज्ञानपीठ

नई दिल्ली

मूल अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित

हिन्दी संपादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन

१९७५

भारतीय ज्ञानपीठ

तीन खण्डों का मूल्य
रु० ५५०

प्रकाशक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, बी-४५/४७ कनॉट प्लेस
नई दिल्ली-११०००१.

मुद्रक : ओमप्रकाश, संचालक, कैक्स्टन प्रेस, प्रा० लि०, 2-ई, रानी झाँसी रोड,
नई दिल्ली-११००५५.

सम्पादकीय टिप्पणी

इस ग्रंथ की परियोजना इसके प्रथम खण्ड में पृष्ठ १० पर स्पष्ट की गयी थी। द्वितीय खण्ड उसी योजना-क्रम के अनुरूप है, अंतर केवल इतना है कि भाग ५ (वास्तु-स्मारक और मूर्तिकला १००० से १३०० ई०) में दक्षिणापथ और दक्षिण भारत को एक ही अध्याय २४ में सम्मिलित कर दिया गया है (जैसाकि पृष्ठ १० पर संकेत किया गया था कि क्षेत्रीय सीमाओं का निर्धारण सर्वत्र सरल नहीं होता), और भाग ६ (वास्तु-स्मारक और मूर्तिकला : १३०० से १८०० ई०) में दक्षिण भारत पर कोई अध्याय नहीं है क्योंकि उसकी सामग्री का उपयोग अध्याय २४ में कर लिया गया है। इस अध्याय में, पृष्ठ ३२६-३२८ पर डॉ० रंगाचारी चंपकलक्ष्मी ने इस परिवर्तन का समुचित कारण एक टिप्पणी में बताया है जो उन्होंने मेरे अनुरोध पर लिखी)। क्षेत्रगत और कालगत सीमा-रेखाओं के प्रायः अस्पष्ट होने से अध्याय १८, १९, २४ और २९ में जो व्यतिक्रम आया है वह इसी कारण क्षम्य है।

यह खण्ड अध्याय ३० (भित्ति-चित्र) के साथ समाप्त होता है। यह अध्याय भाग ७ के अंतर्गत है जो तीसरे खण्ड में समाप्त होगा, और उसी में भाग ८ (अभिलेखीय और मुद्रा संबंधी स्रोत), भाग ९ (मूर्तिकला और स्थापत्य के सिद्धांत और प्रतीक) और भाग १० (संग्रहालयों की कला-वस्तुएँ) भी सम्मिलित हैं।

* * *

प्रथम खण्ड में पृष्ठ ८ पर मैंने लिखा है कि भारत से बाहर कोई जैन पुरावशेष होने का प्रमाण नहीं मिलता। मानो इस मान्यता में परिवर्तन लाने के लिए ही हमें अग्रलिखित कला-कृतियों की सूचना दी गयी है। श्री मुनीशचंद्र जोशी इसी खण्ड के पृष्ठ २५६ पर उत्तर-पूर्व बल्गारिया से प्राप्त एक कांस्य-निर्मित तीर्थंकर-मूर्ति प्रकाशित कर रहे हैं, जिसे प्राचीन काल में कोई जैन भक्त वहाँ पूजा के लिए ले गया होगा। उतनी ही, या कदाचित् उससे भी अधिक, महत्त्वपूर्ण अफगानिस्तान से प्राप्त तीर्थंकर की कायोत्सर्ग-मुद्रा में संगमरमर से निर्मित वह मूर्ति (खण्डित मस्तक) है जिसकी सूचना सेमिनार फॉर ओरिएण्टल आर्ट-हिस्ट्री, यूनिवर्सिटी ऑफ बॉन के मेरे मित्र डॉ० क्लॉज़ फ़िशर ने देने की कृपा की। उन्होंने इस मूर्ति का चित्र भी भेजा, जिसका रेखांकन (रेखाचित्र १०) और उसपर

एक टिप्पणी यहाँ प्रस्तुत है।[1] शैली की दृष्टि से यह मूर्ति आरंभिक मध्यकाल की है पर उसके निर्माण का स्थल अज्ञात है; संगमरमर की होने से वह पश्चिम भारत से संबद्ध हो सकती है पर संगमरमर का प्रयोग अफ़गान-स्मारकों में भी हुआ है।

प्रथम खण्ड में पृष्ठ ११ पर पाद-टिप्पणी ४ में मैंने लिखा था कि महाराष्ट्र में उस्मानाबाद के निकट स्थित धाराशिव (धरसिन्व) गुफाएँ-मूलत: बौद्ध धर्म से संबद्ध रही हो सकती हैं जिनका



रेखाचित्र 10. करेज़ एमीर (अफ़गानिस्तान) : तीर्थंकर

उपयोग जैनों ने बाद में किया। इसपर कुछ मतभेद सामने आया है जिससे इस विषय पर पुनर्विचार की आवश्यकता पड़ी है। स्व० धवलीकर और मिराशी ने इस प्रश्न पर विचार किया है। प्रथम विद्वान् तो इन गुफाओं के मूलत: बौद्ध होने की ही पुष्टि करते हैं,[2] किन्तु दूसरे विद्वान् इसे

अपनी टिप्पणी में डॉ० फ़िशर लिखते हैं कि यह चित्र काबुल के करेज़-एमीर में लिया गया था जहाँ अफ़गानिस्तान के राजा ने नये भवनों का निर्माण कराया था और उन्हे राजघराने के संग्रहों से लायी गयी मूर्तियों से अलकृत किया था। प्रो० डेनियल श्लूम्बर्गर से प्राप्त सूचना के आधार पर डॉ० फ़िशर लिखते है कि यह मूर्ति ग़ज़नी में अप्रैल 1955 में एक पुरावस्तुओं की दुकान मे लायी गयी थी। डॉ० फ़िशर ने दो और जैन कला-कृतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जो भारत-पाक सीमा के उस पार से प्राप्त हुई। एक है संगमरमर की तीर्थंकर-मूर्ति जो अफ़गानिस्तान के बमियान नामक प्रसिद्ध बौद्ध स्थान से लायी गयी (क्लॉज़ फ़िशर, **वॉयस ऑफ अहिंसा** 1956, अंक 3-4), और दूसरी है पूर्वी तुर्किस्तान के तुर्फ़ान ओसिस की गुफाओं में एक जैन मुनि का चित्रांकन (ए, वॉन ले कॉक, **दि बुद्धिस्टिश स्पातन्तिक**, 3 चित्र 4; ई. **वाल्डश्मिद्त, गन्धार-कुत्श-तुर्फ़ान**, लीपज़िग, 1925, चित्र 43 बी).

धवलीकर (एम के). **जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बाम्बे**, 39-40. 1964-65, पृ 183-90, और **जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री**, 46. 1968. पृ 405-12.

विवादग्रस्त मानते हैं ।[1] इस संबंध में हमारी मान्यता उन आख्यानों से नहीं जुड़नी चाहिए जो इन गुफाओं के संबंध में कुछ जैन ग्रंथों में विद्यमान हैं और जिनको इन दोनों विद्वानों ने अत्यधिक विश्वसनीय माना है। यहाँ तो विचार का मुख्य आधार गुफा-२ के गर्भालय में विराजमान शैलोत्कीर्ण मूर्ति के मूर्तिशास्त्रीय लक्षण होने चाहिए, जिनकी सूक्ष्म परीक्षा इन दोनों विद्वानों ने पूर्णतया नहीं की है। यह मूर्ति ध्यान-मुद्रा में स्थित एक ऐसे व्यक्तित्व की है जो सर्प की सप्त (?)-फणावली की छाया में आसीन है, नीचे पादपीठ पर दोनों ओर एक-एक मृग का अंकन है जिनके मध्य एक खण्डित अंकन है जो निश्चित ही चक्र है। यदि यह मूर्ति बुद्ध की मानी जाये तो सर्प-फणावली का संबंध बुद्ध के जीवन के नाग-मुचलिंद नामक उपाख्यान से जोड़ना होगा, परन्तु तब उससे मृग-और-चक्र प्रतीकों की संगति नहीं बनेगी, क्योंकि यह प्रतीक (मृग-दाव) सर्वत्र या अधिकतर, केवल बुद्ध की उस मूर्ति के साथ मिलता है जो धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में होती है। इसके विपरीत, इस मृग-और-चक्र प्रतीक की संगति तीर्थंकर-मूर्तियों के साथ पूर्णतया बनती है जिनके पादपीठों पर उसका अंकन सर्वत्र मिलता है।[2] इसके प्राचीन ज्ञात उदाहरण, लगभग ६०० ई० के हैं,—अकोटा की एक कांस्य-मूर्ति और ईडर की एक पाषाण-मूर्ति।[3] इस तथ्य पर बल नहीं दिया जाना चाहिए कि धाराशिव-गुफा और अजंता की वाकाटक-गुफाओं की विन्यास-रेखाएँ मिलती-जुलती हैं, क्योंकि संकेत बार-बार मिलता है कि भारतीय स्थापत्य में रूपाकार, परंपरा-भेद होने पर भी प्राय: भिन्न-भिन्न नहीं होते। अतएव, इन गुफाओं के मूलत: बौद्ध होने के संबंध में जो मैं पहले कह चुका हूँ उसमें संशोधन करता हूँ।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में मेरे जिन मित्रों ने अपनी सहायता दी है उनका उल्लेख प्रथम खण्ड में पृष्ठ १२-१४ पर दिया जा चुका है। उन्हें मैं कृतज्ञतापूर्वक पुन: धन्यवाद देता हूँ और उनसे निरन्तर सहयोग की अपेक्षा रखता हूँ।

५ अप्रैल, १९७५

अमलानंद घोष

1 (मिराशी) वासुदेव विष्णु. **जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री**. 51. 1973. पृ 315-27.

2 द्रष्टव्य प्रथम भाग में पृ 5.

3 यह सूचना निजी पत्राचार में डॉ० उमाकांत प्रेमानंद शाह ने कृपापूर्वक प्रदान की। वे और लिखते हैं : 'छठवीं शताब्दी से पूर्व की अधिकतर मूर्तियों में, यदि चक्र के दोनों ओर एक-एक मृग दिखाया गया हो तो वह मूर्ति शांतिनाथ की माननी होगी जिनका चिह्न मृग है।'

रंगीन चित्र

रेखा-चित्र

सम्पादक का अभिमत

अध्याय 19

अध्याय 20

रेखा-चित्र

अध्याय 21

19 हमूवाजा (प्रोम, वर्मा) : लेमेत्थना की रूपरेखा और विभाग (पुरातत्त्व विभाग, वर्मा)

20 पगान (वर्मा) : आनंद-मंदिर की रूपरेखा (पुरातत्त्व विभाग, वर्मा)

21 पहाड़पुर, (बांग्ला देश) : मंदिर की रूपरेखा (भा पु स)

अध्याय 22

22 खजुराहो : शांतिनाथ-मंदिर की रूपरेखा (भा पु स)

अध्याय 28

23 रणकपुर : युगादीश्वर-मंदिर की (रूप-रेखा) कज़िन्स के अनुसार (भा पु स)

अध्याय 30

24 सित्तन्नवासल : चित्रित नर्तकी (कलम्बूर शिवराममूर्ति)

25 सित्तन्नवासल : चित्रित राजदंपति (कलम्बूर शिवराममूर्ति)

चित्र-सूची

छायाचित्रों या रेखाचित्रों के शीर्षकों के आगे कोष्ठकों में कॉपीराइट के धारक का नाम दिया गया है। संग्रहालयों में कुछ छायाचित्र अन्य धारको द्वारा भेजे हुए हैं। ऐसी सभी स्थितियों में कॉपीराइट का अधिकार संबंधित संग्रहालय तथा उस धारक का है। छायाचित्र के लिए केवल चित्र शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस सूची में निम्नलिखित शब्द संक्षिप्त रूप में प्रयुक्त किया गया है :

भा पु स=भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली

छायाचित्र

सम्मुख-चित्र

अध्याय 19

चित्र-सूची

चित्र-सूची

अध्याय 21

अध्याय 22

अध्याय 24

चित्र-सूची

अध्याय 28

अध्याय 29

चित्र-सूची

अध्याय 30

रंगीन चित्र

अध्याय 30

विषय-सूची

विषय-सूची

भाग 4

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला
600 से 1000 ई०

अध्याय 19

दक्षिण भारत

जैन धर्म की लोकप्रियता

सातवीं से दसवीं शताब्दियों का समयांतराल दक्षिण और दक्षिणापथ में छोटे-बड़े जैन सस्थानों के सक्रिय निर्माण का साक्षी है। इसी अवधि में शैव और वैष्णव सस्थानों और उनके मंदिरों का भी विकास हुआ। तमिलनाडु में शैव और वैष्णव—नायनमार और आलवार—संतों के सांप्रदायिक विरोध के होते हुए भी जैन संस्थानों के सक्रिय निर्माण की प्रक्रिया विकासोन्मुख ही रही। ध्वंसावशेषों, विद्यमान पुरावशेषों और सैकड़ों तमिल, तेलुगु तथा कन्नड़ अभिलेखों में जैन मंदिरों और संस्थानों को दिये गये दानों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि जैन मतावलंबी सर्वत्र विद्यमान थे और लगभग प्रत्येक ग्राम में उनकी प्रचुर जनसंख्या थी। १००० ई० के पश्चात्, विशेषकर रामानुजाचार्य द्वारा होयसल-नरेश विष्णुवर्धन के जैन धर्म से वैष्णव धर्म में मत-परिवर्तन करने से और लिंगायत शैव मत के उद्भव और विकास से कन्नड़ और निकटवर्ती तेलुगु क्षेत्रों में जैन धर्म की अवनति हुई।

तमिलनाडु के शैलोत्कीर्ण मंदिर

तमिलनाडु के शैलोत्कीर्ण जैन गुफा-मंदिर सातवी शताब्दी से मिलते हैं। सामान्यतः ये उन पर्वतश्रेणियों में विद्यमान है जो पहले जैन संन्यासियों के द्वारा ईसा-पूर्व लगभग दूसरी शताब्दी[1] से अधिवासित थीं और जिनमें से कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करती हैं जिनसे इनका शैव और वैष्णव केंद्रों में परिवर्तित होना प्रमाणित होता है।

सुविधाजनक गुफाओं, ईंट और गारे से निर्मित मंदिर और गर्भगृहों से युक्त इन पर्वतीय अधिष्ठानों में से अनेक चैत्यवासों और श्राविकाश्रमों के महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गये थे। ऐसे ही स्थलों पर पल्लवों और पाण्ड्यों ने बहुसंख्या में शैलोत्कीर्ण मंदिरों का निर्माण कराया जिनमें से अनेक मूलतः जैन थे किन्तु बाद में ब्राह्मण्य केंद्रों में परिवर्तित कर दिये गये।

इन क्षेत्रों में प्रस्तर (ग्रेनाइट, नाइस, चारनोकाइट) शिल्प-सुलभ न होने के कारण उत्खनन-प्रक्रिया की भिन्नता तथा श्रम और समय की दृष्टि से ये लयन या गुफा-मंदिर सरल रचना-शैली और

1 [द्रष्टव्य : अध्याय 9—संपादक.]

सामान्य मण्डप-प्रकार के हैं । इनमें आयताकार मण्डप के साथ अग्रभाग में स्तंभ और छोटे-बड़े सपाट भित्ति-स्तंभ हैं जिनका अलंकरण उथले उरेखन के रूप में है । पिछली और पार्श्वभित्तियों में देवकोष्ठ उत्कीर्ण हैं । मण्डप को बहुधा अगले और पिछले भागों में स्तंभों की अंतःपंक्ति अथवा उनके अभाव में फर्श और छत के स्तर के द्वारा विभक्त किया गया है । पृष्ठ-भित्ति के देवकोष्ठ की संख्या एक से अधिक और कहीं-कहीं एक पंक्ति में तीन, पाँच, अथवा सात तक होती है । देवकोष्ठ का मुखभाग मण्डप की ओर प्रक्षिप्त होता है और उसका आकार-प्रकार प्रायः दक्षिणी विमान-शैली के अनुरूप होता है ।

सर्वाधिक प्राचीन जैन गुफा-मंदिर तिरुनेलवेली जिले में मलैयडिक्कुरिच्चि स्थान पर है जिसे बाद में शिव मंदिर में परिणत कर दिया गया । यह गुफा-मंदिर सामान्य मण्डप-शैली का है जिसके अग्रभाग में दो स्तंभ और दो भित्ति-स्तंभ हैं जिनपर कला-पिण्ड तथा मानव, पशु, पक्षियों आदि के कला-प्रतीकों जैसे सामान्य अलंकरण हैं । मानव-आकृतियाँ स्पष्टतः जैन शैली की हैं । इनके अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ जैन आकृतियाँ होने का आभास देती हैं, जो गुफा के शैव मत के अनुरूप परिवर्तन के साथ पूर्णतया अथवा अंशतः परिवर्तित कर दी गयीं । इनमें से एक मूर्ति पर हाथी पर आरूढ़ चतु-र्भुजी देवता, संभवतः इंद्र, अथवा ब्रह्म-शास्ता, अथवा कुबेर-यक्ष का अस्पष्ट रेखांकन है ।

इस गुफा को शैव मंदिर के रूप में परिवर्तित करने का पता एक परवर्ती पाण्ड्य अभिलेख में शिव को समर्पित करने के उल्लेख से चलता है । यह रूपांतरण संभवतः शैव संत ज्ञानसंबंदर के प्रभाव से कून पाण्ड्य (अरि-केशरी-मारवर्मन, ६७०-७०० ई०) द्वारा जैन मत से शैव मत में परिवर्तन का परिणाम था । इस घटना का प्रभाव जैन निर्माण-कार्यों के अचानक रुक जाने के रूप में पड़ा; अन्यथा तिरुनेलवेली जिले के पेच्चिप्पारै के जैन गुफा-मंदिर का सौंदर्य अत्यत निखरा हुआ होता जिसका उत्खनन भी सातवी शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ था ।

मदुरै के उपनगर तिरुप्परनकुण्रम का विशाल गुफा-मंदिर संभवतः रूपांतरण का दूसरा उदाहरण है जिसके मूल जैन मंदिर को लगभग ७७३ ई० में शैव रूप दिया गया । तिरुप्परन-कुण्रम की उसी पहाड़ी की एक अन्य शैलोत्कीर्ण गुफा को भी इसी प्रकार परिवर्तित किया गया । यह स्थान अब सुब्रह्मण्य की पूजा का केंद्र है ।

आनैमलै भी जैन केंद्र से ब्राह्मण्य केंद्र में रूपांतरण का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है । यहाँ का नरसिंह को समर्पित शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर एक सुचिंतित वैष्णव उत्खनन का उदाहरण है, जिसे पाण्ड्यों के राज्यकाल में लगभग ७७० ई० में उत्कीर्ण किया गया । जैन केंद्रों के शैव या वैष्णव केंद्रों में परिवर्तन के अनेक उदाहरण हैं, जो पिल्लैयरपट्टि और कुन्नक्कुण्डि (रामनाथ-पुरम जिला), अरिट्टापट्टि (मदुरै जिला) नर्त्तमलै और कुदुमियमलै (तिरुच्चिरापल्लि जिला), तिरुच्चिरापल्लि, वीरशिखामणि और कलुगुमलै (तिरुनेलवेली जिला), दलवनूर (दक्षिण अर्काट जिला) सीयमंगलम और मामंदूर (उत्तर अर्काट जिला) में देखे जा सकते हैं । केवल पुदुक्कोट्टै

के निकट शित्तन्नवासल (तिरुच्चिरापल्लि जिला) में ही इस प्रकार के परिवर्तनों से सुरक्षित जैन पुरावशेष विद्यमान हैं । यह एक प्रसिद्ध जैन केंद्र के रूप में ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी[1] से नौवीं शताब्दी ईसवी तक निरंतर जैनों के प्रभुत्व में रहा है ।

शित्तन्नवासल के शैलोत्कीर्ण जैन गुफा-मंदिर को उसके शिलालेख में अण्णलवायिल का अरिवर-कोविल (अन्नवाशल स्थित अर्हत् का मंदिर) कहा गया है, जो अपने अस्तित्व में सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आया होगा, जैसा कि शैलोत्कीर्ण मण्डप की उत्तरी ओर के लघु अभिलेख की पुरालिपि से ज्ञात होता है ।[2] यह विशिष्ट मण्डप-शैली का गुफा-मंदिर है जिसमें आयताकार शैलोत्कीर्ण मण्डप और उसके अग्रभाग में दो स्तंभ और दो भित्ति-स्तंभ (रेखाचित्र ११, चित्र १२७ क) हैं। उसके भीतर चौकोर गर्भगृह है, जिसके फर्श का स्तर ऊँचा है । वहाँ तक पहुँचने के लिए तीन सीढ़ियों का मार्ग तथा सामान्य-सा द्वार है । गर्भगृह का मुखभाग यथारीति किंचित् मण्डप की ओर प्रक्षिप्त है । मण्डप की दो अंतःभित्तियों में देवकोष्ठ उत्कीर्ण हैं । दक्षिणी देवकोष्ठ में पार्श्वनाथ की प्रतिमा, त्रिछत्र और नागफण के साथ, पद्मासन-मुद्रा में अंकित है । निकटवर्ती स्तंभ पर तमिल नामाभिलेख में उलोकादित्तन् (लोकादित्य) के रूप में इस पार्श्वनाथ-प्रतिमा का उल्लेख है । उत्तरी देवकोष्ठ में ध्यान-मुद्रा में छत्रयुक्त मूर्ति अंकित है तथा निकटवर्ती स्तंभ पर तमिल नामाभिलेख में तिरुवाशिरियन (श्री आचार्य) लिखा है । इसे आचार्य की मूर्ति समझा जाता है । दोनों ही शिलालेख नौवीं शताब्दी की लिपि में हैं । मण्डप और गर्भगृह की भित्तियाँ और छत चिकनी हैं, गर्भगृह की छत पर छत्र की उभरी किनारियों का अलंकरण है । पृष्ठभित्ति पर एक पंक्ति में ध्यानस्थ मुद्रा में तीन मूर्तियाँ उरेखित हैं । इनमें से दो के सिर के ऊपर त्रिछत्र हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं । तीसरी मूर्ति के ऊपर केवल एक छत्र है, जिससे मूर्ति की पहचान आचार्य अथवा चक्रवर्ती के रूप में की गयी है । मण्डप के अग्रभाग[3] के दक्षिणी शिलाखण्ड के मुख पर तमिल भाषा का एक अभिलेख है, जो पाण्ड्य नरेश अवनिप-शेखर श्रीवल्लभ (श्रीमार श्रीवल्लभ, ८१५-८६२ ई०) के समय का है । इसके अनुसार जैनाचार्य इलन गौतमन ने, जिन्हें मदुरै आशिरियन भी कहा जाता था, अर्ध-मण्डप के जीर्णोद्धार तथा पुनर्निमाण की व्यवस्था की और चित्रों तथा मूर्तियों से पुनः अलंकृत कराया और सामने के भाग में मुख-मण्डप का निर्माण कराया, जिसका मूलरूप में निर्मित अधिष्ठान आज भी विद्यमान है ।[4] इस अभिलेख में मान-स्तंभ के निर्माण का उल्लेख है जिसका पद्म-

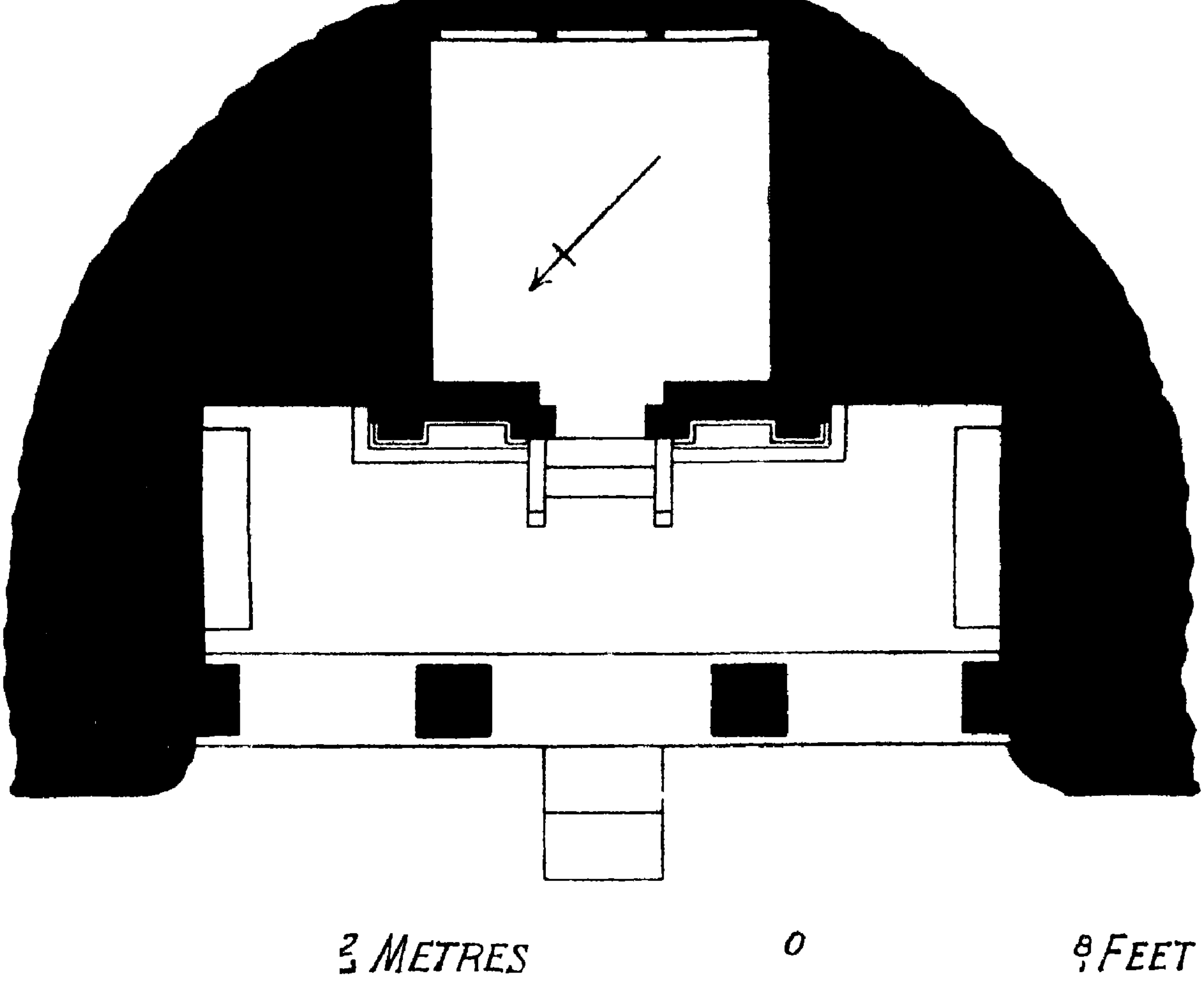
1 ई० पू० दूसरी शती से तीसरी शती ई० तक के सभी प्राचीन जैन केंद्रों के लिए अध्याय 9 द्रष्टव्य.

2 **एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपीग्राफी**, 1960-61; स० 324.

3 **एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपीग्राफी**, 1904; 368.

4 प्रस्तर-मण्डप की वर्तमान रचना, जिसमें चार प्रस्तर-स्तंभ और शिलापट्टों से आच्छादित वितान है, मूल मण्डप के अवशेषों पर इस अध्याय के लेखक द्वारा सुरक्षा की दृष्टि से उस समय करायी गयी थी, जब वह पुदुक्कोट्टै मे 1946 से पहले राज्य का पुरातत्त्वाधिकारी था । इसमें प्रयुक्त स्तंभ कुडुमियमलै शिव (शिखानाथ स्वामी) मंदिर के शत-स्तंभीय भग्न मण्डप से लिये गये हैं । इसका अधिष्ठान मूल रूप में ही विद्यमान है ।

पुष्पांकित चौकोर शीर्षफलक मंदिर के सामने सफाई कराते समय उपलब्ध हुआ था। यह गुफा-मंदिर पाण्ड्य साम्राज्य के उत्तरी भाग में अवस्थित था, जिसे पल्लव-शक्ति ८६२ ई० के पूर्व कभी भी आक्रांत नहीं कर सकी। अतएव यह कभी भी पल्लव निर्मित गुफा-मंदिर नहीं था, जैसा कि कुछ लेखकों का विचार है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका उत्खनन मूलतः सातवीं शताब्दी के अंत में अथवा आठवीं शताब्दी के



रेखाचित्र 11. शित्तन्नवासल : गुफा-मंदिर की रूपरेखा

प्रथम चरण में, पाण्ड्य मारन शेन्दन (६५४-६७० ई०) और अरिकेशरी मारवर्मन (६७०-७०० ई०) के राज्यकाल में तथा मारवर्मन के जैन मत से शैव मत में धर्म-परिवर्तन के पहले हुआ है, जैसी कि मलैयडि-क्कुरुच्चि और पेन्चिप्पारै के गुफा-मंदिरों की स्थिति है। अग्रभाग के स्तंभों के नीचे पूर्वोक्त दो अभिलेखों के ऊपरी भाग के पलस्तर पर भव्य चित्रांकन, जो मदुरै आशिरियन की पुनर्निर्माण और पुनःसज्जा की घोषणा के अनुसार चित्रित हैं, केवल नौवीं शताब्दी के मध्यकाल के होने चाहिए।[1]

---

1 विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य : श्रीनिवासन (के आर). ए नोट ऑन द डेट ऑफ द शित्तनवासल पेंटिंग्स.

तमिलनाडु के निर्मित मंदिर

प्रस्तर-निर्मित जैन मंदिरों का क्रम तमिलनाडु में पल्लव-शैली के मंदिरों से प्रारंभ होता है। उदाहरणार्थ, कांचीपुरम के उपनगर तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् अथवा जिन-कांची के जैन-मंदिर-समूह में चंद्रप्रभ-मंदिर (चित्र १२७ ख) है, जो आज भी जैन धर्म का लोकप्रिय केंद्र है। विशाल प्राकार के भीतर चार बड़े मंदिरों तथा तीन लघु मंदिरों के समूह में (चित्र १२८ क) यह मंदिर नितांत उत्तर-वर्ती संरचना है। यह तीन तल का चौकोर विमान-मंदिर है, जिसके सामने मुख-मण्डप है। तीनों तलों में सबसे नीचे का तल ठोस है और जो मध्य तल के लिए चौकी का काम देता है जिसपर मुख्य मंदिर है। यह तत्कालीन जैन मंदिरों का प्रचलित रूप है। इस मंदिर का भूमि-तल स्थानीय भूरे रंग के बलुए पत्थर का बना है, वैसे ही, जैसे पल्लव नरेश राजसिंह द्वारा निर्मित अन्य मंदिर हैं। राजसिंह की राजधानी कांची में अधिष्ठान की गोटों के लिए ग्रेनाइट पत्थर उपयोग में लाया गया है। राजसिंह तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा निर्मित मंदिरों का यह विशेष लक्षण है।

मंदिर की बाहरी भित्ति पर व्यालाधारित स्तंभ और भित्ति-स्तंभों का अंकन है और उनके मध्य उथले देवकोष्ठ उत्कीर्ण हैं। देवकोष्ठों के ऊपर मकर-तोरण बने हैं। सभी देवकोष्ठ रिक्त हैं। प्रथम तल पर हार, कोनों पर चौकोर कर्णकूट और उनके बीच में आयताकार भद्रशालाएँ निर्मित हैं।

मध्य तल नीचे की अपेक्षा कम चौकोर है और उसके चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। इसकी बाहरी भित्ति पर बलुए पत्थर के भित्ति-स्तभ हैं। भित्तियाँ ईंटों की हैं और उन्हें बलुए पत्थर के भित्ति-स्तंभों से जोड़ा गया है। शीर्षभाग में लघु देवकोष्ठ पंक्तिबद्ध अंकित हैं। इन लघु देवकोष्ठों की प्रमुख विशेषता उनके अग्रभाग में अंकित तीर्थंकरों और अन्य देवताओं की प्रतिमाएँ हैं। लघु देवकोष्ठों के हार के पीछे तीसरे तल का उठान कम है, जिसमें चतुर्भुज सपाट भित्ति-स्तंभ है और चबूतरे पर चार उकड़ूँ बैठे हुए सिंह हैं। इस तल के ऊपर चौकोर ग्रीवा है, जिसके ऊपर चौकोर शिखर और उसके ऊपर चौकोर स्तूपी है। शिखर के चारों ओर तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं।

मध्य तल का गर्भगृह चंद्रप्रभ को समर्पित है। इस गर्भगृह में प्रवेश नीचे के ठोस तल में बनायी गयी दो सीढ़ियों के द्वारा किया जाता है। समग्र दृष्टि से यह मंदिर आठवीं शताब्दी की निर्मिति माना जा सकता है; यद्यपि इसका ऊपरी भाग विजयनगर-शासनकाल में ईंटों द्वारा पुनर्निर्मित किया गया प्रतीत होता है।

विजयमंगलम का उपग्राम मेट्टुप्पुत्तूर कोयम्बत्तूर जिले के कोंगुमण्डलम का एक प्राचीन जैन केंद्र है। यहाँ का चंद्रनाथ-मंदिर गंग-शैली की रचना है, जिसमें ईंट निर्मित दक्षिणमुखी विमान लगभग

प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस. 1944. पृ 168. (अध्याय 30 भी द्रष्टव्य, जहाँ पल्लव तथा परवर्ती नरेशों द्वारा गुफा-मंदिर के निर्माण का उल्लेख है और जिसमें पूर्ववर्ती तथा परवर्ती चित्रांकनों का सचित्र वर्णन है—संपा.)

समकालीन या कुछ परवर्ती प्रस्तरनिर्मित अर्ध और महा-मण्डप हैं। नींव से शीर्षस्थ कंगूरों तक ईंटों का विमान गंग-शैली की द्वितली वर्गाकार संरचना है, जिसमें अष्टभुजी ग्रीवा और शिखर हैं। चूने और गारे द्वारा की गयी परवर्ती मरम्मत से उत्पन्न कुछ परिवर्तन इस संरचना में दृष्टिगोचर होते हैं। महानासिका में चूने से निर्मित तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं। गर्भगृह के अंतर्भाग में चंद्रप्रभ की प्रतिमा है और शेष भाग अष्टभुजी ग्रीवा और शिखर से लगी हुई दुछत्ती है। वर्गाकार संरचना की भित्तियों के चौकों पर धुंधले पड़ चुके चित्रांकन हैं, जिनमें यत्र-तत्र, विशेष कर दो निचले चौकों में, कमलपुष्पों और नृत्यरत युवतियों की रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। अगले चौक में जैन पौराणिक चित्र हैं और सबसे ऊपर के चौक में यवनिका-शैली की कुण्डलित बंदनवार है, जिसकी कुण्डली के भीतर रेखाचित्रों का अंकन है। इससे ऊपर के स्तर भी चित्रित दिखाई पड़ते हैं। प्रस्तर निर्मित अर्ध-मण्डप चौड़ाई में प्रथम तल के विमान के समान ही है, जबकि सामने का महा-मण्डप कुछ लंबा है। महा-मण्डप की पार्श्वभित्तियों के मध्य में देवकोष्ठ, कपोत और शाला-शिखर हैं। उसी भित्ति के अंतिम छोरों पर प्रस्तर और शिखरयुक्त भित्ति-स्तंभों के ऊपर तोरण-प्रतीक हैं। तोरण के भीतर जैन पौराणिक दृश्यों का चित्रण है। इस मंदिर-समूह के बाहर की अतिरिक्त संरचनाएँ जिनमें विशाल मुख-मण्डप और अग्र-मण्डप, प्राकार और गोपुर सम्मिलित हैं, विजयनगर-शासनकाल की रचनाएँ है। महा-मण्डप के भीतर पूर्व से पश्चिम की भित्तियो के पार्श्वों में चार संश्लिष्ट स्तंभ हैं, जो उन भित्तियों को नीची छत की पार्श्ववीथियों के साथ तीन भागों में बाँटते है। केंद्रीय भाग की मुण्डेर से मध्य वीथी बन गयी है। मध्य वीथी की छत के मध्यभाग पर एक विशाल शिलापट्ट है, जिसपर कमलपुष्प लटक रहा है। मुण्डेर के दोनों ओर के सरदल पर कड़ियों के सिरों के निकट व्याल, नर्तक, बैल, अश्व आदि का अंकन पूर्वी और पश्चिमी पक्तियों में हैं तथा उत्तरी और दक्षिणी पंक्तियों में नृत्य-फलकों के अतिरिक्त चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ और एक मात्र महिला, संभवतः गंग के मंत्री चामुण्डराय की बहन पुल्लप्पा, है जिसका अभिलेखांकित निशिदिका-स्तंभ मुख-मण्डप के स्तंभों में सम्मिलित है। इस निशिदिका-स्तंभ के दक्षिणी भाग पर अश्वनाल के समान देवकोष्ठ का अंकन है जिसके भीतर पद्मासनस्थ तीर्थंकर-मूर्ति है और उसके नीचे के देवकोष्ठ में एक महिला की प्रतिमा उत्कीर्ण है। स्तंभ के अन्य तीन ओर ग्रंथ और तमिल अभिलेख में इस स्तंभ का चामुण्डराय की बहिन पुल्लप्पा की निशिदिका के रूप में उल्लेख किया गया है। अर्द्ध-मण्डप का भीतरी भाग प्रतिमा-रहित और साधारण है किन्तु उसके फर्श पर एक पीठ है, जिसके एक ओर प्रक्षिप्त जाली तथा सामने की ओर सिंह है, जिसपर चंद्रनाथ की लघु अभिषेक-मूर्ति रखी है। तमिल व्याकरणाचार्य तथा नन्नूल के लेखक प्रसिद्ध जैनाचार्य पवणंदि इस स्थान के निवासी थे।

चोल और पाण्ड्य क्षेत्रों के तोण्डैमण्डलम के दक्षिण में निर्मित-शैली के अनेकों जैन मंदिर, मुत्तरैयार और पाण्ड्यों के द्वारा प्रस्तर के बनवाये हुए हैं। इस तथ्य की पुष्टि पुरालेखीय साक्ष्यों, प्रतिमाओं और भग्न मंदिरों के टीलों के अवशेषों से, जिन्हें महत्त्वपूर्ण स्थानीय नामों से पुकारा जाता है, होती है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं चेट्टीपट्टी (पुदुक्कोट्टै-तिरुच्चिरापल्लि) (चित्र १२८ ख) के संपूर्ण-प्रस्तर-मंदिर के उत्खनन से प्राप्त अवशेष, जिनसे मंदिर-समूह के अधिष्ठान, प्राकार और

पूर्व में गोपुर-प्रवेश का पता चला । इस समूह में दो पास-पास निर्मित केंद्रीय मंदिर और उनके पीछे दो लघु मंदिर थे । इस स्थल से उकड़ूँ बैठे हुए सिंहों पर आधारित दो स्तंभ, दो सिंह-शीर्षों पर दण्ड-रहित स्तंभ और अन्य वास्तु-अवशेष उपलब्ध हुए है । अधिष्ठान पर चोल-नरेश राजराज-प्रथम (९८५-१०१४ ई०) के खण्डित अभिलेख से मंदिर का निर्माण-काल इस समय से पूर्व मुत्तरैयार शासन-काल में नौवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित होता है । एक अन्य शिला-लेख में दसवीं शताब्दी के आचार्य मतिसागर का उल्लेख है । अन्य संदर्भों के अनुसार आचार्य मति-सागर दयापाल और वादिराज के धर्मगुरु थे । और अधिक महत्त्वपूर्ण हैं एक दर्जन से अधिक तीर्थंकरों की भव्य प्रतिमाएं जिनमें महावीर और पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ सम्मिलित हैं, अन्य प्रतिमाएं अनुगामी देवों की हैं । मंदिर की मूलनायक तीर्थंकर-प्रतिमा, जिसे उत्खनन-स्थल से हटाकर अब ग्राम के निकट स्थापित कर दिया गया है, सिद्धासन-मुद्रा में त्रिछत्र के नीचे अवस्थित अत्यत भव्य है । मूर्ति के शिलापट्ट पर एक अभिलेख है जिसमें लिखा है कि तिरुवेण्णायिल के ऐंयुर्रुव पेरुमपल्लै (जिसका पुराना नाम चेट्टीपट्टी है) के पाँच सौ व्यापारियों के मण्डल ने मंदिर के गोपुर का निर्माण जयवीर पेरिल-मैयान के द्वारा करवाया था । दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की लिपि में इस शिलालेख की तिथि इस मंदिर-समूह को किंचित् पूर्ववर्ती काल का ठहराती है ।

सेम्बत्तूर (चित्र १२६ क), मंगदेवनपट्टि, वेल्लनूर और कण्णंगरक्कुडि, सभी पूर्वोक्त जिले में और कोविलंगुलम और पल्लिमदम, रामनाथपुरम जिले में जैन निर्मित मंदिरों के पुरावशेष मिलते हैं । जिन स्थानों का उल्लेख पहले किया गया है उनमें तीर्थंकरों और अन्य जैन प्रतिमाओं के अति-रिक्त सिंहाधार-स्तंभ भी मिलते हैं जो मुत्तरैयार शासकों द्वारा राजसिंह और उसके परवर्ती पल्लव-राजाओं के समय की अनुकृतियाँ हैं ।

दक्षिण कर्नाटक के निर्मित मंदिर

दक्षिण के संपूर्ण-प्रस्तर-निर्मित प्राचीन मंदिरों में सर्वाधिक प्राचीन विद्यमान जैन मंदिरों के रूप में तीन साधारण विमान-मंदिरों का समूह है जिसे चंद्रगुप्त-बस्ती (चित्र १२६ ख) कहा जाता है । यह मंदिर-समूह श्रवणबेलगोला (हासन) की चंद्रगिरि पहाड़ी अथवा चिक्कबेट्टा पर है । प्रत्येक विमान नीचे से दो मीटर लंबा-चौड़ा है तथा एक संयुक्त आयताकार अधिष्ठान के छोरों पर स्थित है । इन दोनों विमानों के मध्य में तीसरा मंदिर समतल वितान का है । दोनों विमानों की बाह्य पार्श्व-भित्तियों और चबूतरे को आगे बढ़ाकर प्रत्येक के सामने एक अर्ध-मण्डप की रचना की गयी है जिससे संपूर्ण परिसर एक विशाल चौक-जैसा दिखाई देता है । यह विमान-समूह अब बहुत काल पश्चात् निर्मित विशाल कट्टले-बस्ती के मण्डप का उत्तरी पार्श्व अंग बन गया है । चंद्रगुप्त-बस्ती के अर्ध-मण्डप का अग्रभाग बारहवीं शताब्दी में भव्य शिल्पांकन और सेलखड़ी की सूक्ष्मांकित जाली से ढंक दिया गया । मध्य में प्रवेश-द्वार बनाया गया जो वर्णनात्मक मूर्तियों की चित्र-वल्लरियों द्वारा अलंकृत है। द्वार पर चंद्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु के संबंधों की पारंपरिक गाथाओं का बोध करानेवाली

प्रतिमाओं की दृश्य-पंक्ति और कुछ अन्य जैन प्रतिमाएँ रेखांकित हैं।[1] चंद्रगुप्त से पारंपरिक रूप से जुड़े हुए ये तीनों विमान-मंदिर या त्रिकूट श्रवणबेलगोला और उसके निकटवर्ती क्षेत्र के सर्वाधिक प्राचीन विद्यमान वास्तु-स्मारक हैं, जो लगभग ८५० ई० के कहे जा सकते हैं। दो पार्श्व विमानों में प्रतिष्ठापित मूल प्रतिमाओं का मूल रूप अब ज्ञात नहीं है किन्तु आजकल इन मंदिरों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम है और इनमें दो यक्षियों—पद्मावती और कुष्माण्डिनी—की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित हैं। मध्यवर्ती गर्भगृह में पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। यह विमान-मंदिर प्रतीत होता है, जिसका ऊपरी ढांचा लुप्त हो गया है और जो आजकल मुख्य मंदिर के रूप में प्रयुक्त होता है।

भित्ति के ऊपरी भाग में धरन के निकट हंसों की शिल्पाकृतियाँ अंकित हैं। ऊपर के वक्राकार कपोत पर तीन कंगूरों से युक्त कुड्-तोरण हैं जिनकी संख्या नीचे के भित्ति-स्तंभों के समान है। कपोत के ऊपर सरदल के ऊपरी भाग में व्याल-आकृतियाँ अंकित हैं। संपूर्ण-विमान-समूह में सरदल-अंकन का यही रूप रहा है। इस अधिरचना के ऊपर प्रत्येक विमान के अंत में चोटी पर चौकोर ग्रीवा और शिखर एक छोटी स्तूपी के साथ हुआ करते हैं, जो अब नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दो विमानों के शिखरयुक्त अंतराल के मध्य में भी इसी प्रकार के ग्रीवा-शिखर की अधिरचना थी, जो मूलतः एक पंक्ति में तीन विमानों के समूह का दक्षिणमुखी त्रिकूट बनाती थी। दूसरा तल बहुत छोटा और साधारण है और परवर्ती जीर्णोद्धार के समय बनी भारी जगती के कारण अनगढ़ लगता है। प्रथम तल की सरल संरचना के कारण इन अष्टांग अथवा अष्टवर्ग विमानों का दूसरा तल एक तल का षडंग अथवा षड्वर्ग-जैसा दिखाई देता है। यह सामान्य ऊँचाई के प्रारंभिक अष्टांग-विमान निर्मित करने की परिपाटी के अनुसार हुआ है।

श्रवणबेलगोला के बाह्य अंचल में स्थित कम्बदहल्लि की पंचकूट-बस्ती का (चित्र १३० क) दक्षिणी-विमान-वास्तुकला में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह स्थान दक्षिणी वास्तुशास्त्र, शिल्प-शास्त्र और आगम ग्रंथों में वर्णित तत्त्वों और शैलियों का सचित्र उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्राकार के भीतर यह पाँच विमानों का समूह है तथा सामने गोपुर है। पूर्ववर्ती समय में यह तीन विमानों का त्रिकूटाचल था जिनके सामने एक संयुक्त चौकोर मण्डप और उत्तर की ओर से तीनों के लिए संयुक्त प्रवेश-द्वार था। परिधीय रेखा में केंद्रीय मुख्य विमान गोपुर सहित उत्तरमुखी है और पार्श्व के दोनों विमान क्रमशः पूर्व और पश्चिमोन्मुखी हैं तथा सभी वर्गाकार और द्वितल हैं। केंद्रीय अथवा उत्तरमुखी दक्षिणी विमान की वर्गाकार अधिरचना पर वर्गाकार ग्रीवा और शिखर दक्षिण की नागर-विमान-शैली के अनुरूप हैं तथा पूर्वोन्मुखी पश्चिमी विमान की वर्गाकार संरचना पर अष्टभुजी ग्रीवा-शिखर उसे द्राविड़ रूप प्रदान करते हैं; और पूर्व में, उसके सामने के भाग में, पश्चिमोन्मुखी गोलाकार ग्रीवा-शिखर है जो वेसर-शैली की प्रस्तुति है। इस प्रकार तीनों विमान निश्चित रूप से दक्षिणी वास्तुकला की नागर, द्राविड़ और वेसर-शैली की कृतियाँ हैं जिनका वर्गीकरण ग्रीवा और शिखर

शिल्पी का नाम बल्लिग्राम (बेलगाम) का दासोजा अनेक स्थानों पर उत्कीर्ण है। यह वही व्यक्ति है जिसे बेलूर के प्रसिद्ध होयसल-मंदिर की अनेक प्रतिमाओं के निर्माण का यश प्राप्त है.

की आयोजना और रूप-प्रकार पर आधारित है। ये रूप हैं – चौकोर, अष्टभुजी अथवा बहुभुजी और वृत्तीय या वक्ररेखीय।

ये तीनों ही विमान अपने अर्ध-मण्डपों के द्वारा संयुक्त महा-मण्डप से जुड़े हुए हैं। विमान की प्रत्येक भित्ति पर आधार से शीर्ष तक छह चतुर्भुजी अर्ध-स्तंभ हैं। पल्लव, मुत्तरैयार और गंग मंदिरों की शैलीगत विशेषता के अनुसार इनके सरदलों पर हंसों की शिल्पाकृतियाँ हैं। प्रक्षिप्त एवं वक्राकार कपोत पर तीन पंक्तियों में तीन-तीन कंगूरों सहित कुडु-तोरण हैं और सबके शीर्ष पर अंतिम स्तर के रूप में व्याल-माला अंकित है। प्रत्येक ओर के केंद्रीय अर्ध-स्तंभ के शीर्ष पर तोरण से आच्छादित देवकोष्ठ में तीर्थंकर-प्रतिमा विराजमान है। तोरण विभिन्न प्रकार के हैं, यथा पत्र-तोरण, या पुष्प-पल्लवों की माला, चित्र-तोरण जिसमें पशु-पक्षी तथा धनुषाकार भुजाओं में अंकित व्याल-आरोही सम्मिलित हैं एवं विद्याधर-तोरण जिसमें उड़ते हुए विद्याधरों की शिल्पाकृतियाँ हैं। इनमें अंतिम तोरण-प्रकार दक्षिणेतर मंदिरों में बहुत कम पाया जाता है।

अर्ध-मण्डप में इसी प्रकार के देवकोष्ठ हैं। चौकोर आवृत मुख-मण्डप में भी पूर्वोक्त विमानों और उनके अर्ध-मण्डपों के समान अर्ध-स्तंभ हैं। चालुक्य-शैली के सेलखड़ी के गोल स्तंभों का खुला हुआ अग्र-मण्डप महा-मण्डप के सामने बाद में जोड़ दिया गया। महा-मण्डप के भीतर प्रचलित पल्लव-शैली के चार केंद्रीय स्तंभ हैं जिनके कलश-शीर्षयुक्त दण्ड चौकोर आधार और सुदृढ़ पद्मपीठों पर अवस्थित है। अन्य आठ स्तंभ मण्डप-शैली के हैं जो नीचे और ऊपर चौकोर शादुरम और मध्य में अष्टकोणीय कट्टू से युक्त हैं। मध्यवर्ती चार और उनके समीपवर्ती आठ स्तंभों की आयोजना नवरंग-शैली की प्रतीत होती है जिसकी मूल उत्पत्ति चालुक्य-शैली से हुई है। शैलियों का यह रचनात्मक सादृश्य और अधिक स्पष्ट होता है—केंद्रीय वीथि की छत के शिलापट्ट के छोरों पर दिक्पालों के अंकन से तथा उनके मध्य में द्विभुजी धरणेन्द्र-यक्ष की प्रतिमा से, जो कोदण्डधारी राम के समान धनुष पकड़े और मुँह से शंख बजाने को उद्यत-मुद्रा में अंकित है। यक्ष के सिर पर पंचफण नाग-छत्र है। दोनों ओर चमरधारी हैं। मध्यवर्ती मंदिर महावीर को समर्पित है जो अलंकृत सिंहासन पर आसीन हैं और उनके दोनों ओर चमरधारी हैं। बाहर प्रत्येक विमान के सरदल के ऊपर का हार वेदिकाओं पर अवस्थित है; कोनों पर चार कर्णकूट और चारों दिशाओं में चार भद्रशालाएँ हैं।

दूसरे तल की रचना अधिक सामान्य है। इसकी प्रत्येक हर्म्य-भित्ति पर चार-चार अर्ध-स्तंभ हैं। प्रत्येक ओर मध्य के दो अर्ध-स्तंभ कुछ आगे को निकले हुए हैं और उनपर तोरणों से आच्छादित देवकोष्ठ निर्मित हैं।

नीचे के तल की भाँति सरदल पर हंस-वलभी बनी हुई है। दूसरे तल के हर्म्य-प्रस्तर के ऊपरी भाग पर व्याल-माला की चित्र-वल्लरी है और कोनों पर उकड़ूँ बैठे हुए चार सिंहों को स्थापित किया गया है। केवल ग्रीवा से ऊपर ही तीनों विमानों की भिन्न निर्मिति दिखाई पड़ती है। मध्यवर्ती

विमान में नागर-शैली की वर्गाकार ग्रीवा और उसके ऊपर शिखर है। पश्चिमी विमान की रूपरेखा में द्राविड़-शैली का अष्टभुजी ग्रीवा-शिखर है। वेसर-शैली का पूर्वी विमान गोलाकार है और उसकी ग्रीवा तथा शिखर भी गोल हैं। तीनों विमानों के ऊपर की स्तूपियाँ लुप्त हो गयी हैं।

स्वस्तिकाकार रचना के इस केंद्रीय त्रिकूटाचल (चंद्रगुप्त-बस्ती की सीधी जुड़ाई के विपरीत) में एक खुला स्तंभीय अग्र-मण्डप बाद में जोड़ा गया जिसके स्तंभ परवर्ती चालुक्य-शैली में सेलखड़ी से निर्मित हैं और जो छत को कोनों पर आधार प्रदान करते हैं। अग्र-मण्डप के सामने एक अर्घ्य-पीठ है जो आधारीय उपान पर निर्मित है जिसकी रचना उत्तरोत्तर घटते हुए माप और विभिन्न आयोजना की है। नीचे का भाग चौकोर, उससे अगला अष्टभुजी, जिसकी आठों भुजाओं पर दिक्-पालों की प्रतिमाएँ हैं और सबसे ऊपर का गोल है। ये सभी वर्गाकार, अष्टभुजी और गोल संरचनाएँ नागर, द्राविड़ और वेसर-शैलियों के विमान-शिखरों के अनुरूप है।

अर्घ्य-पीठ के सामने कुछ ही दूरी पर परवर्ती काल की अतिरिक्त निर्मितियाँ संभवतः दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण की हैं। ये दोनों द्वितल वर्गाकार अष्टांग नागर विमान (दोनों ओर एक-एक) अपने-अपने अर्ध-मण्डप और महा-मण्डप सहित एक दूसरे के सामने पूर्व और पश्चिम में हैं। उनके महा-मण्डप एक दूसरे के समानांतर एक संयुक्त खुले मुख-मण्डप से जुड़े हैं। पश्चिमी विमान में प्रत्येक ओर त्रिरथ-शैली के तीन प्रक्षिप्त खण्डक हैं। विमान के इन प्रक्षिप्त खण्डकों का सादृश्य प्रस्तर के ऊपर प्रत्येक ओर के कर्णकूटों और भद्रशालाओं से हैं। मध्यवर्ती खण्डक में समान ऊँचाई के चार अर्ध-स्तभ है जिनमें से भीतर के दो के मध्य में देवकोष्ठ हैं। सभी अर्ध-स्तंभ (जो वास्तव में पूर्व निर्मित स्तंभ थे) केंद्रीय त्रिकूटाचल के समान अपने शिखर-भागों के साथ चतुर्भुजी रचनाएँ हैं। सरदल के ऊपर का हार चार कर्णकूटों और चार भद्रशालाओं से युक्त है।

दूसरा तल पूर्वोक्त रचनाओं से अधिक भिन्न नहीं है। इसमें कोनों पर चार सिंह और केंद्र में पिण्डी के ऊपर चौकोर ग्रीवा और शिखर हैं। पूर्वी विमान की रचना अधिष्ठान से सरदल तक सीधी और बिना किसी रथाकार खण्डक के है। वह ठीक केंद्रीय त्रिकूट की रचना के समान और अपने पश्चिमी विमान से असमान है। सभी अर्ध-स्तंभ चतुर्भुजी हैं। ऊपर के सरदल की वलभी हंसों की शिल्पाकृतियो से अलंकृत है। इस तल के हर्म्य की भित्तियाँ साधारण है और उनके ऊपरी कोनों पर चार सिंह अंकित हैं। वर्गाकार पिण्डी वर्गाकार ग्रीवा और शिखर के साथ है, उसी प्रकार जैसे सामने के विमान और केंद्रीय विमान में है।

इन आमने-सामने वाले मंदिरों के नवरंग-शैली के महा-मण्डपों के अपने चारों स्तंभों की रचना में विविधता है। पूर्वी संरचना के चारों मध्यवर्ती स्तंभ गोल हैं और सेलखड़ी के बने हैं, जबकि पश्चिमी संरचना के सभी स्तंभ सामान्य स्तंभों के समान निर्मित हैं। चारों स्तंभों के ऊपर के केंद्रीय खण्डकों की छत पर दोनों ही महा-मण्डपों में समान आकृति का दिक्पाल केंद्रीय आकृति के साथ अंकित है, जैसा त्रिकूट-विमानों के मुख्य महा-मण्डप की छत में है।

संपूर्ण-मंदिर-समूह के सामने लघु गोपुर में, जो लगभग केंद्रीय त्रिकूट के ही समान है, उसी प्रकार का अधिष्ठान है जैसा कि तीन प्रमुख मंदिरों में है और देवकोष्ठों पर कुछ भिन्न प्रकार के तोरण हैं। तोरण के ऊपरी सिरे के व्याल से प्रक्षिप्त दो कुण्डलित अंग हैं जो दक्षिण-पूर्व के एशिया-मंदिरों के द्वारों के काल-मकर-तोरणों के आरंभिक स्वरूप से मिलते-जुलते हैं। तोरण के भीतर नीचे पद्मासनस्थ तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं, जबकि नीचे के देवकोष्ठों में तीर्थंकर-प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग-मुद्रा में थीं, जैसाकि कुछ विद्यमान उदाहरणों से विदित होता है। वे सेलखड़ी की निर्मिति हैं। गोपुर की अधिरचना नष्ट हो चुकी है।

दो प्रतिमुखी और एक सामने का परवर्ती विमान महावीर को समर्पित है। त्रिकूट-समूह के तीनों मंदिरों में से उत्तरमुखी केंद्रीय मंदिर में आदिनाथ, पूर्वोन्मुखी में नेमिनाथ और पश्चिमोन्मुखी में शांतिनाथ (मैसूर राजपत्र के पूर्ववर्ती अभिलेख के अनुसार) प्रतिष्ठापित हैं। पद्मासनस्थ तीर्थंकरों का सिंहासन ग्रेनाइट प्रस्तर का है, जबकि तीर्थंकर और उनके अनुचर चमरधारी सेलखड़ी के हैं। इसी सामग्री से एक भव्य यक्षी-मूर्ति अग्र-मण्डप के सम्मुख बनी हुई है तथा खण्डित पार्श्वनाथ, चमरधारी और कुछ वास्तुखण्ड एवं मूर्तिखण्ड, शयनरत हाथी तथा गंग-नरेशों के विजयास्त्र आदि सभी मंदिरों से बाहर के परिसर में पड़े हुए हैं। परिसर के सामने लगभग ४०-५० मीटर पर एक बहुत सुंदर और ऊँचा अभिलेखांकित स्तंभ है जिसमें शिखर सहित स्तंभ के सभी उपांग विद्यमान है। शिखर पर यक्ष की मूर्ति है। सभी निर्मितियाँ ग्रेनाइट पत्थर की हैं और मंदिर की समकालीन हैं।

अपने समग्र रूप एवं त्रि-चरणीय रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यह मंदिर तत्कालीन वास्तु एवं मूर्तिकला की उन परिपाटियों का प्रतीक है जो पल्लव-पाण्ड्य और चालुक्य-राष्ट्रकूट-क्षेत्रों में, विशेषत: पल्लव-पाण्ड्य-क्षेत्र में, प्रचलित थीं। यह अलंकरण की प्रचलित पद्धतियों के उद्भव और विकास, आयोजना-वैभिन्य, विन्यास, परिमाण, निर्माण के प्रक्रियागत विकास की शैलियों और समकालीन स्थापत्य के विविध रूपों का चित्रण प्रस्तुत करता है। मंदिर-स्थापत्य की अनुगामी मूर्तिकला में ९०० और १००० ई० के समयांतराल में प्रचलित पल्लव-पाड्ण्य और समीपवर्ती पूर्वी क्षेत्रों की कला-परंपरा एवं ठीक उत्तरवर्ती चालुक्य-राष्ट्रकूट-स्रोतों से व्युत्पन्न रूपों और प्रभेदों के दर्शन होते हैं। इन दोनों ही परंपराओं ने प्राय: समान सिद्धांतों एवं शिल्प-ग्रंथों का अनुगमन किया है। किन्तु दोनों के निर्माण से संबंधित सामग्री के प्रयोग में भिन्नता है, यथा कठोर प्रस्तर और कोमल प्रस्तर द्वारा प्रयोगगत कठिनाइयाँ और सुविधाएँ उनकी अपनी-अपनी रही हैं। निर्माण-कार्य के लिए श्वेत ग्रेनाइट प्रस्तर का चुनाव, शुकनासा का अभाव, उत्तीरांग तत्वों सहित बहु शाखाओं से अलंकृत उपरिद्वारों का अभाव, चालुक्य और चालुक्य-वर्ग की विशेषताएँ हैं जिसमें उत्तरी प्रासाद भी सम्मिलित हैं। इन विशेषताओं के कारण इन आद्य पश्चिमी गंग-मंदिरों को तमिलनाडु के पल्लव-पाड्ण्य उद्भव का कहा जायेगा। तथापि यह उल्लेखनीय है कि प्रथम तल के सामने के संकेंद्रित मण्डपों के शीर्षभाग पर हार की रचना का प्रयोग अनवरत

रूप से व्यापक रहा। यह प्रयोग वास्तव में ८५० ई० के लगभग पल्लवोत्तर मंदिरों से लुप्त हो गया, किन्तु कर्नाटक और दक्षिणापथ के चालुक्य और राष्ट्रकूट नरेशों तथा उनके उत्तराधिकारियों के विमान-मंदिरों में निरंतर प्रचलित रहा और यह मण्डप के अंतःभाग के स्तंभ के साथ इस वर्ग के मंदिरों का विशेष लक्षण हो गया। इस प्रकार अपने पाँच विमानों के साथ यह पंचकूट-बस्ती एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक बन गयी है।

श्रवणबेलगोला में चंद्रगिरि पहाड़ी पर चंद्रगुप्त-बस्ती के उत्तर में कुछ दूरी पर चामुण्डराय-बस्ती अथवा चामुण्डराज-बसदि (चित्र १३० ख) स्थित है जो विवेच्य अवधि के जैन मंदिरों में सर्वोपरि एवं भव्यतम कृति है और कला-कौशल की दृष्टि से किसी भी अन्य की अपेक्षा अधिक सुंदर है। इसका निर्माण राचमल्ल-चतुर्थ के गंग-मंत्री चामुण्डराय ने दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में कराया था। इस मंदिर-समूह में तीन तल का पूर्वोन्मुख वर्गाकार द्राविड़ विमान (नींव पर ११.५ मी०वर्ग) है और उसके नीचे के तलों में गर्भगृह हैं, जिनमें तीर्थंकर प्रतिष्ठापित हैं। एक छोटा अंतराल है जिसे प्रथम तल के बाहर से देखा जा सकता है, और विमान के ही समान चौड़ाई का लगभग वर्गाकार विशाल महा-मण्डप है।

विमान में पाँच खण्डकों और उनके बीच में चार अंतराल हैं जो मुख्य भवन को पंचरथ आकार प्रदान करते हैं। प्रथम तल की संरचना में लघु मंदिरों की शृंखला, कोनों पर कर्णकूट, मध्य में आयताकार कोष्ठ या शालाएँ और उनके मध्य में अर्धवृत्ताकार पंजर या नीड़ निर्मित है।

विमान-भित्ति की प्रत्येक ओर के केंद्रीय भद्रों पर तथा मण्डप के दोनों ओर मध्य में सादे और आयताकार देवकोष्ठ हैं जो खड्गासन प्रतिमाओं के लिए बनाये गये है। ऊपर के उत्तीर पर हंस अंकित है। हंसों की इस चित्र-वल्लरी पर लता-पल्लव और कमल-कलिकाएं इस प्रकार उत्कीर्ण किये गये हैं कि वे हंसों के पंख और पूंछ सदृश प्रतीत होते हैं।

कपोत अलकृत है। उसपर इकहरा घुमाव है और किनारी पर छोटे-छोटे गुलाब के पुष्पों की सज्जा है। नीचे की भित्ति के अर्ध-स्तंभों की उर्ध्व रेखाओं के बीच कुडु-युगल अंकित है। सरदल की ऊपरी पंक्ति व्याल-माला के रूप में है जिसमें गज-व्याल और सिंह-व्याल अंकित हैं। विमान की भित्ति और अधिष्ठान के समान ही सरदल के भी प्रक्षेप हैं।

सरदल और उसके व्यालवरि भागों पर लघु मंदिरों का हार निर्मित है जो चार कर्णकूट या वर्गाकार विमान के रूप मे हैं। तीन भद्रशालाएँ और अर्धवृत्ताकार पंजर उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं में हैं। यह हार अनर्पित शैली का है और मध्य तल के हर्म्य से स्वतंत्र है तथा उसे एक संकीर्ण और खुले हुए प्रदक्षिणा-पथ के द्वारा पृथक् रखा गया है। हार की यह रचना कम्बदहल्लि-मंदिर के विपरीत है जहाँ हार अर्पित-प्रकार का है और जड़ाऊ कार्य के समान ऊपरी तल के हर्म्य-भित्तियों से जुड़ा हुआ है। ऐसे अनर्पित हार मंदिरों में सांधार-शैली की दोहरी भित्तियों और आवृत

प्रदक्षिणा-पथ से युक्त प्रथम तल पर ही संभव हैं, जो चालुक्य-मंदिरों की प्रचलित शैली है। भित्तियों की अत्यधिक मोटाई और अंतः तथा बाह्य भित्तियों से बननेवाले अंतःमार्ग के अभाव में यहाँ की सांधार रचना स्पष्ट नहीं बन पायी है। तथापि, इसकी अर्ध-सांधार रचना अनर्पित-हार के लिए उपयुक्त है। इससे हार के मुख और पृष्ठभागों के सर्वांगीण निर्माण में सहायता मिली है, विशेषकर अर्धवृत्ताकार पंजरों की गज-पृष्ठाकृति की रचना में जिसका अर्पित-हारों में केवल सामने का भाग ही प्रस्तुत किया जा सकता है। हार का विस्तार उसके कूटों, कोष्ठों और पंजरों सहित मण्डप के ऊपर तक है। हार के सभी अंग अलंकृत हैं। उसके देवकोष्ठों में सुंदर-सुघड़ प्रतिमाएँ निर्मित हैं; उदाहरणार्थ, एक कोष्ठ में उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व के कर्णकूटों में कुबेर की प्रतिमाएँ अथवा अंतराल के सामने के कर्णकूटों में पद्मासनस्थ तीर्थंकरों या अगले पैरों को खड़ा करके बैठे हुए सिंह की आकृतियाँ हैं। भद्रशालाओं की केंद्रीय नासिकाओं में भी तीर्थंकर-प्रतिमाएँ अंकित हैं, जबकि प्रत्येक शाला के दो-छोरों पर दहाड़ते हुए सिंहों का अंकन है। इसी प्रकार पंजरों के अग्रभागों पर भी तीर्थंकर-प्रतिमाएँ अंकित हैं। हार-अवयवों के मध्यवर्ती द्वारांतरों में क्षुद्र-नासिकाएँ निर्मित हैं, इनमें भी यक्ष-यक्षियों और भक्त नर-नारियों की प्रतिमाएँ हैं। इस शृंखला में सर्वोत्तम प्रतिमा पद्मावती यक्षी की है जो महाबलीपुरम की गजलक्ष्मी की मूर्ति की मुद्रा और शैली का स्मरण दिलाती है, किन्तु अंतर इतना ही है कि इस मूर्ति में जल-स्नान करते हुए गज-युगल नहीं है। दक्षिणी अंतराल की क्षुद्र-नासिकाओं पर गज-मूर्तियों का इस रूप में अंकन, जो गंग-नरेशों का राजकीय चिह्न था, इस मंदिर को गंग-नरेशों की निर्मिति सिद्ध करता है।

महा-मण्डप में भी ऊपर लघु मंदिरों का हार है। इसके पूर्वी भाग के केंद्रीय लघु मंदिर की रूपरेखा द्वितल अधिरचना वाले गोपुर के समान है। इस गोपुर अथवा द्वार-शाला के दोनों ओर की क्षुद्र-नासिकाओं में आसीन महिलाओं की दो प्रतिमाएँ, संभवतः इस मंदिर में मानवीय प्रतिमा के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। महा-मण्डप के साथ एक अग्र-मण्डप की रचना बाद में हुई। इस मण्डप के बाह्य द्वार में चालुक्य-शैली की भव्य रूप से शिल्पांकित चौखट जड़ी हुई है।

मण्डप के भीतर सोलह स्तंभ स्वतंत्र रूप से स्थित हैं परन्तु उनमें से बीच के चार को छोड़कर शेष सभी मण्डप-प्रकार के शदुरम आधार और शीर्षयुक्त हैं। उनके बीच-बीच में कट्टु अलंकरण हैं और वे भद्रपीठों पर आधारित हैं। चारों केंद्रीय स्तंभ बीच में गोल हैं तथा उनके शिखर में कलश, ताडि और कुंभ सम्मिलित हैं। अंतिम स्तंभों पर धरन आधारित हैं क्योंकि वहाँ पालि और शिलापट्ट नहीं हैं। ये पालिशदार प्रस्तर-स्तंभ गोल भद्रासन अधिष्ठानों पर आधारित हैं और अपेक्षाकृत सादे हैं। ये स्तंभ परवर्ती चालुक्य-शैली के अलंकरण-प्राचुर्य से रहित हैं। मण्डप के मध्यवर्ती फर्श का स्तर कुछ उठा हुआ है, जबकि ऊपर की छत पर पत्रलता के घेरे में विस्तीर्ण कमल का अंकन है। केंद्रीय पुष्पासन सादा है। महा-मण्डप के भीतर की स्तंभ-पंक्तियों के समान ही, अंतःभित्तियों पर चतुर्भुजी सादे अर्ध-स्तंभ हैं। मण्डप के पृष्ठभाग के अंतराल पर प्राचीन चित्रांकनों के चिह्न हैं। गर्भगृह में सेलखड़ी से निर्मित नेमिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। उनके पीछे तिरुवाचि और दो अनुचर हैं। यह मूल प्रतिमा के स्थान पर परवर्ती स्थापन है, जैसाकि उनके पादपीठ पर लिखे अभिलेख में उल्लेख

है । इसके समरूप यक्ष और यक्षी की प्रतिमाएँ भी उसी प्रस्तर से निर्मित हैं, विशेषकर यक्षी की मूर्ति भव्य रूप से शिल्पांकित कृति है ।

मण्डप के दक्षिणी-पूर्वी कोने से सीढ़ियों का चढ़ाव है जो दूसरे तल के मंदिर के सामने की खुली छत पर पहुँचता है । प्रथम तल की अपेक्षा इस हर्म्य के चौक का परिमाण छोटा है और उसकी चारों पार्श्वभित्तियों के बाहरी भागों पर अर्ध-स्तंभ हैं । दक्षिणी, पश्चिमी और उत्तरी भित्तियों के दो-दो केंद्रीय अर्ध-स्तंभों के बीच के अंतराल में उथले देवकोष्ठ हैं जिनमें चूने से निर्मित तीर्थंकरों की खड्गासन प्रतिमाएँ उथली रेखांकन शैली में अंकित हैं । निचले तल के समान ही यहाँ के सरदल पर भी हंसों की शिल्पाकृतियाँ हैं, केवल कोनों पर सिंहों का अंकन है । कपोत पर कर्णकूटों और भद्रशालाओं का हार है । कूटों और शालाओं के मुखभागों पर तीर्थंकर-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं जबकि क्षुद्र-नासिकाओं पर भक्त नर-नारियों की प्रतिमाएँ हैं । उत्तर और दक्षिण की अंतराल-भित्तियों के ऊपर के सरदल पर दो अर्धवृत्ताकार नीड़ अथवा पंजर हैं जिनके आगे-पीछे पूर्ण गज-पृष्ठाकृति का अंकन है । उनके सामने के तोरणों के देवकोष्ठों में तीर्थंकर-प्रतिमाएँ ध्यान-मुद्रा में अंकित हैं । अंतराल के आयताकार क्षेत्र के पीछे मंदिर के प्रवेश-द्वार पर सादी चौखट जड़ी हुई है जबकि गर्भ-गृह में सेलखडी से निर्मित पार्श्वनाथ की परवर्ती प्रतिमा है ।

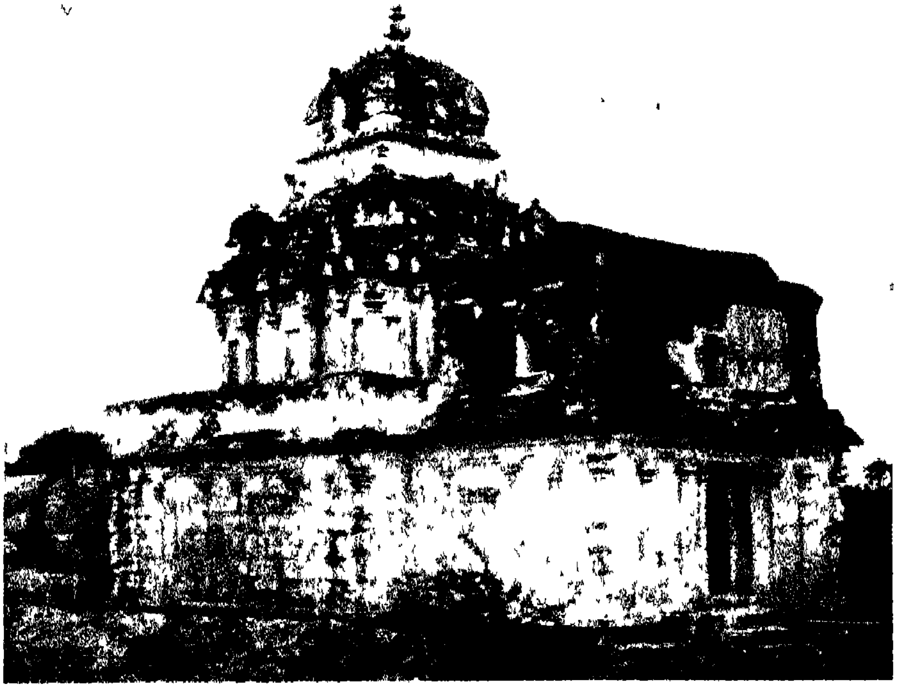
तीसरा तल चारों ओर से आवृत, कम ऊँचे छोटे चौक के रूप में है जिसका उठान दूसरे तल के हार के ऊपर हुआ है । इसमें सामान्य अर्ध-स्तंभ और तीर्थंकर-प्रतिमाओं से युक्त देवकोष्ठ हैं । यह वास्तविक ग्रीवा के उठान में उपग्रीवा का कार्य करता है और इस प्रकार विमान की कुल ऊँचाई की उसके आधार के समानुपातिक सौंदर्य के अनुसार अभिवृद्धि करता है, अन्यथा वास्तुशिल्प की दृष्टि से यह बौनी और असुंदर रचना मात्र रह जाती । इसके ऊपर अष्टकोण शिखर से आच्छादित अष्टकोण ग्रीवा है जो कम्बदहल्लि की अपेक्षा कम सुंदर है । ग्रीवा-शिखर के आठों कोणों पर महा-नासिकाएं प्रक्षिप्त हैं जिनके चारों ओर के देवकोष्ठों में तीर्थंकर-प्रतिमाएं तथा कोनों के देवकोष्ठों में भक्त नर-नारियों की प्रतिमाएँ अंकित हैं । सबसे ऊपर की स्तूपी एक ही शिलाखण्ड से निर्मित नहीं है, वरन सश्लिष्ट है । यह चार भागों में संपूर्ण ग्रेनाइट की रचना है, जबकि सबसे ऊपर की स्तूपिका काली सेलखड़ी की है और कलश से संयुक्त कर दी गयी है ।

चामुण्डराय-बस्ती के आधार-शिलालेख के अनुसार मंदिर का निर्माण चामुण्डराय के द्वारा सन् ९८२ ई० में कराया गया था । ऊपरी तल के गर्भगृह में पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना सन् ९९५ में करायी गयी थी जैसाकि उक्त प्रतिमा के पादपीठ पर मंत्रि-पुत्र के अभिलेख से विदित होता है । इससे ज्ञात होता है कि पिता और पुत्र के द्वारा मंदिर के निर्माण में तेरह वर्ष लगे । सामने के अग्र-मण्डप का निर्माण संभवतः होयसल विष्णुवर्धन के समय किया गया ।

इस पहाड़ी के प्राकार के दक्षिणी प्रवेश-द्वार के भीतर एक उत्तुंग स्तंभ आठ हाथियों के आधार के ऊपर बनाया गया है । प्राकार के भीतर कई मंदिर हैं । स्तंभ के शिखर पर ब्रह्मदेव की पूर्वोन्मुख

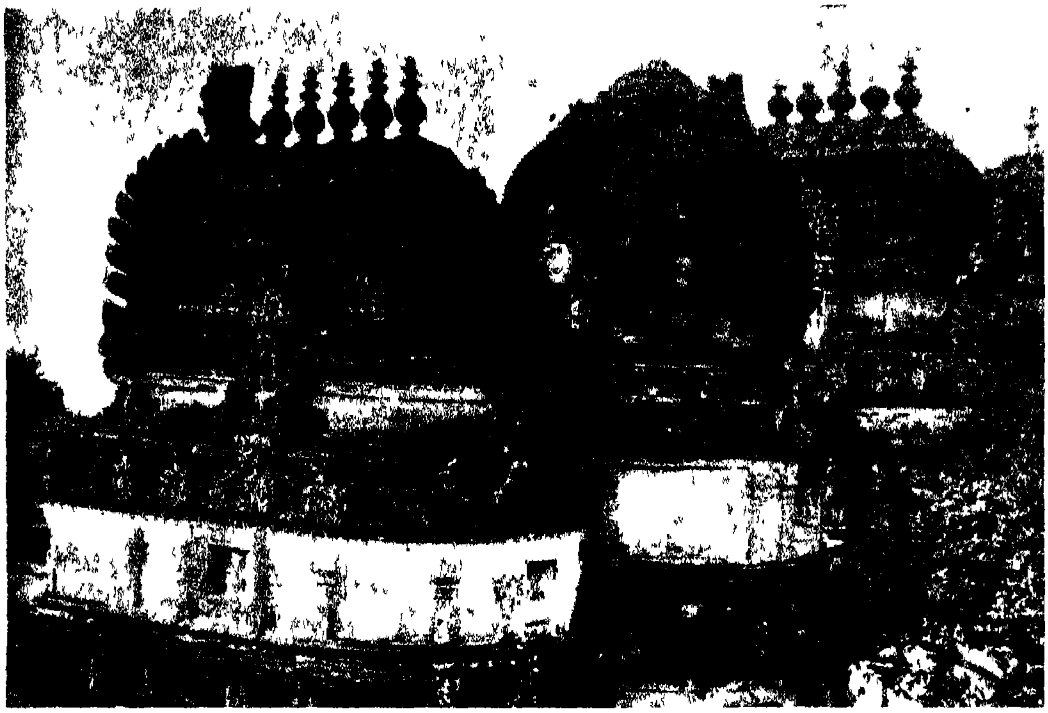


(क) शित्तन्नवासल — गुफा-मंदिर

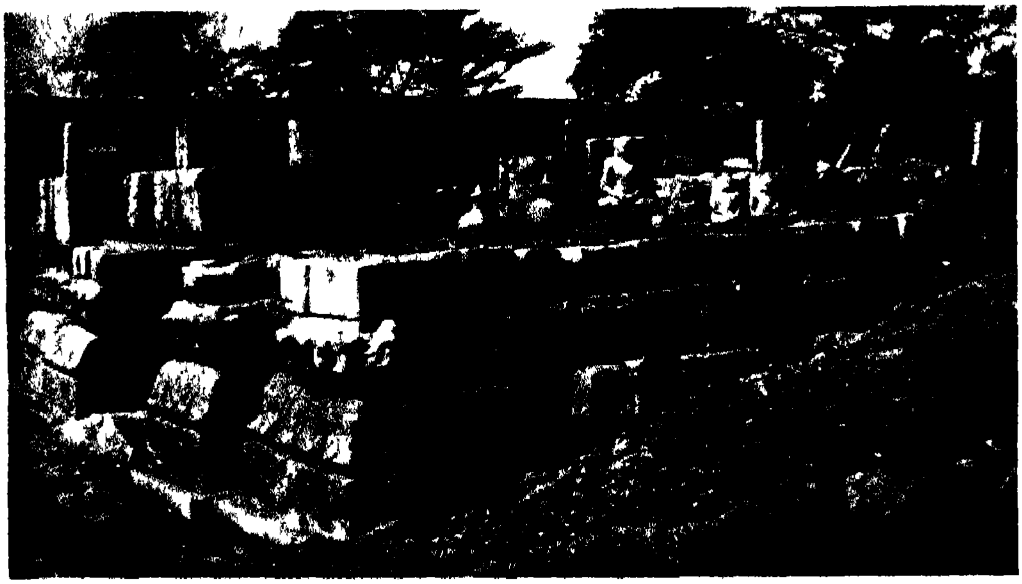


(ख) तिरुप्परुत्तिकुण्रम् — चंद्रप्रभ-मंदिर

चित्र 127



(क) तिरुपरुत्तिक्कुणरम् — मंदिरों के विमान

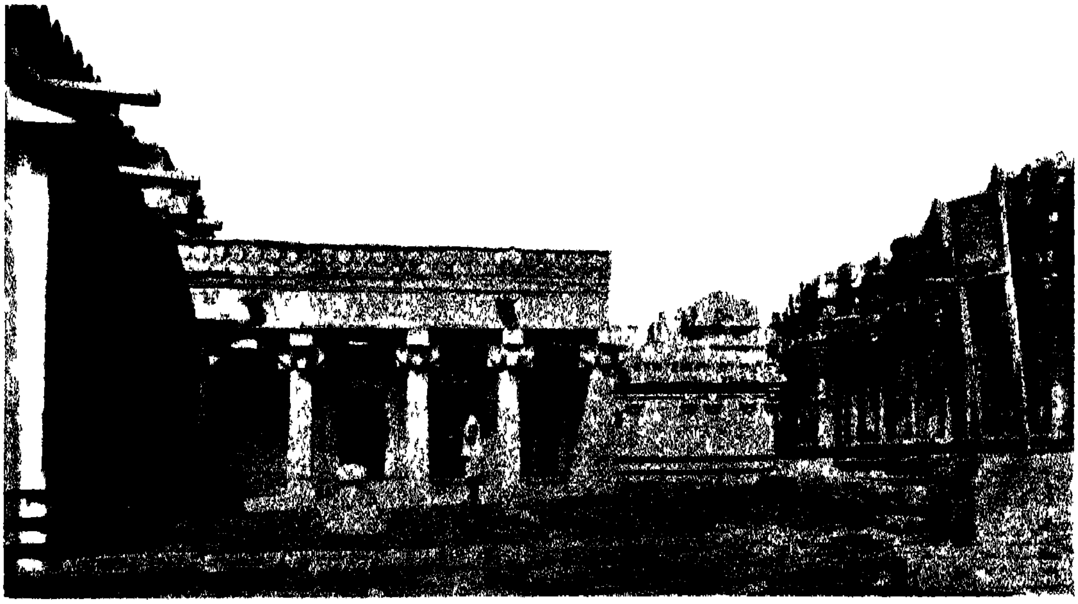


(ख) चट्टीपट्टी — भग्न मंदिर और उसके अधिष्ठान पर स्थापित मूर्तियाँ

चित्र 128



(क) सेम्बट्टूर — भग्न मंदिर और उसके अधिष्ठान पर स्थापित मूर्तियां

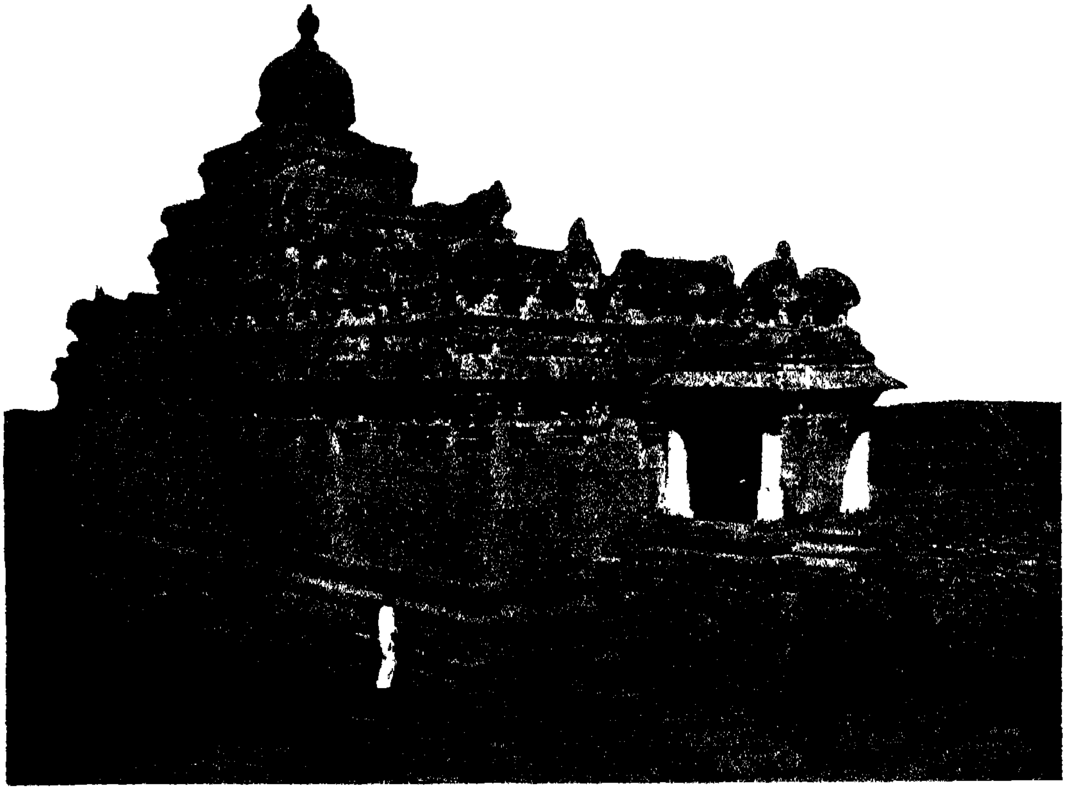


(ख) श्रवणबेलगोला — चन्द्रगुप्त बस्ती का मंदिर-समूह

चित्र 129

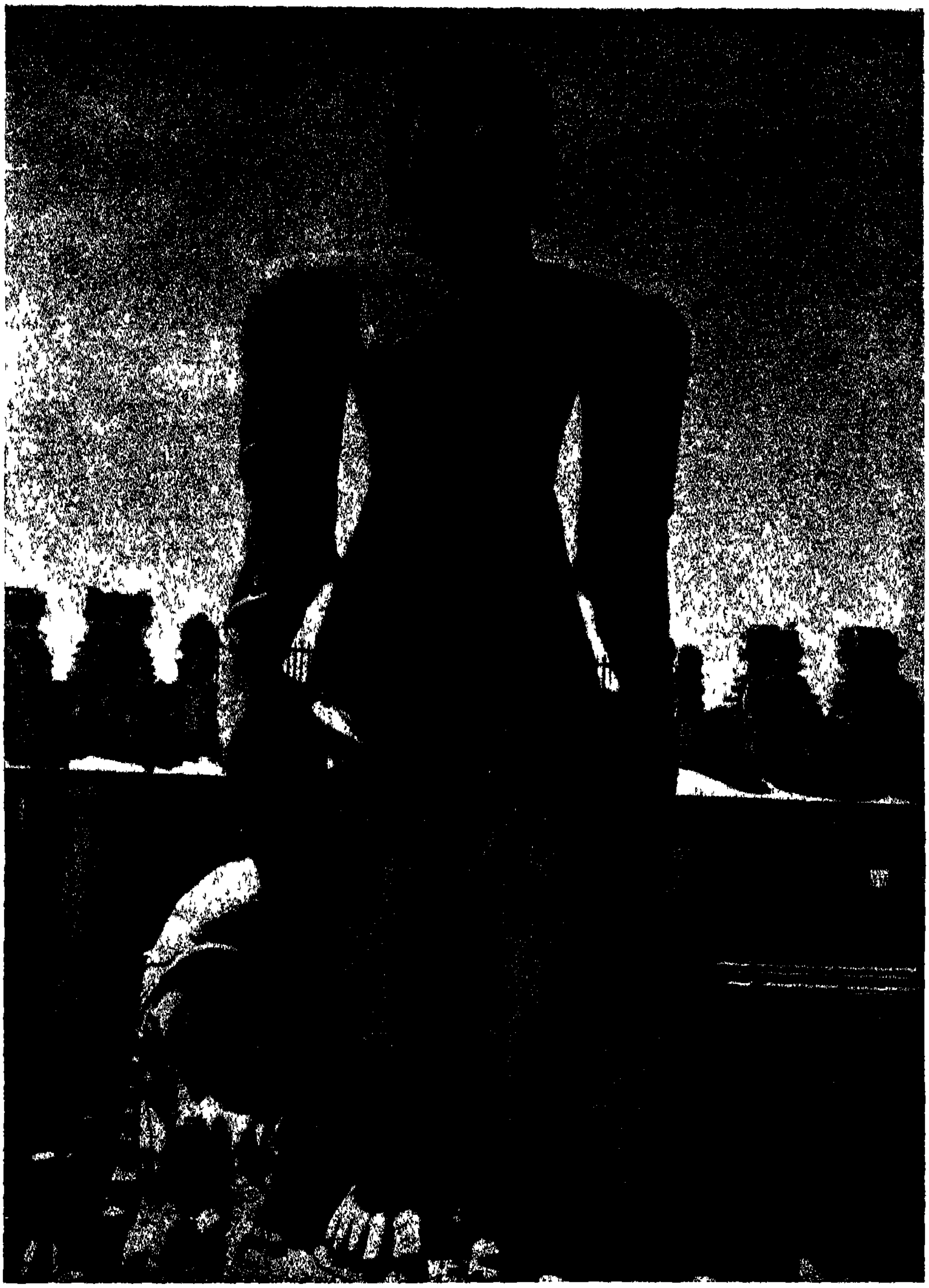


(क) कम्बदहल्लि (श्रवणबेलगोला) — पंचकूट-बस्ती



(ख) श्रवणबेलगोला — चामुण्डराय-बस्ती

चित्र 130



श्रवणबेलगोला — गोम्मटेश्वर-मूर्ति

चित्र 131



श्रवणबेलगोला — गोम्मटेश्वर-मूर्ति का शीर्ष

चित्र 132



तिरक्कोल — शैलोत्कीर्ण तीर्थंकर-मूर्तियाँ

चित्र 133



तिरुमलै — नेमिनाथ-मंदिर

चित्र 134



(क) वल्लिमलै — तीर्थंकरों और यक्षियों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ

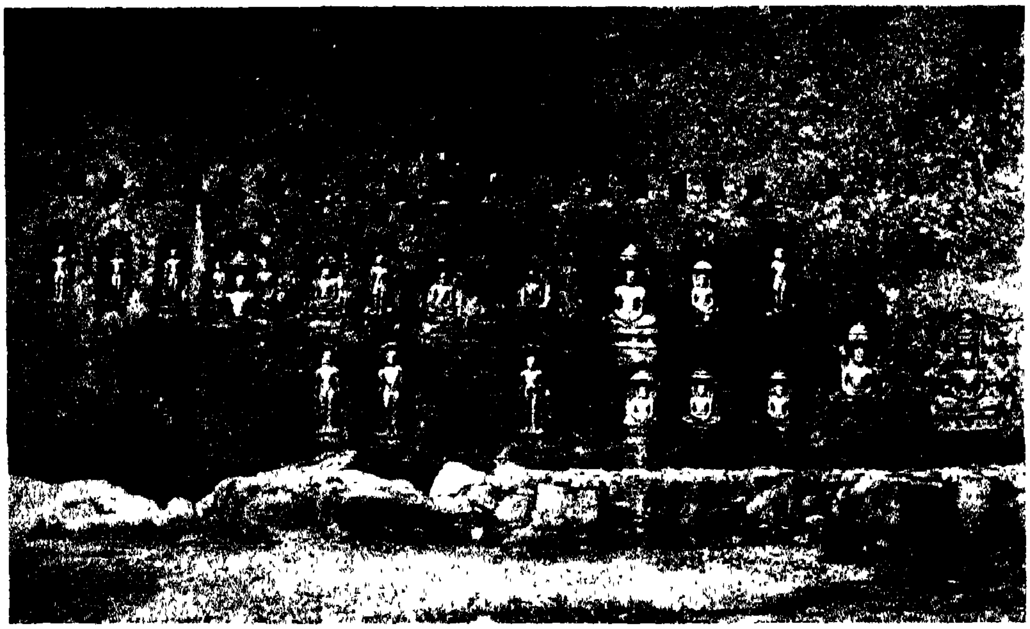


(ख) चिट्टामूर — परिचारिकाओं-सहित बाहुबली और तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ

चित्र 135

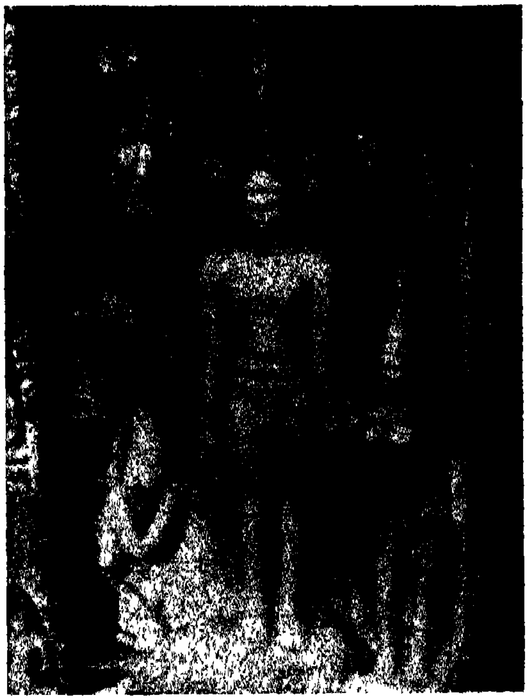


(क) चिट्टामूर — यक्षी-सहित महावीर की शैलोत्कीर्ण मूर्ति



(ख) उत्तमपलैयम् — तीर्थंकरों की पंक्तिबद्ध शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ

चित्र 136

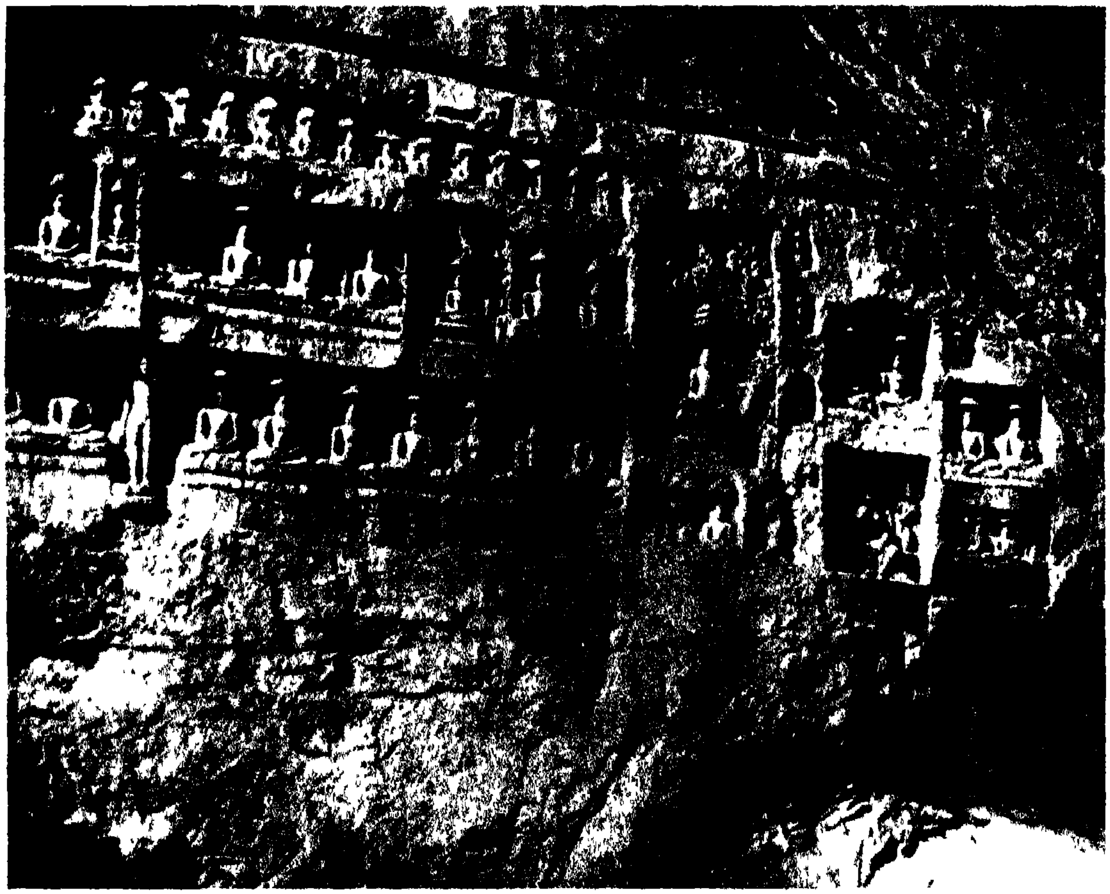


(क) कलुगुमलै — अनुचरों-सहित तीर्थंकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियां



(ख) कलुगुमलै — यक्षी और तीर्थंकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियां

चित्र 137

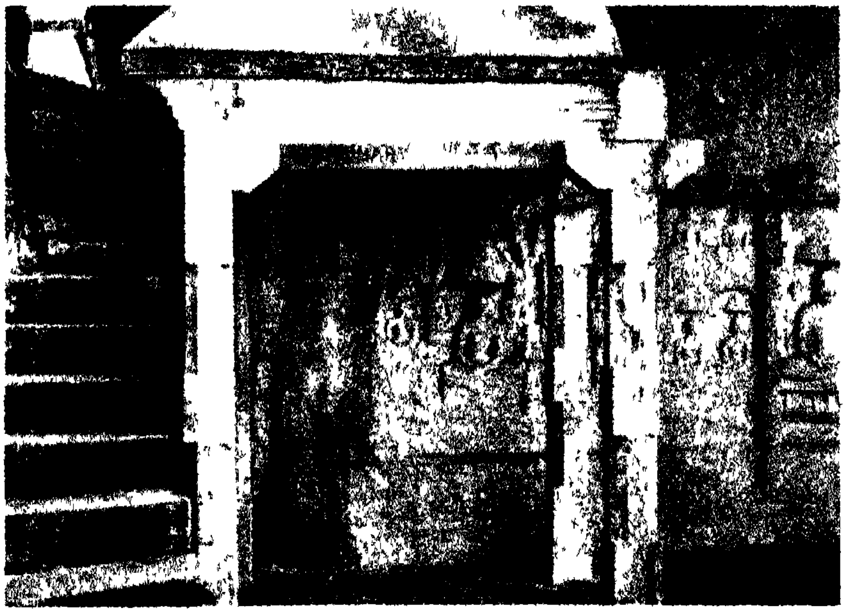


कलुगुमलै – तीर्थंकरों की पंक्तिबद्ध शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ

चित्र 138



(क) चितराल — शैलाश्रय



(ख) चितराल — तीर्थंकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ

चित्र 139

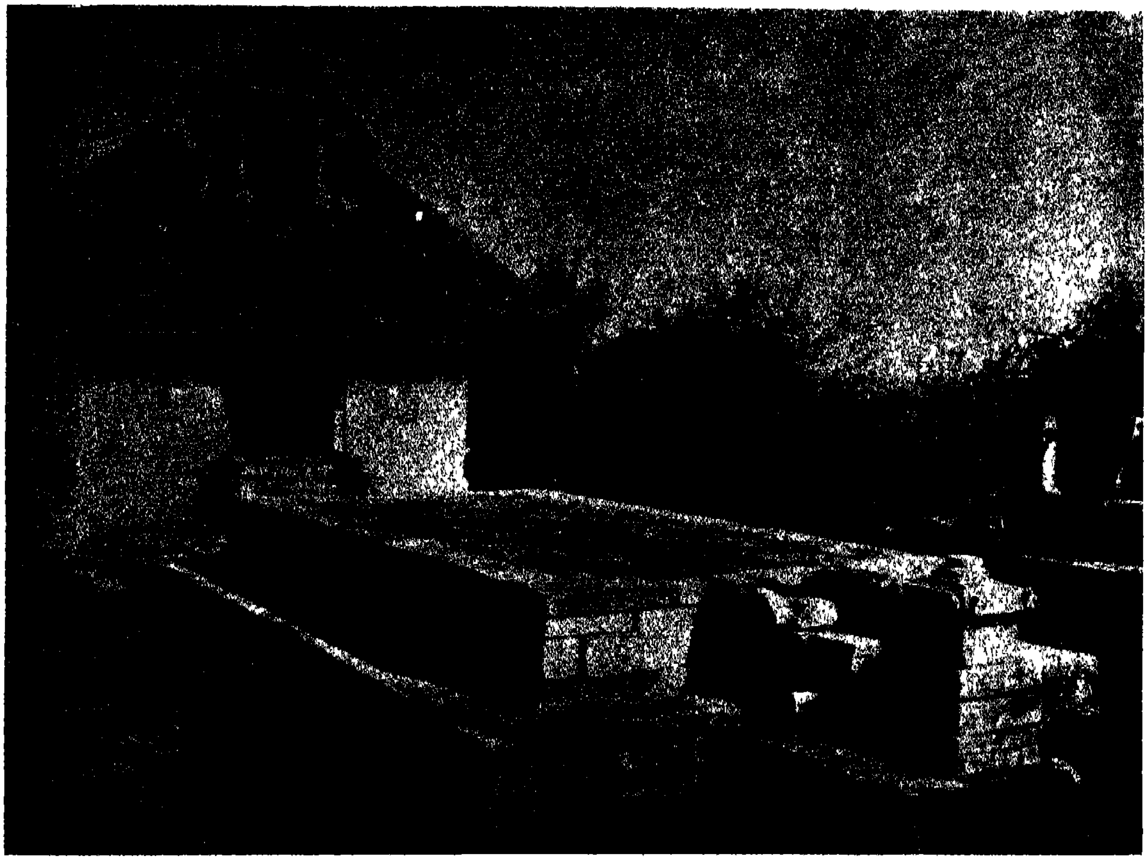


(क) कल्लिल — शैलाश्रय



(ख) कल्लिल — शैलाश्रय के सामने का मंदिर

चित्र 140



पालघाट — मंदिर और उसके सामने पूर्ववर्ती मंदिर का अधिष्ठान

चित्र 141



पालघाट — तीर्थंकर तथा अन्य मूर्तियाँ

चित्र 142

मूर्ति है। स्तंभ पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार इसका निर्माण गंग नरेश मारसिंह की सन् ९७४ में हुई मृत्यु के स्मारक के रूप में किया गया।

दक्षिण कर्नाटक और तमिलनाडु की मूर्तिकला

श्रवणबेलगोला की इंद्रगिरि पहाड़ी पर गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा (चित्र १३१) मूर्तिकला में गंग राजाओं की और, वास्तव में, भारत के अन्य किसी भी राजवंश की महत्तम उपलब्धि है। पहाड़ी की १४० मीटर ऊँची चोटी पर स्थित यह मूर्ति चारों ओर से पर्याप्त दूरी से ही दिखाई देती है। इसे पहाड़ी की चोटी के ऊपर प्रक्षिप्त ग्रेनाइट की चट्टान को काटकर बनाया गया है जिसकी एकरूपता और पत्थर की सुंदर रवेदार उकेरने निश्चय ही मूर्तिकार को व्यापक रूप से संतुष्ट किया होगा। प्रतिमा के सिर से जाँघों तक अंग-निर्माण के लिए चट्टान के अवांछित अंशों को आगे, पीछे और पार्श्व से हटाने में कलाकार की प्रतिभा श्रेष्ठता की चरम सीमा पर जा पहुँची है। जाँघों से नीचे के भाग, टाँगें और पैर, उभार में उत्कीर्ण किये गये हैं, जबकि मूल चट्टान के पृष्ठभाग तथा पार्श्वभाग प्रतिमा को आधार प्रदान करने के लिए सुरक्षित रखे गये हैं। पार्श्व के शिलाखण्डों में चीटियों आदि की बाँबियाँ अंकित की गयी हैं और कुछेक में से कुक्कट-सर्पों अथवा काल्पनिक सर्पों को निकलते हुए अंकित किया गया है। इसी प्रकार दोनों ही ओर से निकलती हुई माधवी लता को पाँव और जाँघों से लिपटती और कंधों तक चढ़ती हुई अंकित किया गया है, जिनका अंत पुष्पों या बेरियों के गुच्छों के रूप में होता है। गोम्मट के चरण (प्रत्येक की माप २.७५ मीटर) जिस पादपीठ पर हैं वह पूर्ण विकसित कमल-रूप में है। खड्गासन-मुद्रा में गोम्मटेश्वर की इस विशाल वक्षयुक्त भव्य प्रतिमा के दोनों हाथ घुटनों तक लटके हुए हैं। दोनों हाथों के अँगूठे भीतर की ओर मुड़े हुए हैं। सिर की रचना लगभग गोल है और ऊँचाई २.३ मीटर है (चित्र १३२)। यह अंकन किसी भी युग के सर्वोत्कृष्ट अंकनों में से एक है। नुकीली और संवेदनशील नाक, अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्य स्मित-ओष्ठ, किंचित् बाहर को निकली हुई ठोड़ी, सुपुष्ट गाल, पिण्डयुक्त कान, मस्तष्क तक छाये हुए घुँघराले केश आदि इन सभी से आकर्षक, वरन् देवात्मक, मुखमण्डल का निर्माण हुआ है। आठ मीटर चौड़े बलिष्ठ कंधे, चढ़ाव-उतार रहित कुहनी और घुटनों के जोड़, संकीर्ण नितम्ब जिनकी चौड़ाई सामने से तीन मीटर है और जो बेडौल और अत्यधिक गोल हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मूर्ति को संतुलन प्रदान कर रहे हों, भीतर की ओर उरेखित नालीदार रीढ़, सुदृढ़ और अडिग चरण, सभी उचित अनुपात में, मूर्ति के अप्रतिम सौंदर्य और जीवंतता को बढ़ाते हैं, साथ ही वे जैन मूर्तिकला की उन प्रचलित परंपराओं की ओर भी संकेत करते हैं जिनका दैहिक प्रस्तुति से कोई संबंध न था—कदाचित् तीर्थंकर या साधु के अलौकिक व्यक्तित्व के कारण, जिनके लिए मात्र भौतिक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं। केवली के द्वारा त्याग की परिपूर्णता-सूचक प्रतिमा की निरावरणता, दृढ़ निश्चयात्मकता एवं आत्मनियंत्रण की परिचायक खड्गासन-मुद्रा और ध्यानमग्न होते हुए भी मुखमण्डल पर झलकती स्मिति के अंकन में मूर्तिकार की महत् परिकल्पना और उसके कला-कौशल के दर्शन होते हैं। सिर और मुखाकृति के अतिरिक्त, हाथों, उँगलियों, नखों, पैरों तथा एड़ियों का अंकन इस कठोर दुर्गम चट्टान पर जिस दक्षता के साथ किया गया है, वह आश्चर्य की वस्तु है। संपूर्ण प्रतिमा को वास्तव

में पहाड़ी की ऊँचाई और उसके आकार-प्रकार ने संतुलित किया है तथा परंपरागत मान्यता के अनुसार जिस पहाड़ी चोटी पर बाहुबली ने तपश्चरण किया था वह पीछे की ओर अवस्थित है और आज भी इस विशाल प्रतिमा को पैरों और पार्श्वों के निकट आधार प्रदान किये हुए है, अन्यथा यह प्रतिमा और भी ऊँची होती। जैसाकि फर्ग्युसन ने कहा है : 'इससे महान और प्रभावशाली रचना मिश्र से बाहर कहीं भी अस्तित्व में नहीं है और वहाँ भी कोई ज्ञात प्रतिमा इसकी ऊंचाई को पार नहीं कर सकी है।'[1] मिश्र की विशाल प्रतिमाओं में रैमजेस की मूर्ति तथा अफ़गानिस्तान में बामियान पर्वतश्रृंगों के अग्रभागों पर उत्कीर्ण महान् बुद्ध की प्रतिमाएँ सर्वोत्तम शिल्पांकन हैं जबकि गोम्मटेश्वर-मूर्ति घुटनों से ऊपर की ऊँचाई में गोलाकार है और उसका पृष्ठभाग अग्रभाग के समान सुरचित है।

इसके अतिरिक्त है समूचे शरीर पर दर्पण की भाँति चमकती पालिश, जिससे भूरे-श्वेत ग्रेनाइट प्रस्तर के दाने भव्य हो उठे हैं; और भव्य हो उठी है इसमें निहित सहस्र वर्ष से भी अधिक समय से विस्मृत अथवा नष्टप्राय वह कला जिसे सम्राट् अशोक और उसके प्रपौत्र दशरथ के शिल्पियों ने उत्तर भारत में गया के निकट बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों की आजीविक गुफाओं के सुविस्तृत अंत:भागों की पालिश के लिए अपनाया था। ऊंचे पहाड़ी शिखर पर खुले आकाश में स्थित प्रतिमा को धूप, ताप, शीत, वर्षा घर्षणकारी धूल और वर्षा भरी वायु के थपेड़ों से बचाने में इस पालिश ने रक्षाकवच का कार्य किया है। यह ऐसा तथ्य है जिसे इस प्रतिमा के निर्माताओं ने भली-भाँति समझ लिया था। एलोरा और अन्य स्थानों की गोम्मट-प्रतिमाओं से भिन्न, इस मूर्ति की देह के चारों ओर सर्पिल लताएँ बड़े ही नियंत्रित कौशल के साथ अंकित की गयी हैं और उनके पल्लव एक दूसरे से उचित आनुपातिक दूरी पर इस प्रकार अंकित किये गये हैं कि उनसे प्रतिमा की भव्यता कम न हो।

कर्नाटक प्रदेश के कार्कल (१३४२ ई०), वेणूर (१६०४ ई०) और बंगलौर के निकटवर्ती एक स्थान (गोम्मटगिरि) की तीन परवर्ती गोम्मट-प्रतिमाओं का इस मूर्ति के शिल्प-सौंदर्य या आकार से कोई साम्य नहीं है। शरीर के सामान्य आकार के अनुपात में घुटनों से नीचे टाँगों का उचित माप में अंकन, छूट है जो मूल चट्टान के माप के अनुसार किया गया प्रतीत होता है, पार्श्ववर्ती शिला और उसपर अंकित चीटियों की बाँबियों, सर्पों और लताओं की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट है। मूर्ति के शरीरांगों के अनुपात के चयन में मूर्तिकार पहाड़ी-चोटी पर निरावृत मूर्ति की असाधारण स्थिति से भली-भाँति परिचित था। यह स्थिति उस अण्डाकार पहाड़ी की थी जो मीलों विस्तृत प्राकृतिक दृश्यावली से घिरी थी। मूर्ति वास्तविक अर्थ में दिगंबर होनी थी, अर्थात् खुला आकाश ही उसका वितान और वस्त्राभरण होने थे। मूर्तिकार की इस निस्सीम व्योम-वितान के नीचे अवस्थित कलाकृति को स्पष्ट रूप से इस पृष्ठभूमि के अंतर्गत देखना होगा और वह भी दूरवर्ती किसी ऐसे कोण से जहाँ से समग्र आकृति

1 फर्ग्युसन (जेम्स). **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर**. 1910. लंदन. पृ 72.

दर्शक की दृष्टि-सीमा में समाहित हो सके। ऐसे कोण से देखने पर ही शरीरांगों के उचित अनुपात और कलाकृति की उत्कृष्टता का अनुभव हो सकता है।

आधार के दोनों पार्श्व के प्रस्तर-खण्डों पर उत्कीर्ण तमिल-ग्रंथ, नागरी (प्राचीन मराठी) और कन्नड़—तीन लिपियों के अभिलेखों और अन्यत्र उपलब्ध अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गोम्मटेश्वर का निर्माण गंग नरेश राजमल्ल सत्यवाक्य अथवा राचमल्ल (९७४-९८४ ई०) के मंत्री चामुण्डराय ने सन् ९७८ (चामुण्डराय कृत चामुण्डराय-पुराण की रचना-तिथि जिसमें इस महान् उपलब्धि का उल्लेख नहीं है) के उपरांत कभी कराया था। वैसे इस प्रतिमा की निर्माण-तिथि ९८३ ई० मानी जाती है, यद्यपि अनेक साहित्यिक संदर्भों के आधार पर उसकी पारंपरिक प्रतिष्ठा-तिथि कालचक्रीय विभव वर्ष में चैत्र शुक्ल पंचमी, रविवार, है जो लगभग १०२८ ई० के बराबर होती है। आधार पर उत्कीर्ण एक अभिलेख में भी उल्लेख है कि मूर्ति के चारों ओर चौबीस तीर्थंकरों के मंदिरों के साथ सुत्ताल अथवा स्तंभीय चैत्यवास का निर्माण होयसल-नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज ने करवाया था। इस प्रकार, प्रतिमा के पीछे समतल-वितानयुक्त मण्डप के कुछ भाग के निर्माण के लिए, पार्श्व आधारीय शिला के एक बड़े भाग के शीर्ष को, जो बहुतल मण्डप के अंतरिम पार्श्व के रूप में है, काटना पड़ा। मण्डप अंततः विशाल प्रतिमा का प्रमुख आधार बन गया।

गग नरेशों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति गोम्मटेश्वर बाहुबली के भाई भरतेश्वर की मूर्ति है जो उनके पूर्वाश्रम की स्थिति की है। यह घुटनों से नीचे टूटी हुई है और लगभग उपेक्षित दशा में खड़ी है। विद्यमान प्रतिमा समभंग-मुद्रा में लगभग तीन मीटर ऊँची है। ललित समानुपात में, इसे भी चंद्रगिरि पहाड़ी के परिसर के पश्चिमी भाग में एक स्थान पर पड़े हुए विशाल शिलाखण्ड को काटकर बनाया गया है। किन्तु दुर्भाग्य से इसके चारों ओर उन पत्थरों के ढेर लग गये हैं जो दर्शनार्थियों द्वारा प्रत्यावर्तित सगीतात्मक ध्वनि सुनने के लिए फेंके गये।

अनेक प्राकृतिक गुफाओं या शैलाश्रयों, परनालों, पालिशदार शय्याओं तथा तमिल-ब्राह्मी अभिलेखों[1] से युक्त पहाड़ियों के अतिरिक्त यहाँ जैन आवास के द्वितीय या परवर्ती चरण की ओर भी अनेक कृतियाँ हैं जो दक्षिण केरल और तमिलनाडु के जिलों में प्रायः सर्वत्र उपलब्ध है। तमिल-ब्राह्मी अभिलेखों के अभाव में उनमें अधिकांशतः तमिल लिपि और भाषा के अभिलेख अन्य सगतियों के साथ हैं, जिनमें बहुधा जैन प्रतिमाएँ या तो शिलामुखों पर उत्कीर्ण प्रतिमाओं के रूप में हैं या फिर पृथक् उथले उरेखन के रूप में। उनमें से कुछ में आंतरिक परिवर्धन दिखाई पड़ता है, यथा—छत की तोरणाकार रचना और ईंट-निर्मितियों के अवशेष। चित्रांकन भी द्रष्टव्य है। इस प्रकार के आवास और पुनः उपयोग के साक्ष्य परवर्ती चरण की पूर्वकालिक गुफाओं और शैलाश्रयों में भी पाये जाते है, जो परवर्ती काल तक उनके निरंतर प्रयोग की पुष्टि करते हैं।

[1 ब्राह्मी अभिलेखों और शैलोत्कीर्ण शय्याओं से युक्त प्रारंभिक प्राकृतिक गुफाओं के लिए द्रष्टव्य : अध्याय 9 —संपादक.]

चिंगलपट जिले के ओरंबक्कम ग्राम की पंचपाण्डवमलै पहाड़ी की शैल-शय्याओं से युक्त प्राकृतिक गुफाओं में हाल ही में इसी प्रकार के जैन अधिष्ठान मिले हैं।[1] उनमें से एक के समीप आदिनाथ की प्रतिमाएँ मिली हैं। आदिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के शिल्पांकनों को शिला-मुख पर ही उत्कीर्ण किया गया है जबकि पार्श्वनाथ की मूर्ति पूर्णाकार मंदिर-मुख के भीतर उसी प्रकार अंकित है जैसे महाबलीपुरम[2] में अर्जुन के तपश्चरण के भव्य दृश्य में विष्णु को खड़ी मुद्रा में अंकित किया गया है। इसके पार्श्व में उत्कीर्ण ग्रंथ और तमिल के अभिलेखों में उल्लेख है कि तेवारम (भीतर अंकित देवमूर्ति के साथ मदिर) का निर्माण चतुर्विंशति के निर्माता जैनाचार्य वसुदेव सिद्धांत-भटार ने करवाया था। पर्याप्त गहरा देवकोष्ठ, वास्तुपरक अभिरचना को भली-भाँति प्रस्तुत करता है। इसमें पार्श्वनाथ की एक कायोत्सर्ग-प्रतिमा प्रतिष्ठापित है जिसका शीर्ष पंचफण-नाग-छत्र से आच्छादित है। वास्तुपरक रूप-प्रकार, प्रतिमाएँ और संबद्ध अभिलेखों की पुरालिपि के अनुसार अन्य दो प्रतिमाओं की निर्माण-तिथि सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निर्धारित की जा सकती है; अर्थात् यह तीनों पल्लव कृतियाँ हैं। आदिनाथ को समपर्यंक (पद्मासन) ध्यान-मुद्रा में अकित किया गया है। सिर के ऊपर त्रिछत्र तथा दोनों पार्श्वों में उड़ते हुए विद्याधर तथा चमरधारी अंकित हैं। महावीर की प्रतिमा भी इसी मुद्रा में अंकित की गयी है। प्राकृतिक गुफाओं के निकटवर्ती शिलाखण्डों पर, जो प्राय: सर्वत्र उपलब्ध हैं, इसी प्रकार के उथले उरेखन हैं, किन्तु पार्श्वनाथ की मूर्ति से सुशोभित मंदिर का शिल्पांकन अद्वितीय है।

उत्तर अर्काट जिले के विलप्पक्कम में पंचपाण्डवमलै अथवा तिरुप्पानमलै में जैन संरचनाओं से युक्त एक प्राकृतिक गुफा है। इसमें एक तिर्यक् भित्ति के निर्माण के फलस्वरूप एक ओर गिरि-ताल बन गया है और दूसरा भाग अब मुस्लिम दरगाह के रूप में है। इनमें सर्वाधिक आकर्षक तो आठवीं से ग्याहरवीं शताब्दियों तक की पल्लव-चोल प्रतिमाएँ और अभिलेख हैं। इनमें यक्षी की एक प्रतिमा उल्लेखनीय कलाकृति है। यहाँ एक तीर्थंकर-मूर्ति शिल्पांकित है जिसके नीचे चोल-राजचिह्न चीता अंकित है। पहाड़ी के निचले पूर्वी भाग पर एक विशाल शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर है। यद्यपि यह अनेक दृष्टियों से अपूर्ण है फिर भी अपने भारी अनगढ़ स्तंभों, पलस्तर की हुई भित्तियों और छतों से युक्त जैन मंदिर के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। इसके अग्रभाग में छह स्तंभ और दोनों छोरों पर दो भित्ति-स्तंभ हैं। मण्डप के भीतर इन्हीं के अनुरूप स्तंभ निर्मित हैं जो इसे क्रमश: चौड़े तथा संकीर्ण अंत: एवं बाह्य भागों में विभाजित करते हैं। पृष्ठभित्ति में सात देवकुलिकाएँ हैं जो सभी रिक्त हैं। गुफा-मंदिर के अग्रभाग के परनाले के निकट केंद्र में एक तीर्थंकर-मूर्ति सिद्धासन-मुद्रा में अंकित है।[3] यह जैन अर्जिकाओं का एक विशाल केंद्र था। इन अर्जिकाओं में तिरुप्पानमलै के

1 चम्पकलक्ष्मी (आर). एन अननोटिस्ड जैन कैवर्न नियर मदुरांतकम, **जर्नल ऑफ द मद्रास यूनिवर्सिटी**. 41, 1-2; 1969; पृ 11-13.

2 श्री निवासन (के आर). पल्लव आर्किटेक्चर ऑफ साउथ इण्डिया. **एंशियेण्ट इण्डिया**. 14; पृ 129, चित्र 17.

3 श्रीनिवासन (के आर). **केव टेम्पल्स ऑफ द पल्लवाज**. आर्किटेक्चरल सर्वे ऑफ टेम्पल्स. 1. 1964. आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली. पृ 94-98.

अरिष्टनेमिभट्टार की शिष्या पट्टिनिक्कुरत्ति को चोल नरेश परांतक-प्रथम के शासनकाल में कुछ महत्त्व प्राप्त था। ९४५ ई० के एक अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

उत्तर अर्काट जिले के तिरक्कोल में एक महत्त्वपूर्ण शिलाखण्ड है जिसपर जैन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं (चित्र १३३)। इसी जिले में अर्मामलै में खण्डित जैन प्रतिमाएँ और गुफा के भीतर की परवर्ती निर्मितियों के साक्ष्य मिले हैं। विशालाकार अर्मामलै गुफा को ईंटों से त्रिकूट-शैली के तीन गर्भगृहों वाले जैन मंदिर का रूप दिया गया। खण्डित प्रतिमाओं के अवशेषों में शिलापट्टों पर उत्कीर्ण दो द्वारपालों के उथले उरेखन हैं। यह और इनके साथ के दो अन्य शिलापट्ट हैं जिनके एक ओर कमल-प्रतीकों का अंकन है और कुछ खण्डित भित्ति-स्तंभ हैं। मात्र यही मूर्ति एवं वास्तु-कला के अलंकरण के अवशेष बचे हैं। कमल-प्रतीकांकित शिलापट्ट के केंद्र में एक चूल है जिससे यह संकेत मिलता है कि यह शिलापट्ट काष्ठ के स्तंभाधार के रूप में, संभवतः मान-स्तंभ या ध्वज-स्तंभ के रूप में, प्रयुक्त होता रहा है। दो द्वारपाल कदाचित् चण्ड और मंचण्ड की मूर्तियाँ हैं। द्वारपालों के निम्न-उद्भृतों की रूप-रेखा और शैली, पल्लव की अपेक्षा राष्ट्रकूट-गंग कला की अधिक सजातीय प्रतीत होती है। वस्तुतः त्रिकूट का मध्यवर्ती गर्भगृह पार्श्ववर्ती गर्भगृहों की अपेक्षा अधिक विशाल है। इससे विदित होता है कि त्रिकूट मध्यवर्ती गर्भगृह में प्रतिष्ठापित मुख्य प्रतिमा को समर्पित है, जबकि पार्श्ववर्ती गर्भगृहों में संभवतः अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियाँ या चूने द्वारा निर्मित यक्ष-यक्षी रहे हों। इसकी भित्तियों और पलस्तर की गयी छत पर मनोहारी भित्ति-चित्रों के अवशेष हैं। मंदिर और इसकी प्रतिमाओं एवं भित्ति-चित्रों के निर्माण का समय नौवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और दसवीं शताब्दी का प्रथमांश संभावित है, जैसाकि इसके चित्रांकनों से प्रतीत होता है, जो एलोरा की राष्ट्रकूट-शैली के अनुरूप हैं। ऐसा ही संकेत चोल-लिपि में लगभग दसवीं शताब्दी के एक लघु अभिलेख से मिलता है।

इसी प्रकार इसी जिले में तिरुमलै के प्रख्यात जैन केंद्र में, जिसे शिलालेखों में वैकावूर कहा गया है, पहाड़ी पर जैन मंदिर-समूह (चित्र १३४) है जो प्राकृतिक गुफा के भीतर और बाहर निर्मित है तथा मल्लिनाथ और नेमिनाथ को समर्पित है। यहाँ की कूष्माण्डिनी और धर्मा देवी-यक्षियाँ तथा पार्श्वनाथ की सुंदर प्रतिमाएँ तथा यहाँ के चित्रांकन विशेष उल्लेखनीय हैं। शिल्पांकनों की शैली आद्य चोल-प्रतिमाओं के अनुरूप है, जबकि ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के समकालीन चित्रांकन अत्यधिक परंपरागत हैं[1], जैसे जैन चित्रांकन प्रायः होते हैं। यहाँ भी राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण-तृतीय के राज्यकाल के उन्नीसवें वर्ष (९३७-३८ ई०) और पूर्ववर्ती चोल नरेश परांतक-प्रथम के ९१२-१३ ई० के शिलालेख मिले हैं।

उत्तर अर्काट जिले में वल्लिमलै भी प्राकृतिक गुफाओं और शैलोत्कीर्ण जैन मूर्तियों से समृद्ध है (चित्र १३५ क)। इनमें से एक गुफा वर्तमान सुब्रह्मण्य-मंदिर-समूह के गर्भगृह के रूप में है किन्तु आज भी ऊपर लटकी हुई चट्टान के ललाट पर उत्कीर्ण तीर्थंकर-मूर्ति स्पष्ट दिखाई देती है। यहाँ

1 [द्रष्टव्य : अध्याय 30—संपादक.]

उत्कीर्ण एक शिलालेख के अनुसार यहाँ के एक मंदिर का शिलान्यास पश्चिमी गंग नरेश राचमल्ल-प्रथम के द्वारा हुआ था। यहाँ की प्रतिमाएँ पल्लवों की अपेक्षा गंग-शैली की अधिक सजातीय हैं। एक गुफा में युगल तीर्थंकर-प्रतिमा सिंहासन पर पद्मासन-मुद्रा में आसीन है और ऊपर दो चमर-धारियों की लघु आकृतियाँ हैं। तीर्थंकर-युगल के पार्श्व में सिंह पर आरूढ़ अंबिका और दायें पार्श्व में हाथी पर आरूढ़ ब्रह्मशास्ता को अंकित किया गया है। अन्य शिल्पांकनों में अग्रलिखित सम्मिलित है: चौकोर देवकुलिका में उत्कीर्ण वर्धमान प्रतिमा; एक लघु देवकुलिका मे कायोत्सर्ग-मुद्रा या प्रतिमा-योग में अंकित गोम्मट की लघु मूर्ति; नागछत्र के नीचे आसनस्थ पार्श्वनाथ की चार प्रतिमाएँ; दो यक्षियाँ, जिनमें से बृहत्तर मूर्ति पद्मावती की है और एक गजारूढ़ यक्ष; एक पंक्ति में पाँच आसनस्थ तीर्थंकर जिनके पादपीठ पर अभिलेख है; तीन फलकों में से एक में यक्षी अंबिका, दूसरी में त्रिछत्र के नीचे आसनस्थ वर्धमान जिनके आसन पर दो चमरधारी अनुचर तथा ऊपर उड़ते हुए दो विद्याधर और उनके ऊपर अष्टमंगल द्रव्य हैं तथा तीसरी फलक में त्रिछत्र और नागफण से आच्छादित पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा; ये सभी मकर-तोरण तिरुवाचि के भीतर अंकित हैं। इस शृंखला की सर्वोत्कृष्ट मूर्ति स्थानीय लोगों द्वारा वल्लि की मूर्ति बतायी जाती है। यह आकर्षक त्रिभंग-मुद्रा में झुकी हुई नारी की मूर्ति है जो पाँव तक घाघरा पहने खड़ी है। कटि में घाघरे के ऊपर मेखला है। गले में गुलूबंद और हार धारण किये है जो उसके स्तनों के बीच लटक रहा है। उसकी केश-सज्जा में सिर पर धम्मिल जूड़ा है। उसका दाहिना हाथ कटक-जैसी मुद्रा में है जबकि बायें हाथ को वह ऐसे उठाये है जैसे उसमें प्याले-जैसी कोई वस्तु पकड़े हो।

दक्षिण अर्काट जिले में चित्तामूर स्थान में कुछ महत्त्वपूर्ण जैन शैलोत्कीर्ण प्रतिमाओं का समूह नौवीं-दसवीं शताब्दियों के लगभग का है, जिसके चारों ओर चोलकालीन मध्य और अंतिम चरण के निर्मित मंदिर है। इन प्रतिमाओं में बाहुबली, अनुचरों सहित पार्श्वनाथ (चित्र १३५ ख) और यक्षी सिद्धायिका सहित महावीर (चित्र १३६ क) की प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। चित्तामूर तमिल जैनों के एक मठ का प्रमुख केंद्र है।

पहाड़ियों से रहित तंजावुर जिला ऐसे स्मारकों से वंचित है किन्तु इस काल के विशिष्ट जैन पुरावशेष चेन्दलै, ज्ञाननादपुरम, कुहूर, मरुत्तुवक्कुडि, देवंकुडि और पलैयरै में द्रष्टव्य हैं। मदुरै के निकट शमनरमलै मे ६०० से १००० ई० की समयावधि की जैन प्रतिमाएं हैं जिनकी गणना सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक मनोहारी प्रतिमाओं में की जाती है। इस पहाड़ी पर गुफा के भीतर, पाद-पीठ पर अवस्थित एक तीर्थंकर-प्रतिमा है जबकि ऊपर लटकी हुई शिला के ललाट पर देवकोष्ठों में दसवीं शताब्दी के वट्टेजुत्तु अभिलेख सहित दो अन्य तीर्थंकरों के उथले उरेखन हैं। इसी पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिमी ढलान पर स्थित शेट्टीपोडवु नामक प्राकृतिक गुफा (पोडवु अथवा पुडै अर्थात् गुफा) है। उसके प्रवेश-द्वार के समीप ही पहाड़ी पर उत्कीर्ण आसनस्थ विशाल तीर्थंकर-प्रतिमा है जिसके नीचे वट्टेजुत्तु अभिलेख है। गुफा के भीतर तोरणाकार छत पर प्रतिमाओं के पाँच समूह अंकित हैं। इनमें केंद्रीय समूह के नीचे वट्टेजुत्तु अभिलेख है। पहले समूह में सिंहारूढ़ यक्षी अंबिका प्रत्यंचा खींचे

हुए, धनुष को दायें हाथ से और बाण को बायें हाथ से संधान की स्थिति में पकड़े हुए, प्रस्तुत की गयी है। सिंहवाहन के समक्ष अपने हाथों में ढाल-कृपाण लिये गजारूढ़ पुरुष है। यह संयोजन पूर्वोक्त मलैयडिक्कुरुचि के शैलोत्कीर्ण गुफा-मंदिर की विकृत-मुखी प्रतिमायुक्त फलकों की स्मृति दिलाता है (पृ २१२)। इसके पश्चात त्रिछत्रों के नीचे पादपीठ पर आसनस्थ तीर्थंकरों की तीन फलकें हैं। पाँचवीं और अंतिम फलक पर बायें पैर को मोड़कर तथा दायें को नीचे लटकाकर बैठी हुई यक्षी अंकित है। वह दायें हाथ में कमलकली लिये हुए है जबकि बायाँ हाथ उसकी गोद में रखा है। स्पष्टतः वह पद्मावती है। पहाड़ी की पूर्वी ढाल के ठीक दक्षिणी छोर पर पेच्चिपल्लम नामक स्थान है जहाँ ऊपरी चट्टान के सामने एक समतल-सा धरातल है। यहाँ जैन प्रतिमाओं की एक पंक्ति है जिनमें सुपार्श्वनाथ की पाँच कायोत्सर्ग-प्रतिमाएँ हैं। यहाँ पर इन प्रतिमाओं से सबद्ध छह वट्टेजुत्तु अभिलेख हैं। अन्य दो मूर्तियाँ आसनस्थ तीर्थंकरों की हैं। जैसाकि शिलालेखों से ज्ञात होता है ये मूर्तियाँ समर्पण के लिए हैं। इसी प्रकार की सुनिर्मित प्रतिमाएँ मदुरै के निकट नागमलै पहाड़ी पर मिली हैं। किलैयूर-कीलवलवु की पंचपाण्डवमलै भी इस अवधि की विशाल शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण जैन प्रतिमाओं के लिए उल्लेखनीय स्थान है। इनमें तीर्थंकर और यक्षी-जैसी देवियों की मूर्तियाँ हैं। इस स्थान को पल्लिक्कुडम कहते हैं। इसी प्रकार कुप्पलनाथम की पोयगैमलै और उत्तमपलैयम की करुप्पन्नसामि चट्टान पर (चित्र १३६ ख) जैन प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। उनमें अधिकांशतः आदिनाथ, नेमिनाथ और अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं। उनसे संबद्ध अभिलेखों से इनकी पूजनीय स्थिति और निर्माण-काल का सकेत मिलता है। ऐवरमलै नामक प्राकृतिक गुफा में भी जैन तीर्थंकरों और यक्षियों की अनेक मूर्तियाँ वट्टेजुत्तु लिपि में समर्पण-अभिलेखों के साथ हैं। उनमें से ८७० ई० की एक प्रतिमा पाण्ड्य नरेश वरगुण वर्मन के राज्यकाल की है जिसमें इस स्थान पर प्रतिष्ठापित पार्श्वनाथ की प्रतिमा के हेतु प्रदत्त दान का उल्लेख है।

तिरुनेलवेली जिले के इरुवडि नामक स्थान की इरट्टैपोट्टै चट्टान पर एक प्राकृतिक गुफा है। इस गुफा के पर लटकते हुए शिलाखण्ड के पर निम्न-उद्भृत शैली की जैन मूर्तियों की एक शृंखला वट्टेजुत्तु लिपि में समपर्ण-अभिलेखों के साथ अंकित है। उत्तमपलैयम और अय्यमपलैयम (ऐवरमलै) के समान जैनाचार्य अज्जणंदि का उल्लेख यहाँ के अभिलेखों में भी है जो उनके समसामयिक होने का सकेत करता है। सिंगीकुलम की पहाड़ी पर स्थित भगवती-मंदिर पहले एक यक्षी का जैन मंदिर था। साक्षी के रूप में इसके गर्भगृह में विद्यमान तीर्थंकर की एक प्रतिमा है जिसे अब गौतम ऋषि कहा जाता है। सर्वाधिक उल्लेखनीय आठवीं-नौवी शताब्दियों की जैन प्रतिमाओं (चित्र १३७ क, १३७ ख, और १३८) की एक शृंखला वट्टेजुत्तु अभिलेखों के साथ कलुगुमलै में मिली है। इन शिल्पांकनों में धरणेंद्र और पद्मावती के साथ पार्श्वनाथ, अंबिका और अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि प्राचीन शय्याओं से युक्त और ब्राह्मी अभिलेखांकित प्राकृतिक गुफाएँ ६०० से १००० ई० की अवधि में विकास के दूसरे चरण तक आवास के हेतु प्रयोग में

लायी जाती रही; जैसाकि इस काल में प्रतिमाओं की अभिवृद्धि, ईंटों द्वारा भवन-निर्माण और वट्टे जुत्तु तथा तमिल लिपियों के शिलालेखों से प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त अन्य गुफाएँ और शैलाश्रय जैनाचार्यों और साधुओं के द्वारा आवासित पल्ली के रूप मे उपयोग में आते रहे, जिसकी साक्षी हैं शिलामुखों पर उत्कीर्ण और अन्य स्वतंत्र-उद्भूत प्रतिमाएँ। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं किन्तु यहाँ केवल अति-विशिष्ट और प्रख्यात कृतियों का ही उल्लेख किया गया है। तथापि, यह कहना पड़ेगा कि दिगबर जैन सामग्री के समृद्ध भण्डार का अध्ययन और क्रमबद्ध प्रतिमा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण तमिलनाडु में होना अभी शेष है।

कन्याकुमारी जिले मे चितराल के समीप तिरुच्चारणत्तुमलै से प्राप्त प्रतिमाओं का वर्णन इसी अध्याय में आगे किया गया है।

शैलोत्कीर्ण और स्वतत्र दोनों ही प्रकार के निम्न-उद्भृतों के अतिरिक्त कुछ विशेष मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई है। आंध्रप्रदेश में कुड्डपह जिले के दानवलपडु के भग्न मदिर से कुछ प्रतिमाएं मद्रास राज्य के सग्रहालय में लायी गयी थी, वे काले प्रस्तर पर राष्ट्रकूट-कला के सुदर उदाहरण हैं। तिरुनेलवेलि जिले के तूतीकोरिन की महावीर स्वामी की प्रतिमा ग्रेनाइट पर पाण्ड्य-कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। एक मीटर से अधिक ऊँचाई की आसनस्थ तीर्थंकर की प्रतिमा पुट्टम्बूर (पुडुक्कोट्टै—तिरुच्चिरापल्ली जिला) के एक टीले पर ईंटों के मदिर के भग्नावशेष से उपलब्ध हुई है जो उचित समानुपात का उल्लेखनीय चोल उदाहरण है। पुडुक्कोट्टै सग्रहालय में मोसकुडि से प्राप्त आसनस्थ तीर्थंकर की प्रतिमा ग्रेनाइट से निर्मित एक अति-सामान्य प्रस्तुति है जबकि ग्रेनाइट की ही मंगट्टै वनपट्टी से प्राप्त इसी सग्रहालय की पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग-प्रतिमा का शिल्पांकन कुछ अधिक कलात्मक है।

के० आर० श्रीनिवासन

केरल के पुरावशेष

केरल मे ऐसे वास्तु-स्मारक कम ही हैं जिनका निर्माण नौवी से ग्यारहवी शताब्दियों के मध्य हुआ। इस अवधि में आय शासकों ने दक्षिण मे, और चेर शासकों ने मध्य केरल में इस धर्म को सरक्षण प्रदान किया। प्राचीन चेर देश में जैन धर्म का प्रचलन और भी पहले से था क्योंकि इस वश के कुछ शासको ने तमिल-सगम-युग में इस धर्म के लिए कार्य किया था। उदाहरण के लिए, तिरुच्चिरापल्ली जिले मे करूर के निकटवर्ती पुगलूर में एक शैलाश्रय के ऊपरी भाग पर परनाले के ठीक नीचे लगभग दूसरी शती ईसवी के दो चेर अभिलेख हैं। इन अभिलेखों के अनुसार यह शिला (कल) चेण्कायपन् नामक एक जैन मुनि के हेतु को-आतन चेरल इरुम्पोरै के प्रपौत्र द्वारा उत्खनित (अरुपित) करायी गयी थी।[1] शय्याओं और सिरहानो के पास उत्कीर्ण अभिलेखो में से कुछ में उनके उपयोग-कर्ताओं के

1 एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी, 1927-28. 1929. मद्रास. क्रमाक 341-49, पृ 50./ एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी, 1963-64 1967. दिल्ली /महादेवन (आई). कॉर्पस ऑफ द तमिल-

नाम उल्लिखित हैं और ऐसी एक शय्या (अधिष्ठानम) स्वयं चेण्कायपन् के लिए थी। पुगलूर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण जैन केंद्र था, यह तथ्य वहाँ के एक विशाल प्रतिष्ठान से प्रमाणित होता है। इसमें उसी पर्वत पर चार शैलाश्रय हैं जिनमें लगभग तीस मुनियों के आवास की व्यवस्था है। जैसाकि अभिलेखों से ज्ञात होता है, ये मुनि अधिकतर समीपवर्ती ग्रामों के निवासी थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि दक्षिण भारत में जैन धर्म के आरंभिक काल का प्रतिनिधित्व पूर्वी तट पर यत्र-तत्र विद्यमान ये शैलाश्रय करते हैं, किन्तु पश्चिमी तट पर, विशेष रूप से केरल की वर्तमान राजनीतिक सीमाओं के अंतर्गत, इस युग के निर्माण-कार्य ने कोई प्रगति नहीं की।

केरल में जैन धर्म का उदय कदाचित् उस समय हुआ जब नौवीं शताब्दी में चेर वंश अपनी नयी राजधानी महोदयपुरम (आधुनिक तिरुवंचिकुलम, जिला त्रिचूर) में पुनरुज्जीवित हुआ। अभिलेखीय और साहित्यिक तथ्यों के अनुसार इस काल में, चेर राजधानी के समीप कहीं स्थित तिरुक्कुणवाय मंदिर एक विशाल जैन केंद्र था। कन्नानोर जिले में तलक्कवु की जैन बस्ती में उपलब्ध एक अभिलेख में आठवीं शती के आरंभ में तिरुक्कुणवाय-मंदिर की स्थापना का उल्लेख है।[1] निस्संदेह, ये निर्मित-शैली के मंदिर थे, किन्तु जैन आवासों के रूप में शैलाश्रयों के उपयोग की परंपरा नौवीं शताब्दी में केरल में भी थी। इस काल में निर्मित केरल के सभी वास्तु-स्मारक दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—शैलाश्रय और निर्मित-मंदिर। प्रथम वर्ग के मंदिर अभी तक सुरक्षित हैं, भले ही वे भगवती-मंदिर के रूप में परिवर्तित कर लिये गये हों, किन्तु निर्मित-मंदिरों के मूलस्वरूप को खोज पाना कठिन है।

प्राचीन आय राज्य का सर्वाधिक प्रभावशाली शैलाश्रय (चित्र १३९ क) कन्याकुमारी जिले में चितराल के निकट तिरुच्चरणत्तुमलै नामक पहाड़ी पर स्थित है। प्राकृतिक गुफा के पार्श्व में ऊपर लटकती हुई शिला से बने शैलाश्रय में बहुत-सी तीर्थंकर-मूर्तियाँ (चित्र १३९ ख) और दूर-दूर से आये दर्शनार्थियों द्वारा अभिलेख सहित उत्कीर्ण करायी गयी पूजार्थ मूर्तियाँ हैं।[2] इन शिल्पांकनों में

ब्राह्मी इंस्क्रिप्शंस. सेमिनार ऑन इंस्क्रिप्शंस. 1966. 1968 मद्रास. पृ 65-67./कृष्णन (के जी). चेर किंग्ज ऑफ द पुगलूर इंस्क्रिप्शंस. जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री. 4; 1970-71; पृ 137-43. / [पृ 104 भी द्रष्टव्य—संपादक].

1 नारायणन (एम जी एस). न्यू लाइट ऑन कुण्वायिर्कोट्टम एण्ड द डेट ऑफ शिलप्पदिकारम. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री. 48; 1970; 691-703. / नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दियों में अनेक मंदिर इस मंदिर के आदर्श पर बने और जैसी कि अनुश्रुति है, शिलप्पदिकारम के लेखक इलंगो अडिगल ने यहाँ संन्यास के अनंतर आश्रय लिया था। यह उल्लेखनीय है कि ग्यारहवीं शताब्दी के दो मंदिरों—कोजीकोड जिले के किनलूर स्थित शिव मंदिर और कोजीकोड स्थित अर्धवृत्ताकार आयोजना का तिरुवन्नुर मंदिर—के अभिलेखों में परोक्ष उल्लेख है कि तिरुक्कुणवाय में एक जैन मंदिर था।

2 राव (टी ए गोपीनाथ). जैन एण्ड बौद्ध वेस्टिजेज इन त्रावनकोर. त्रावनकोर आर्कियोलॉजिकल सीरीज. 2, भाग 2; 1919. त्रिवेन्द्रम. पृ 125-27.

पार्श्वनाथ, महावीर और पद्मावती की मूर्तियाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पद्मावती देवी अपने वाहन सिंह के ऊपर पद्मासन पीठ पर आसीन हैं। कुछ अनुचर भी पद्मावती के दोनों ओर अंकित हैं। वास्तव में, यहाँ की सभी प्रमुख मूर्तियों पर भक्त या उड़ते हुए विद्याधर अंकित हैं। अधिकांश तीर्थंकर-मूर्तियों के मस्तक पर छत्रत्रय हैं और वे सत्वपर्यंक-मुद्रा में आसीन हैं, किन्तु पार्श्वनाथ की मूर्ति नाग की त्रिफणावली के नीचे सौम्य खड्गासन-मुद्रा में अंकित की गयी है।

आय-नरेश विक्रमादित्य वरगुण (लगभग ८८५-६२५ ई०) का एक अभिलेख यहाँ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेख है जिसमें तिरुच्चारणत्तुमलै के भटारियार[1] को दिये गये कुछ स्वर्ण आभूषणों के उपहार का उल्लेख है। सभी पूजार्थ मूर्तियों के आसन के नीचे वट्टेजुत्तु लिपि में संक्षिप्त अभिलेख हैं जिनमें दाता के नाम और स्थान का उल्लेख है। इन अभिलेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह जैन प्रतिष्ठान कम-से-कम तेरहवी शताब्दी के मध्य तक सक्रिय रहा, जिसके पश्चात् इसे भगवती-मंदिर में परिवर्तित कर दिया गया।

एर्णाकुलम जिले में पेरुंबवुर के निकट कल्लिल में एक और जैन शैलाश्रय है (चित्र १४० क); इसे भी परवर्ती काल में भगवती-मंदिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया (चित्र १४० ख)। इस शैलाश्रय के मुखभाग पर महावीर की एक अपूर्ण पद्मासनस्थ मूर्ति उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त, भगवती-मंदिर की पृष्ठ-भित्ति पर सिंहासन पर आसीन महावीर की मूर्ति सत्वपर्यंक-मुद्रा में उत्कीर्ण है। इस मूर्ति में भी महावीर के मस्तक पर छत्रत्रय का अंकन है। उनके पीछे दो अनुचर दिखाये गये हैं जिनमें से एक चमर धारण किये हुए हैं। धातु-पत्र से मढ़ी हुई पद्मावती की पाषाण-मूर्ति उक्त महावीर-मूर्ति के पास स्थापित है और उसे अब भगवती के रूप में पूजा जाता है[2]।

केरल में शैलाश्रयों के प्रायः समकालीन कुछ निर्मित-मंदिरों के खण्डहर मिलते हैं, जिनमें से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण मंदिर पालघाट जिले में अलथुर के निकट गोदापुरम में है। शाक्कयार भगवती-मंदिर के स्थानीय नाम से प्रसिद्ध इस स्थान से दो जैन मूर्तियाँ मिली थीं जो अब त्रिचूर संग्रहालय में हैं। महावीर की मूर्ति सत्वपर्यंक-मुद्रा में सिंहासन पर आसीन है और उसके मस्तक पर छत्रत्रय का अंकन है। पादपीठ पर चार अर्ध-स्तंभों के मध्य सामने मुख किये तीन सिंह लांछन के रूप में उत्कीर्ण हैं। दोनों ओर दहाड़ते हुए सिंहों के ऊपर एक-एक अनुचर दायें हाथ में चमर लिये हुए अंकित किया गया है। बायाँ हाथ कटि पर है। पार्श्वनाथ की मूर्ति युगल-पत्रोंवाले पद्मपुष्पों से निर्मित पीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित है और उसके मस्तक पर नाग की त्रिफणावली है। नाग की पूंछ पादपीठ और जंघाओं को लपेटती हुई पीछे की ओर जाती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कल्लिल और चित-

1 राव (टी ए गोपीनाथ). चितराल इन्स्क्रिप्शन ऑफ विक्रमादित्य वरगुण. **ट्रावनकोर आर्कियॉलॉजिकल सीरीज़.** 1, भाग 12. 1912. पृ 193-94.

2 राव, पूर्वोक्त, 1919, पृ 130.

राल की भाँति यह स्थान भी भगवती-मंदिर के नाम से प्रसिद्ध था। इस परंपरा से यह संकेत मिलता है कि इस मंदिर-समूह में पहले पद्मावती की मूर्ति भी स्थापित थी।

गोदापुरम स्थान पर वर्तमान में निर्मितियों के कुछ खण्डहर और यत्र-तत्र बिखरे हुए वास्तु-खण्ड ही विद्यमान हैं। यह क्षेत्र एक छोटे टीले के समान दिखाई देता है। उत्खनन से इसमें निर्मिति के मिलने की पूरी-पूरी संभावना है। इसके एक खुले हुए भाग से ग्रेनाइट पाषाण से निर्मित किसी मंदिर का अंश और उसका मंचक-शैली का अधिष्ठान स्पष्ट दिखाई पड़ता है। साथ ही, बिखरे पड़े वास्तु-खण्डों में अधिष्ठान के अवयव, यथा—उपान, जगती, त्रिपट्ट-कुमुद, कम्पों सहित कण्ठ-पट्टिका आदि तथा वृत्त-कुमुद के कुछ खण्ड भी, जो निश्चित रूप से किसी और मंदिर के हैं, देखे जा सकते हैं। इस जैन अधिष्ठान के सभी मंदिरों की रूप-रेखा, जैसाकि इनकी गोटों से प्रतीत होता है, मूलतः वर्गाकार या आयताकार थी और उनमें पद्मासन या खड्गासन तीर्थंकर-मूर्तियाँ स्थापित थीं।[1] शैली के आधार पर ये मूर्तियाँ नौवीं-दसवीं शताब्दी की मानी जा सकती हैं। इस तिथि की पुष्टि दसवीं शताब्दी की वट्टेजुत्तु लिपि में उत्कीर्ण एक तमिल अभिलेख की खोज से भी हो चुकी है।[2] इस तिथि-रहित अभिलेख में उक्त मूर्ति का उल्लेख तिरुक्कुणवायत्तेवर के नाम से हुआ है जिससे कुण्वायिर्कोट्टम का स्मरण हो आता है जहाँ शिलप्पदिकारम के लेखक ने अपने चेर राज्याधिकार को छोड़कर आश्रय लिया था। इस जैन अभिलेख के समय और प्राप्ति-स्थान से यह निष्कर्ष निकलता है कि द्वितीय चेर राजवंश के उदय के समय जैन धर्म अपने उत्कर्ष काल में था।

पालघाट नगर में भी आठवें तीर्थंकर चंद्रप्रभ को समर्पित एक जैन मंदिर है पर उसके निर्माणकाल का अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि वर्तमान काल में किये गये जीर्णोद्धार-कार्यों ने उसको सर्वथा नया रूप दे दिया है। वर्तमान मंदिर के सामने एक प्राचीन मंदिर का अधिष्ठान है (चित्र १४१) और दक्षिण के किसी भी ब्राह्मण्य मंदिर की भाँति इसके सामने भी एक अर्धपीठ है। इस ध्वस्त मंदिर का ग्रेनाइट पाषाण से निर्मित अधिष्ठान मंचक-शैली का है। इस स्थान से वज्रपर्यंक-मुद्रा में आसीन शीर्षविहीन जैन मूर्ति (चित्र १४२) मिली थी। इसका शिल्पांकन दक्षिण भारत में साधारणतः मिलनेवाले शिल्पांकनों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। इसके उन्नत एवं पुष्ट कंधे और इकहरी देहयष्टि उत्तर-भारतीय शैली का स्मरण दिलाते हैं।

यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि ब्राह्मण्य धर्म के पुनर्जागरण के साथ बहुत से जैन मंदिर ब्राह्मण्य मंदिरों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये। उदाहरण के लिए, त्रिचूर जिले के इरिंगलकुड का कुडलमणिक्कम-मंदिर, जो अब राम के भ्राता भरत के लिए समर्पित है, प्रचलित

1 इण्डियन आॅर्कियोलाजी, 1968-69, ए रिव्यू. 1971. नई दिल्ली. पृ 86.

2 एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी. 1959-60. क्रमांक 438. / जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री. 44; 1966, पृ 537 तथा सं० 48; 1970; पृ 692.

परंपरा के अनुसार मूलत: भरतेश्वर मुनि के लिए बनवाया गया था ।[1] यद्यपि इस तथ्य का निश्चय कर पाना कठिन है, किन्तु जैन मंदिरों के ब्राह्मण्य मंदिरों के रूप में क्रमश: परिवर्तन की प्रक्रिया चितराल और कल्लिल के उदाहरणों से भली-भाँति प्रमाणित होती है। इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति कन्याकुमारी जिले में नागर कोइल के नागराज-मंदिर में भी दृष्टिगत होती है जिसमें स्तंभों और भित्तियों पर उत्कीर्ण ब्राह्मण्य मूर्तियों के आसपास जैन शिल्पांकन अब भी बच रहे हैं। यह मंदिर कम से कम कोल्लम ६९७ (१५२२ ई०) तक जैन रहा, जब इसे त्रावणकोर के राजा भूतलवीर उदय मार्त्तण्डवर्मन से दान प्राप्त हुआ ।[2] इस मंदिर में उत्कीर्ण महावीर, पार्श्वनाथ और उनकी शासनदेवी पद्मावती की मूर्तियाँ शैली के आधार पर सोलहवीं शताब्दी की मानी जा सकती हैं। तथापि, एक-एक आसीन मूर्ति से लिपटे हुए पंचफण नागों की दो विशाल मूर्तियाँ दसवीं शताब्दी की मानी जानी चाहिए—जबकि आय राज्य में जैन धर्म अपने उत्कर्ष काल में था। कोल्लम ७६४ (१५८९ ई०) में निर्मित अनंत-मंदिर के संदर्भ में गोपीनाथ राव ने लिखा है कि पार्श्वनाथ की मूर्ति कदाचित् परवर्ती काल में विष्णु के आदिशेष अर्थात् नागर तिरुवनन्तात्वान के रूप में परिवर्तित हो गयी थी ।[3]

शैलाश्रयों और कुछ निर्मित-मंदिरों के रूप में जैन धर्म ने केरल में पड़ोस के पाण्ड्य देश से प्रेरणा प्राप्त की होगी। तिरुनेल्वेलि जिले के कलुगुमलै की एक विशाल चट्टान पर अभिलेखों सहित उत्कीर्ण अगणित निम्न-उद्भृतों की चितराल के शिल्पांकनों से प्रत्येक दृष्टि से तुलना की जा सकती है। किन्तु केरल में, विशेषत उत्तर केरल में, इस धर्म के उत्कर्ष को मैसूर क्षेत्र से भी किसी सीमा तक प्रेरणा मिली होगी। कुछ जैन प्रतिष्ठान आज भी कोजीकोड जिले के वाइनाड क्षेत्र के कलपेट्टा, मानण्टोडी तथा अन्य स्थानों में विद्यमान हैं। इसी जिले में सुलतान की बैटरी के समीप एडक्कल पहाड़ी के पश्चिमी ढलान पर जो शैलाश्रय है उसे कुछ अधिकारी विद्वान् जैन परंपरा का मानते हैं ।[4] यद्यपि, इस शैलाश्रय में अभिलेख हैं जिनमें से एक छठवीं शताब्दी का है, और शिल्पांकन भी है, तथापि इसमें ऐसा कोई चिह्न नहीं जिससे उसे जैन कहा जा सके ।[5] किन्तु, गणपति-पट्टम के नाम से भी प्रसिद्ध और एडक्कल शैलाश्रय के निकट स्थित सुल्तान की बैटरी में एक बड़ी जैन बस्ती के खण्डहर हैं जिनकी तिथि यदि और पहले की न भी हो तथापि तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी की तो होनी ही चाहिए। पूर्ण-रूप से ग्रेनाइट पाषाण द्वारा निर्मित यह मंदिर चैत्यवास का एक उदाहरण है। इसकी अक्षवत् रूप-रेखा में एक वर्गाकार गर्भगृह, अर्ध-मण्डप और महा-मण्डप हैं जिन्हें बाद में एक आवृत भवन का रूप देकर दो खण्डों में विभक्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक मुख-मण्डप भी है जो केरलीय

1 मेनन (ए श्रीधर). **ए सर्वे ऑफ केरल हिस्ट्री**. 1967. कोट्टायम. पृ 88-89.

2 राव, पूर्वोक्त, 1919. पृ 127-28.

3 वही, पृ 129, पादटिप्पणी, 2.

4 मेनन, पूर्वोक्त, पृ 89. / पिल्लै (एलमकुलम पी एन कुंजन). **स्टडीज इन केरल हिस्ट्री**. 1970. कोट्टायम. पृ 261.

5 फॉसेट (एफ). नोट्स ऑन द रॉक कार्विंग्स इन दि एडक्कल केव, वाइनाड. **इण्डियन एण्टिक्वेरी**. 30; 1901; पृ 409-21.

परंपरा के नमस्कार-मण्डप से मिलता-जुलता है। किन्तु केरल की मंदिर-शैली के विपरीत इस मंदिर की पाषाण-निर्मित छत किंचित् ढलुवाँ है जिसपर दो अस्पष्ट स्तूपिकाएँ निर्मित हैं—एक गर्भगृह पर और दूसरी महा-मण्डप पर। कदाचित् इस मंदिर की मूल अधिरचना पूर्ण रूप से नष्ट हो गयी है। अपने मूल रूप में यह मंदिर एक स्तंभावलि से जुड़ा रहा होगा जिसके अधिकतर स्तंभों के कट्टु अष्टकोण और शदुरम चतुष्कोण हैं। महा-मण्डप के स्तंभ अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं और उनके गुण्डाकार दण्ड और अलंकरण विजयनगर-परंपरा का स्मरण दिलाते हैं। यद्यपि गर्भगृह में अब कोई मूर्ति नहीं है, किन्तु उसके प्रवेश-द्वार के ललाट-बिम्ब पर एक पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति है। अर्ध-मण्डप के सरदल पर भी एक ऐसी ही मूर्ति उत्कीर्ण है।

दशाब्दियों पूर्व सुल्तान की बैटरी के निकट अनेक खण्डित जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, किन्तु यह कह पाना कठिन है कि वे सब उपर्युक्त मंदिर की ही मूर्तियाँ थीं। कदाचित् ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी की एक कायोत्सर्ग-तीर्थंकर-मूर्ति इनमें से एक है। इसके मस्तक पर छत्रत्रय है और केश घुंघराले हैं। यह निस्संदेह तोरण पर उत्कीर्ण मूर्ति है क्योंकि इसके चारों ओर प्रवेश-द्वार के तोरण की आकृति है। उपलब्ध सामग्री में एक पट्टिका के भी बहुत से खण्ड हैं जिनपर पंक्तियों में लघु तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये खण्ड किसी चतुर्विंशतिपट्ट के हैं। आसीन मूर्तियों में अधिकांश वज्रपर्यंक-मुद्रा में हैं और उनमें से एक के पादपीठ के मध्य में सिंह अंकित है।

हरिविष्णु सरकार

भाग 5

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला
1000 से 1300 ई०

अध्याय 20

उत्तर भारत

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में भारत के उत्तरी भाग के अधिकांश क्षेत्र पर जिन दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया वे थीं चाहमान और गाहड़वाल शक्तियाँ। इस कालावधि के कलात्मक, साहित्यिक और धार्मिक क्रिया-कलाप न केवल विकास के उच्च स्तर की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं अपितु इस दृष्टि से भी कि वे हमारे युगीन सांस्कृतिक विकास की सतत शृंखला के अंतिम चरण के प्रतीक हैं। मध्ययुग में, भारत के उत्तरी भाग में, एक ओर जहाँ कला और साहित्य ने पारंपरिक विकास का मार्ग अपनाया, वहीं धार्मिक विकास ने, परस्परविरोधी दार्शनिक विचार-धाराओं के होते हुए भी, देश, जाति और कुलधर्म की सीमा के भीतर रहते हुए, अनुकूलनीयता एवं सहिष्णुता का परिचय दिया। जैन, ब्राह्मण और अन्य मत साथ-साथ फले-फूले और राजकुलों ने विलक्षण उदार दृष्टिकोण बनाये रखा तथा धार्मिक संस्कारों एवं विश्वासों के विषय में अपने प्रजाजनों के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया।

शाकंभरी के चाहमान, जिन्होंने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ख्याति प्राप्त की, कला और साहित्य के आश्रयदाता थे। यद्यपि वे ब्राह्मण मतावलंबी थे, तदपि उन्होंने पर्याप्त सीमा तक जैन धर्म को प्रोत्साहित किया। चंद्रसूरि के मुनिसुव्रत-चरित[1] (विक्रम संवत् ११९३ = ११३६-३७ ईसवी) के अनुसार पृथ्वीराज-प्रथम ने रणथम्भौर के जैन मंदिर पर स्वर्णकलश चढ़ाकर जैन धर्म के प्रति अपना आदर व्यक्त किया था। उसके पुत्र अजयराज ने न केवल अपनी नयी राजधानी अजयमेरु (अजमेर) को जैन मंदिरों से सुशोभित होने का अवसर दिया अपितु वहाँ स्थित पार्श्वनाथ-मंदिर को स्वर्णकलश भी समर्पण किया। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि अर्णोराज ने जैन आचार्य जिनदत्त-सूरि के अनुयायियों को एक मंदिर के निर्माण के लिए भूमि प्रदान की थी तथा यह भी कहा जाता है कि वे श्वेतांबर आचार्य धर्मघोष-सूरि और दिगंबर पण्डित गुणचंद्र के बीच शास्त्रार्थ में निर्णायक भी बने थे।

1 पुहरायेण सयंभरी-नरिन्देण अस्स-लेहेण रणखंभीर जिणहरे चडविया कनय-कलशा—शर्मा (दशरथ). अर्ली चौहान डायनेस्टीज, 1959. दिल्ली. पृ 38.

विग्रहराज-चतुर्थ ने न केवल अपनी राजधानी में एक जैन मठ का निर्माण कराया अपितु अपने विशाल राज्य में मास के कुछ विशेष दिनों में पशुओं के बध का भी निषेध कर दिया था। रविप्रभ रचित धर्मघोष-सूरि-स्तुति के अनुसार अरिसिहा (शर्मा[1] के सुझाव के अनुसार मेवाड़ का संभवतः अरि-सिंह) तथा मालवा के एक शासक ने अजमेर के एक जैन मदिर राज-विहार पर पताका फहराने में उसकी सहायता की थी। बिजोलिया[2] स्थित पार्श्वनाथ-मंदिर को पृथ्वीराज-द्वितीय ने एक गाँव दान में दिया था। अर्णोराज के पुत्र सोमेश्वर ने भी बिजोलिया स्थित जैन मंदिर को एक ग्राम दान किया था। पृथ्वीराज-तृतीय ने विक्रम सवत् १२३६ (११८२ ईसवी) में जिनपति-सूरि को एक जयपत्र प्रदान किया था तथा जैन धर्मावलबियों को अनेक उत्तरदायी पदों पर नियुक्त भी किया था।

नादोल के चाहमान, जो गुजरात के चौलुक्यों (सोलंकियों) के अधिक निकट थे, जैन धर्म के प्रति अधिक अनुरक्त थे। चाहमानों की नादोल शाखा के अश्वराज ने, जो स्वयं जैन था, कुछ निर्दिष्ट दिनों में पूर्णरूपेण अहिसा के पालन के लिए आदेश जारी किये थे। अश्वराज के समय के सेवड़ी के १११० ई० के एक शिलालेख में यह उल्लेख है कि महासहनीय उप्पलर्क ने धर्मनाथदेव के दैनिक पूजन के लिए चार ग्रामों में अवस्थित अरहटवाले प्रत्येक कुएं से एक हारक के बराबर दान किया था। इसी स्थान के १११५ ई० के एक अन्य शिलालेख में यह उल्लेख है कि राजा कटुकराज ने शिव-रात्रि के अवसर पर यशोदेव के खत्तक में शांतिनाथ के पूजन के लिए दान दिया था। सन् ११३२ में राजा रायपाल के पुत्रों तथा रानी ने राजपरिवार के अपने भाग में से प्रत्येक कोल्हू से तेल की एक निश्चित मात्रा दान की थी। नादलोई के सन् ११३८ के एक शिलालेख में भी यह वर्णित है कि इस शहर में आने और बाहर जानेवाले व्यापारिक माल पर लगाये कर का बीसवाँ भाग नेमिनाथ के पूजन के लिए दान-स्वरूप दिया जाता था। सन् ११५२ के शिवरात्रि-दिवस पर अल्हणदेव ने अमारी-घोषणा (पशुओ का बध नहीं करने की घोषणा) की थी तथा ब्राह्मणों, पुरोहितो एव मंत्रियों को भी इस राजादेश का सम्मान करने की आज्ञा दी गयी थी। इस वश के शासक ब्राह्मण धर्म के देवताओं, यथा सूर्य, ईशान आदि की पूजा करते थे किन्तु ब्राह्मणों के साथ ही साथ जैन मंदिरों एवं आचार्यों का भी सम्मान करते थे। सहिष्णुता की यह भावना इस युग में सामान्यतः साधारण जनों ने भी अपनायी थी, यद्यपि कभी-कभी विभिन्न धर्मों के आचार्यों में शास्त्रार्थ तथा संघर्ष हो जाया करते थे।

कन्नौज तथा वाराणसी के गाहड़वाल शासकों के संबंध में भी यही बात चरितार्थ होती है। यद्यपि जैन समाज और धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण के बारे में हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं

---

1 वही, पृ 62.

2 तज्ज्येष्ठ भ्रातृपुत्रोऽभूत् पृथ्वीराजः पृथूपम.।
तस्मादर्ज्जितहेमाङ्गो हेमपर्वतदानतः ।।
प्रतिधर्म्मरतेनापि पार्श्वनाथ-स्वयभुवे।
दत्तं मोराझरीग्रामं भुक्तिमुक्तेश्च हेतुना ।।
एपिग्राफिया इण्डिका. 26; 1952; 105.

है, फिर भी एक ही उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उनके धार्मिक विचार उदार और सहिष्णु थे। अपने पूववर्ती राजाओं की भाँति गाहड़वाल शासक गोविंदचंद्र कट्टर ब्राह्मण-मतावलंबी था किन्तु उसकी रानी कुमारदेवी बौद्ध थी। उसके पति ने उसे सारनाथ में बौद्ध धर्म-चक्र-जिन-विहार का जीर्णोद्धार कराने की अनुमति दी थी। गोविंदचंद्र ने श्रावस्ती के बौद्ध संघ को एक गाँव का दान भी किया था।

कौशाम्बी, मथुरा, श्रावस्ती और अन्य स्थानों से प्राप्त जैन प्रतिमाओं से यह संकेत मिलता है कि गाहड़वालों के शासन-काल में जैन धर्म भी भली-भाँति फला-फूला। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वंश के कुछ शासकों का गुजरात के चौलुक्यों से राजनयिक संबंध था। कुमारपालचरित में यह उल्लेख है कि चौलुक्य कुमारपाल ने पशुओं का बध रोकने के लिए अपने मंत्रियों को काशी भेजा था।[1] काशी का विश्वेश्वर नामक कवि, जो प्रबंधचिंतामणि के अनुसार, कुमारपाल के शासनकाल में पाटन में महान् जैनाचार्य हेमचंद्र द्वारा आयोजित एक साहित्य-गोष्ठी में सम्मिलित हुआ था, संभवतः गाहड़वाल शासक द्वारा मनोनीत राज-प्रतिनिधि था। काशी का अधिपति, जिसने प्रसिद्ध जैन कवि अभयदेव को वादिसिंह की उपाधि दी थी, सभवतः परवर्ती गाहड़वाल शासक था। जौनपुर की लाल-दरवाजा-मस्जिद के एक स्तंभ-शीर्ष पर उत्कीर्ण अभिलेख (विक्रम संवत् १२०७ = ११५१ ई०) में किसी भट्टारक भाविभूषण[2] का उल्लेख किया गया है जिसे उसकी उपाधि को देखते हुए एक महत्त्वपूर्ण जैन साधु माना जा सकता है। वह संभवतः जौनपुर क्षेत्र के किसी जैन धार्मिक संस्थान से संबद्ध था।

उत्तर में शिवालिक से दक्षिण में चित्तूर तक और राजस्थान के विशाल मरुस्थल के पूर्वी छोर से वाराणसी तक या उससे भी कुछ आगे तक का विशाल भू-भाग चाहमान और गाहड़वाल सम्राटों के राज्यों में सम्मिलित था। साहित्यिक और पुरातात्त्विक उल्लेख तथा भौतिक अवशेष इसके द्योतक है कि ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में भारत के इस हृदय-प्रदेश में जनता, राजाओं तथा सामंतों ने अनेक जैन मंदिरों का निर्माण कराया था। संभवतः ये भवन जैन कला और स्थापत्य के महत्त्वपूर्ण पक्षों का प्रतिनिधित्व करते थे, किन्तु इस समय हमें जो साक्ष्य उपलब्ध है, वह दुर्भाग्य से देश और काल की दृष्टि से सीमित है। राजस्थान में शाकंभरी, अजयमेरु, आमेर, नागौर, पल्लू, सांगानेर और रणथम्भौर तथा ढिल्लिका (दिल्ली-मेहरौली क्षेत्र) और हरियाणा के आसिका (हांसी), पिजौर तथा कुछ अन्य स्थानों के भव्य चाहमानकालीन मंदिरों का या तो कुछ पता नहीं है या उनके अवशेष इतने खण्डित अवस्था में हैं कि उनसे मंदिर के ठीक-ठीक रूप का वर्णन और उनकी स्थापत्य-विशेषताओं का विश्लेषण किया जाना असंभव है। हाँ, चौलुक्यों के सामंत नादोल के चाहमानों के शासन-काल में निर्मित कुछ महत्त्वपूर्ण मंदिर अब भी अपने मूल रूप में सुरक्षित बचे हैं।

1 नियोगी (रोमा). **हिस्ट्री ऑफ द गाहड़वाल डायनेस्टी.** 1959. कलकत्ता. पृ 82.

2 कनिंघम. (ए) **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया,** रिपोर्ट. 1871. 11; (पुनर्मुद्रित) वाराणसी. 1966. पृ 126.

गाहड़वाल शासन-काल में निर्मित स्मारकों की स्थिति इससे भी अधिक गयी-बीती है। गाहड़वालों के सपूर्ण राज्य (उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के कुछ भाग) में एक भी ऐसा जैन मंदिर या ब्राह्मण्य मंदिर अपने सही रूप में नहीं बच सका है कि जिससे उक्त राजवंश के शासन-काल में देश के उस भाग में मदिर-निर्माण का सामान्य परिचय भी प्राप्त हो सके। जैन-मतानुसार, सपूर्ण भारत में मध्य देश (हरियाणा और उत्तर प्रदेश) इतनी पवित्रतम भूमि है कि उसपर अठ्ठारह तीर्थंकरों ने जन्म लिया था और तीर्थंकर-काल बिताया था। प्राचीन काल में यह भूमि जैन संस्कृति की स्रोत-भूमि भी थी। गाहड़वालों के उत्कर्ष-काल में यहाँ, विशेषकर हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, मथुरा, कान्यकुब्ज, कौशाम्बी, वाराणसी, अयोध्या, श्रावस्ती आदि स्थानों तथा अन्य अनेक स्थलों पर असख्य मंदिरों एव अन्य पवित्र भवनो का निर्माण किया गया होगा; किन्तु आज कुछ प्रतिमाओं, खण्डित स्तंभों, अर्ध-स्तभों या भवनो के अन्य अगों को छोड़कर कुछ भी उपलब्ध नहीं है। इस कारण उक्त प्रदेश के मध्यकालीन जैन कला-इतिहास को ठीक-ठीक समझ पाना अत्यत कठिन है।

स्थापत्य

इस युग में निर्मित जैन धार्मिक भवन कई प्रकार के रहे होंगे, जैसे—मंदिर (प्रासाद), देवकुलिकाएं, सहस्रकूट (सामान्यत: पिरामिड के आकार की ठोस संरचना जिसपर सहस्राधिक तीर्थंकर-मूर्तियाँ निर्मित होती है), मान-स्तभ, निषिधिकाएँ (स्मारक-स्तभ), मठ आदि, जिनके सबंध में हमें विभिन्न स्रोतो से जानकारी प्राप्त होती है। चाहमान राज्य संभवत: प्रभावोत्पादक चतु:शालाओं से युक्त सुस्पष्ट लक्षणों वाले जैन भवनों से परिपूर्ण था। ये भवन उन छोटे-छोटे मदिरों या यत्र-तत्र बनी देवकुलिकाओं के अतिरिक्त रहे होंगे जिनके सामने प्रवेश-मण्डप होते थे और वे प्राकार सहित, या बिना प्राकार के होते थे, क्योंकि इन मदिरों का निर्माण निर्माता की क्षमता, इच्छा और आवश्यकता के अनुसार किया जाता था।

जैन मदिरों का सामान्य रूप ब्राह्मण्य मंदिरों से अधिक भिन्न नहीं होता था। हाँ, मूर्तियाँ अवश्य भिन्न होती थी क्योंकि उनका निर्माण जैन धर्म के पौराणिक आख्यानों, दार्शनिक सिद्धातो तथा संस्कार सबधी सकल्पनाओं के अनुसार किया जाता था। वास्तुकार, राज और शिल्पी उसी वर्ग के होते थे जो विभिन्न प्रदेशों मे ब्राह्मण्य या अन्य भवनो के निर्माण का कार्य करते थे।

इस युग के जैन मदिर, ब्राह्मण्य भवनों के ही समान, क्षेत्रीय विभिन्नताओं तथा शैलीगत विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं[1]। चाहमान-काल में जिन मुख्य भवन-निर्माण-शैलियों ने मंदिर-निर्माण-गतिविधि को रूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी वे राजस्थान की उस मूल भवन-निर्माण-परंपरा से जुड़ी थी जिनका सीधा संबंध एक ओर प्रतीहार वास्तु-स्मारकों से था और दूसरी ओर गुर्जर देवकोष्ठों की शैली से। पूर्वी भागों की सादगीपूर्ण स्थानीय शैली का अनुकरण भी अतिरिक्त रूप से होता

1 ढाकी (एम ए). **महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबली वॉल्यूम**. 1968. बम्बई. पृ 306 तथा परवर्ती.

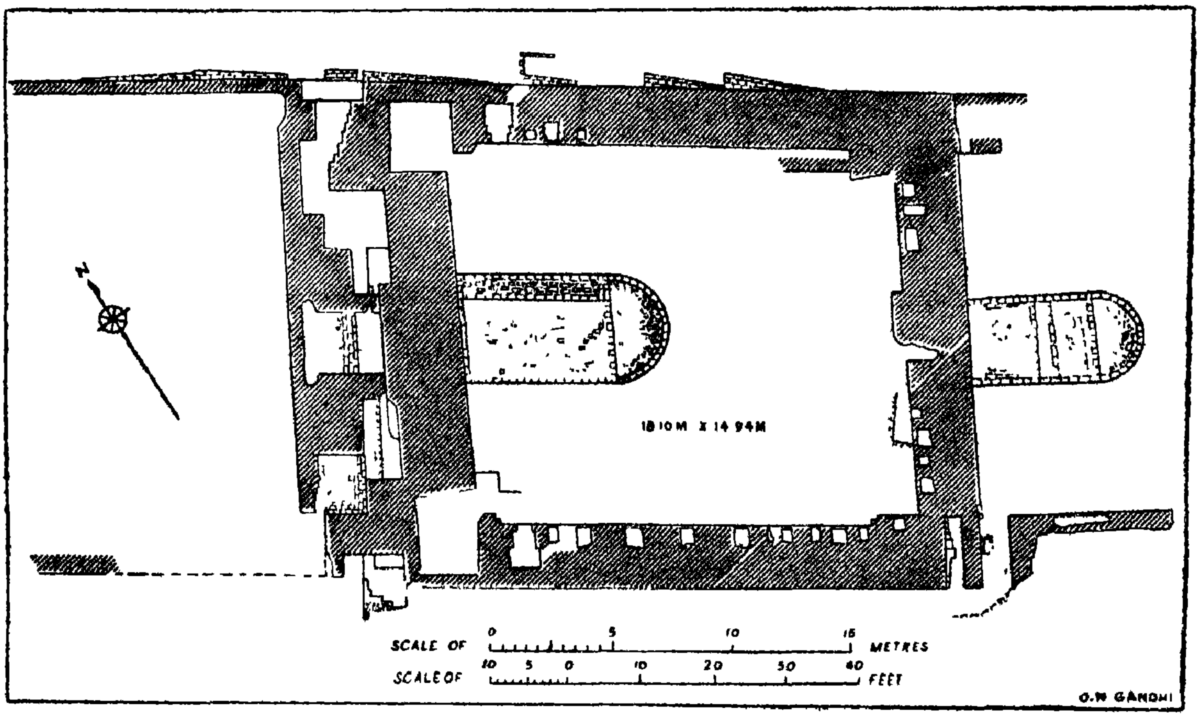
था। यह भी संभव है कि मालवा-दक्खिन के स्थापत्य की परंपरा से संबंधित कुछ मंदिरों का प्रभाव किसी सीमा तक राजस्थान पर भी पड़ा हो। मूल राजस्थानी शैली भव्य, कल्याणकारी किन्तु संयत अलंकरण से युक्त तथा श्रेष्ठ कला-कौशल-संपन्न है। अनेक स्थलों पर तो मध्यकालीन मंदिरों में, विशेषकर उन मंदिरों में जिनका निर्माण प्रौढ़ चाहमान-काल में हुआ, इन निर्माण-शैलियों का मोहक सम्मिलन देखा जा सकता है। इन शैलियों में, सर्वाधिक प्रभावशाली शैली गुर्जर देश की भव्य अलंकरण-शैली सिद्ध हुई जो अपनी उद्गम-भूमि से बहुत दूर मध्य देश तक पहुँच गयी, यद्यपि उसमें कुछ परिवर्तन भी हुआ। ढाकी[1] ने यह ठीक ही कहा है कि : "दोनों ही शैलियाँ, महागुर्जर और महामारु, अधिक समय तक पृथक् और एक दूसरे से अप्रभावित नहीं रह सकीं। एकदम तो नहीं, किन्तु रसाकर्षण की धीमी पर निश्चित रूप से उन्नतिशील प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप, दोनों शैलियों ने पहले तो विचारों का आदान-प्रदान किया और बाद में वे 'गहन परिणय-आलिंगन' में बद्ध हो गयीं, जिसके फलस्वरूप वे एक दूसरे में समाहित होती गयीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक पूर्णतः सम्मिलित, प्रभावशाली, अत्यधिक अलंकृत, संकर किन्तु असाधारण रूप से मानकीकृत शैली—मारु-गुर्जर—का प्रादुर्भाव हुआ। विशिष्ट रूप से इस नयी शैली में यत्र-तत्र स्थानीय स्वरूप भी झलकता था जिसमें कहीं तो महा-मारु और कहीं महा-गुर्जर शैली की विशेषताएँ अधिक उभरती थीं। यह शैली पश्चिम भारत के अधिकांश भाग में समान रूप से फैलती गयी।"

चाहमान-मंदिरों की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं: पंचरथ शिखर-युक्त गर्भगृह (मूल प्रासाद), द्वार-मण्डप, प्राकार-युक्त सलग्न मण्डप (सामान्यतः बद), स्तंभों से युक्त अंतःभाग जिसकी छतें (वितान) अलंकृत होती थीं, तथा प्रवेश-मण्डप। कहीं-कहीं मंदिरों में तोरण या अलंकृत चौखटें भी हुआ करती थीं। चाहमान-युग के जैन तोरण का एक उत्कृष्ट उदाहरण चौदहवें अध्याय में वर्णित ओसिया स्थित प्रसिद्ध महावीर-मंदिर में देखा जा सकता है, जहाँ शिखरों की सज्जा छोटे-छोटे शृंगों के समूह से की गयी है जो कर्ण, भद्र (केंद्रीय) तथा भवन के अन्य स्तरों से ऊपर उठे हुए हैं। जो भी हो, गर्भगृह के ऊपर अंग-शिखरों से रहित एकाकी शिखरों के उदाहरण भी मिलते हैं। विभिन्न कटावदार स्थलों (जिनमें प्रक्षिप्त त्रिकोण-शीर्ष भी सम्मिलित हैं) से निर्मित शिखरों का अलंकरण अधिकांशतः भूमि-विभाजनों तथा अतर्ग्रथित अकनों द्वारा किया गया है; विशेषकर उन शिखरों का जिनपर गुर्जर-निर्माण-कला की छाप है या ठीक-ठीक कहा जाये तो, जैसा कि ढाकी ने सुझाया है, उन शिखरों का जो कि मारु-गुर्जर शैली में बनाये गये हैं। किन्तु इस युग में विशुद्ध राजस्थानी शैली के नमूने अपनी संयत मूर्ति-सज्जा के साथ कदाचित् अधिक प्रभावशाली बने रहे। इनमें जंघा के ऊपर आधार-धारी हाथी, मानवमूर्ति-पट्ट तथा दण्डछाद्य नहीं होते थे। भवनों तथा मण्डपों की छतों पर सुंदर संकेंद्रित स्तरोंवाला उरेखन-युक्त आकर्षक विन्यास होता था। इन वर्गों के मंदिरों के स्तंभों को दो समूहों में बाँटा जा सकता है:

1 वही, पृ 311.

एक तो वे जिनमें अलंकृत तथा सघन मूर्त्यंकन है; और दूसरे वे, जिनका रूप पारंपरिक है और जिनमें स्तंभावली पर तथा उससे ऊपर शृंखलायुक्त घण्टिका, चतुर्भुजी टिकिया आदि लोकप्रिय कला-प्रतीकों का निर्भीक किन्तु सीमित अलंकरण है। कुछ स्तंभ तो सपाट भुजाओं वाले एवं सादे हैं। राजस्थान और दिल्ली (कुतुब क्षेत्र में) के जैन मंदिरों के कुछ अवशेषों में परवर्ती शैली के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

गाहड़वाल-युग की जैन स्थापत्य-कला का अध्ययन कठिन है क्योंकि इसके लिए हमारे पास श्रावस्ती स्थित शोभनाथ (संभवनाथ) मंदिर-स्थल (रेखाचित्र १२) से प्राप्त अत्यंत क्षतिग्रस्त, ईंट निर्मित भवन के अतिरिक्त और कोई सामग्री वास्तव में है ही नहीं। बटेश्वर (जिला आगरा) तथा पारसनाथ (बिजनौर) से प्राप्त जैन मंदिर के पुरावशेषों से हमें उक्त युग की मंदिर-निर्माण-



रेखाचित्र 12. श्रावस्ती : शोभनाथ-मंदिर की रूपरेखा (वोगेल के अनुसार)

कला को समझने में सहायता नहीं मिलती। बटेश्वर के एक ऊँचे टीले के बारे में कार्लाइल[1] ने एक महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किया है : "मैं तुरंत यह जान गया कि अनेक खाइयों के अवशेषों तथा उसपर और उसके आसपास भित्तियों की नींव के अवशेषों से युक्त यह टीला अत्यंत प्राचीन

1 बेगलर (जे डी) तथा कार्लाइल (ए सी). **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिपोर्ट, 1871-72, खण्ड 4.** (पुनर्मुद्रित वाराणसी). 1966. पृ 266.

मंदिरों (संभवतः प्राकारयुक्त मंदिरों) का स्थल रहा होगा।" इस टीले से एक जैन चौमुख, बालक को लिये हुए महिला (अंबिका ?) की मूर्ति, तीर्थंकर मूर्तियों के शीर्ष तथा छत्र भी उपलब्ध हुए थे। क्या इससे यह आभास नहीं मिलता कि प्राकार-युक्त यह ऊँचा टीला मध्ययुगीन जैन मंदिर रहा होगा ? मध्ययुग में उत्तर-भारत के ब्राह्मण्य या बौद्ध मंदिरों के चारों ओर ऊँचे प्राकार नहीं हुआ करते थे।

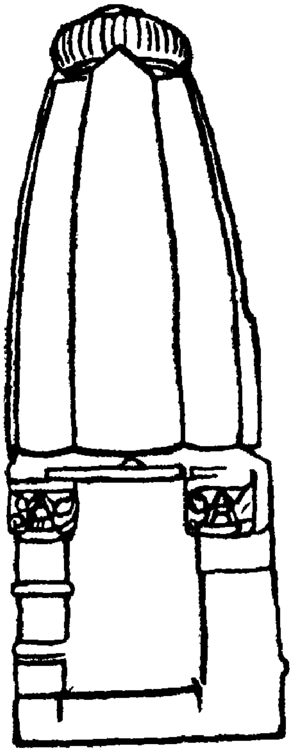
ईंट सदा ही गंगा-यमुना घाटी की मुख्य निर्माण-सामग्री रही है, क्योंकि उसे बनाना सरल है। पत्थर केवल उसके निकटवर्ती क्षेत्रों, यथा, हिमालय की पहाड़ियों, दिल्ली और मथुरा के निकट अरावली पर्वत के विस्तार, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में वाराणसी तक विंध्य पर्वत-श्रेणियों में ही पाया जाता था। गाहड़वाल-युग के अधिकांश मंदिर, चाहे वे ब्राह्मणों के हों, अथवा जैनों के, ईंटों से ही बनाये गये होंगे और इस प्रकार के मंदिरों का विकास-क्रम पत्थरों से निर्मित मंदिरों की संरचना से भिन्न रहा होगा। उनके कुछ प्रकारों, जिनकी रचना कोणीय (चतुष्कोणीय, अष्टकोणीय, दशकोणीय तथा षोडशकोणीय) या वर्तुलाकार हुआ करती थी, का ज्ञान सारनाथ स्थित धर्मचक्र-जिन-विहार के अतिरिक्त, इस युग से पूर्व फतेहपुर, कानपुर और सुल्तानपुर जिलों में[1] निर्मित ईंटों के मंदिरों से प्राप्त किया जा सकता है। नये मंदिरों के निर्माण में पूर्व-निर्मित ध्वस्त भवनों की सामग्री का उपयोग मुक्त रूप से किया जाता था। इस तथ्य की पुष्टि श्रावस्ती-स्थित शोभनाथ-मंदिर के अवशेषों से भी होती है। भवन के अलंकरण के लिए ढली हुई तथा उत्कीर्ण ईंटों का प्रयोग सामान्य रूप से किया जाता था।

पाषाण-निर्मित मंदिरों के स्वरूप की कुछ जानकारी इलाहाबाद संग्रहालय (रेखाचित्र १३) में संगृहीत पाषाण-निर्मित एक लघु देवकुलिका से प्राप्त की जा सकती है। उसकी तिथि ग्यारहवीं शताब्दी मानी गयी है[2]। देवकुलिका की रूपरेखा से ज्ञात होता है कि जहाँ तक शिखर का संबंध है उसके शैली-परिवार का संबंध खजुराहो के आदिनाथ और वामन-मंदिरों से है।

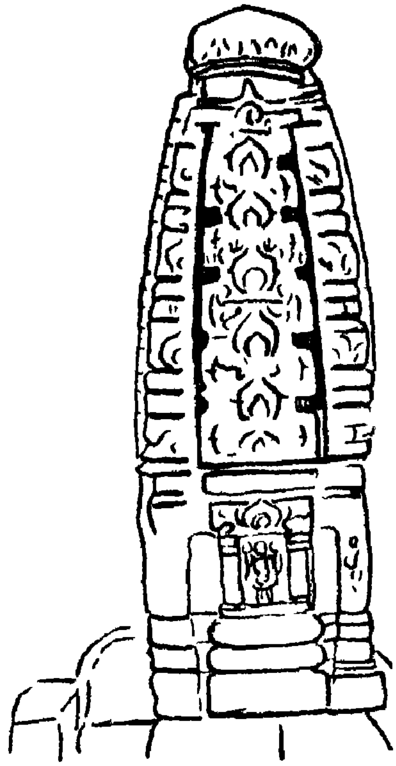
इलाहाबाद संग्रहालय में एक और देवकुलिका की अलंकृत प्रतिकृति है (रेखाचित्र १४), जिसकी तिथि दसवीं शताब्दी मानी गयी है। एक ओर तो यह प्रतिकृति प्रतीहार-शैली के मूल-प्रासाद से निकट रूप से संबंधित जान पड़ती है, वहीं दूसरी ओर वह आगामी युग के शिखर-युक्त गर्भगृह के लिए एक भावी आदर्श रहा है। इसका प्रमाण हमें अल्मोड़ा जिले के द्वारहाट नामक स्थान के मण्या-मंदिर-समूह में लगभग चौदहवीं शती की जैन देवकुलिकाओं के रूप में मिलता है। गाहड़वालों की मंदिर-निर्माण-शैली पर संभवतः, अल्प सीमा तक ही सही, राजस्थान, मध्यभारत और यहाँ तक कि बिहार की कला-परंपराओं का प्रभाव पड़ा था। किन्तु मूल-प्रासाद के संबंध में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीहार-शैली कुछ परिवर्तनों के साथ जारी रही; परन्तु उसमें कुछ ऐसी बोझिलता आ गयी कि अंत

1 जोशी (एम सी). भारती, बुलेटिन ऑफ द कॉलेज ऑफ इण्डोलॉजी, बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी. 8, 1; पृ 66 तथा परवर्ती.

2 प्रमोदचंद्र. स्टोन स्कल्पचर इन दि इलाहाबाद म्यूजियम. 1971 (?). पूना. चित्र 174.



रेखाचित्र 13 इलाहाबाद संग्रहालय देवकुलिका (प्रमोदचन्द्र के अनुसार)



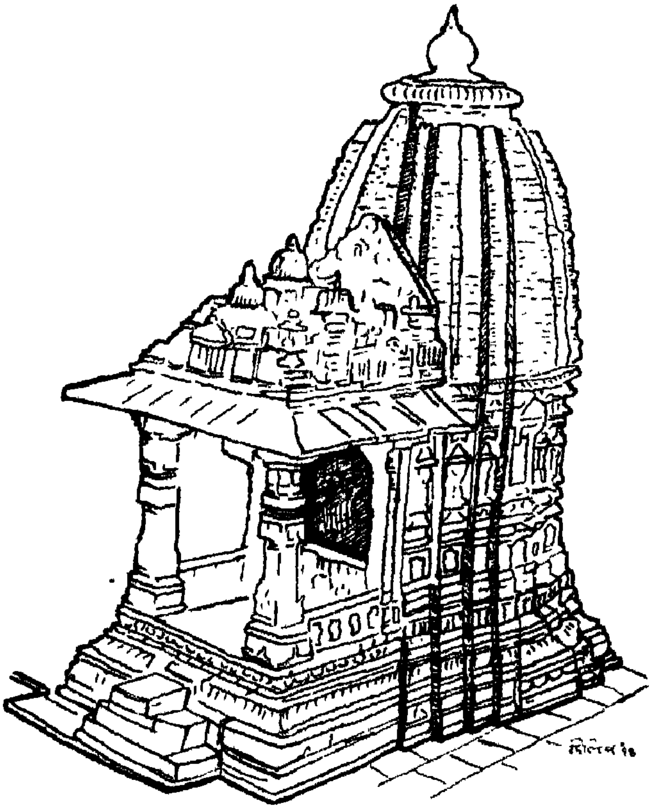
रेखाचित्र 14. इलाहाबाद संग्रहालय मंदिर (प्रमोदचन्द्र के अनुसार)

में वह घिसी-पिटी शैली ही रह गयी। इन मंदिरों में कदाचित् मण्डप और स्तंभ-युक्त कक्ष हुआ करते थे, किन्तु उनके आकार और निर्माण-विवरणों के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मंदिर

चाहमान साम्राज्य के अंतर्गत अनेक जैन मंदिरों का निर्माण किया गया था। जैन साहित्य और समसामयिक शिलालेखों में इस प्रकार के भवनों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मंदिरों के अवशिष्ट भागों एवं अवशिष्ट मूर्तियों से भी यह संकेत मिलता है कि इस अवधि में अनेक जैन मंदिर विद्यमान थे। दुर्भाग्यवश, अधिकांश चाहमान मंदिर और अन्य भवन परवर्ती काल में नष्ट कर दिये गये और जो बचे रहे वे भी जीर्णोद्धार या नवीनीकरण की प्रक्रिया में इतने परिवर्तित हो गये कि उन्हें पहचानना कठिन है। इस अवधि की जैन निर्माण-कला का कदाचित् एक मात्र अच्छा उदाहरण ओसिया (प्राचीन उपकेश) स्थित प्रसिद्ध महावीर-मंदिर-समूह (रेखाचित्र १५) में देखा जा सकता है। इस स्थान का उल्लेख सिद्धसेन-सूरि के सकल-तीर्थ-स्तोत्र में एक जैन तीर्थ-स्थान के रूप में किया गया है। यह मंदिर अपने मूलरूप में प्रतीहार शासक वत्सराज (७८३-७९२ ई०) के शासनकाल में बना था। इसमें

प्रदक्षिणा-पथ सहित गर्भगृह, द्वार-मण्डप, गूढ़-मण्डप, मुख-मण्डप और एक मुख-चतुष्की थे। किन्तु सन् ९५६ में उसका आंशिक रूप से जीर्णोद्धार किया गया। मुख्य मंदिर के आसपास की देवकुलिकाएँ, मुख्य शिखर और एक तोरण ग्यारहवीं शताब्दी में जोड़े गये। मूल गर्भगृह केवल कपोत-स्तर तक ही सुरक्षित रह सका है, जबकि कंगूरों की तीन पंक्तियों के समूह से युक्त शिखर का आगे चलकर राजस्थान की विकसित मध्यकालीन शैली में पुनरुद्धार किया गया है।[1]



रेखाचित्र 15. ओसिया : महावीर-मंदिर-समूह की एक देवकुलिका

इन अतिरिक्त निर्मितियों के होते हुए भी, मंदिर में एक प्रकार की रचनात्मक संगति रह सकी है। निकटवर्ती देवकुलिकाओं के भ्यंग-विन्यास में सामान्यतः प्रवणित पीठ, जैन देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत जंघा, छज्जों से युक्त मुख-चतुष्की, अलंकृत छतें तथा अंतःभाग रहे हैं। फिर भी जैसा कि ढाकी[2] का विचार है, इनके सूक्ष्म निर्माणात्मक परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि ये ग्यारहवीं शताब्दी के विभिन्न चरणों में निर्मित किये गये थे। अलंकरण पक्षों के अतिरिक्त, उक्त मूर्तियाँ अपने युग की जैन मूर्तिकला के वैविध्य का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

1 कृष्णदेव. टेम्पल्स ऑफ नार्दर्न इण्डिया. 1969. नई दिल्ली. पृ 31.

2 ढाकी, पूर्वोक्त, पृ 319 तथा परवर्ती.

इन मूर्तियों में तीर्थंकर, विद्यादेवियाँ, अप्सराएँ, दिग्पाल आदि सम्मिलित हैं। स्थापत्य की दृष्टि से इन देवकुलिकाओं पर पर्याप्त गुर्जर प्रभाव है। इनसे भी प्राचीन मूर्तियों में अब भी प्राचीन राजस्थानी (मारु) शैली की विशेषताएँ पायी जाती हैं (चित्र १४३)।

सन् १०१५ में निर्मित अलंकृत तोरण में प्रचुर संख्या में मूर्तियों से युक्त दो स्तंभ हैं, जो एक महापीठ पर बनाये गये हैं। इनपर पश्चिम भारतीय प्रकार की विशेष गोटें हैं, जिनमें गज-स्तर और नर-स्तर सम्मिलित हैं और वे सरदल को आधार प्रदान करते हैं (चित्र १४४)। सरदल पर बेलबूटे तथा अन्य अलकरण-प्रतीक उत्कीर्ण हैं। उसपर धारीदार चँदोबा है और उसके सबसे ऊपर केंद्र में एक त्रिकोण तिलक है जिसमें तीर्थंकर की प्रतिमा और उसके दोनों ओर एक अलंकृत चौखटे के भीतर मोर उत्कीर्ण है। इस चौखटे के पार्श्व में प्रत्येक ओर एक-एक गौण तिलक भी उत्कीर्ण है। स्तंभ-दण्डों पर सीधी अलंकृत धारियाँ उत्कीर्ण हैं जिनमें तीर्थंकरों एवं विद्याधरों की मूर्तियाँ अंकित हैं। इस युग में तोरणो को मुख्य भवन का महत्त्व बढ़ानेवाले साधन के रूप में माना जाता था। सन् ११६६ के एक राजस्थानी शिलालेख में मंदिर को उत्तुग-तोरण-प्रासाद कहा गया है।

इस प्रकार उक्त महावीर-मंदिर प्रतीहार से चाहमान-युग तक की जैन मंदिर-निर्माण-शैली के विकास-क्रम का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस संबध में ढाकी[1] का मत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है: "इस ओसिया-मंदिर-समूह का योगदान जैन कला और स्थापत्य के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उसका प्रारंभिक सीमा-चिह्न होने के साथ ही हमें कला-कौशल की महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। मुख्य मंदिर जो महामारु स्थापत्य का सुदर नमूना है, जैन शैली के त्रिक-मण्डप या मुख-मण्डप का प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तुत करता है। मंदिर-अलकरण-शैली के परिप्रेक्ष्य में जैन मूर्ति संबंधी उसकी अतिशय समृद्धि अबतक ज्ञात मंदिरों में सब से प्राचीन है। स्वंय देवकुलिकाएँ ही स्थापत्य की सर्वोत्कृष्ट लघु कृतियाँ है और वे विकासाधीन पश्चिमी शैली के और अधिक विकास की जानकारी देती हैं। इसके साथ ही वे जैन मूर्तिकला में हुई उन्नति का भी उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इस तथ्य से कि वे आठवी शताब्दी में नहीं बनायी जाती थी और वे सख्या में कम हैं तथा प्रत्यक्ष ही निर्मित हैं, सम्मिलित रूप में नहीं, यह आभास हो सकता है कि मंदिर-विन्यास की जैन शैली आठवीं शताब्दी में अज्ञात थी और ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में भी उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि वह मूल विन्यास से बेमेल है। जैन मंदिरों की गौरव-कृति, रंग-मण्डप (नृत्य-भवन) का भी अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।"

संभवत: बारहवीं शताब्दी के लगभग मुख्य मंदिर के आसपास देवकुलिकाओं का निर्माण कर उसके सौंदर्य एवं महत्ता को बढ़ाने की पद्धति राजस्थान के जैनों में बहुत लोकप्रिय हो गयी थी, जैसा कि बिजोलिया (प्राचीन विंध्यावली) के एक शिलालेख से ज्ञात होता है। इस पुरालेख में यह उल्लिखित

1 वही, पृ 326-27.

है कि लोलिग या लोल्लक ने, जो पोरवाड़ महाजन था, पार्श्वनाथ का एक मंदिर तथा उसके साथ सात छोटे मंदिर बनवाये थे। यह संभव है कि इन सात देवकुलिकाओं में से चार मंदिर-प्रांगण के चारों कोनों में बनवायी गयी हों तथा शेष उसकी तीन भुजाओं में से प्रत्येक के केंद्र में निर्मित की गयी हों। संभवतः मुख्य मंदिर के सामने एक द्वार रहा होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिजोलिया में पंचायतन प्रकार का एक पार्श्वनाथ-मंदिर है, जिसपर किसी तीर्थयात्री ने विक्रम संवत् १२२६ (११६६ ई०) का यात्रा-वृत्तांत उत्कीर्ण कर दिया है। किन्तु उसका शिल्प-कौशल उच्च कोटि का न होने के कारण विद्वान् उसे लोल्लक या लोलिग द्वारा निर्मित नहीं मानते। पुरालेख में यह भी कहा गया है कि लोल्लक के पूर्वजों ने टोडारायसिंह, भगेरा, नरैना, नरवर और अजमेर में जैन मंदिरों का निर्माण कराया था। उपर्युक्त मंदिरों में से कोई भी मंदिर इस समय विद्यमान नहीं है किन्तु इन स्थानों में से अधिकांश स्थलों पर पायी जानेवाली मध्यकालीन जैन प्रतिमाएँ तथा अन्य अवशेष यह सूचित करते हैं कि इनका महत्त्व जैन तीर्थों के रूप में था।

चाहमान-युग के एक जैन मंदिर के अवशेष मारवाड़ के जैन तीर्थ फलोधी, (प्राचीन फलवर्धिका) में भी पाये गये हैं। यहाँ लगभग ११४७ में पार्श्वनाथ का एक मंदिर बनाया गया था, उसकी प्रतिष्ठापना वादिदेव-सूरि ने करायी थी। शीघ्र ही मुस्लिम आक्रामकों ने इसे नष्ट कर दिया किन्तु बाद में संभवतः इसका जीर्णोद्धार किया गया है। यह विचार व्यक्त किया गया कि जीर्णोद्धार-उत्सव जिनपाल-सूरि[1] ने संपन्न कराया था। मंदिर में पड़े हुए एक संगमरमर-खण्ड पर उत्कीर्ण अभिलेख (विक्रम सवत् १२२१) में यह उल्लेख है कि फलवर्धिका स्थित पार्श्वनाथ-मंदिर को चण्डक ने, तथा पोरवाड़ रोपिमुनि और भण्डारी दसाढ़ ने श्री-चित्रकूटीय-शिलाफट का दान किया था। एक अन्य पुरालेख में सेठ मुनिचंद्र द्वारा उत्तान्न-पट्ट के निर्माण का उल्लेख किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि फलोधी स्थित मंदिर में परवर्ती जीर्णोद्धार और पुनःप्रतिष्ठा (चित्र १४५) के चिह्न विद्यमान हैं, तथापि उसमें अपनी अनेक संरचनात्मक विशेषताएँ सुरक्षित रह सकी हैं, यथा मूल-प्रासाद, द्वार-मण्डप और गूढ़-मण्डप। यह बारहवीं शताब्दी के विकसित मंदिरों के वर्ग में आता है और उसके पश्चिम-भारतीय तत्त्व सुस्पष्ट हैं। मण्डप अपेक्षाकृत सादगीपूर्ण है किन्तु मूल-प्रासाद की संरचनात्मक विशेषताएँ आकर्षक हैं।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि अजमेर स्थित मस्जिद, अढ़ाई-दिन-का-झोंपड़ा, मूल रूप से एक जैन मंदिर था। अपने मत के समर्थन में वे यह विचार प्रकट करते हैं कि इस मस्जिद के पास और उसके भीतर जैन मूर्तियाँ पायी गयी थीं। कुछ लोग उसकी पहचान उस जैन मठ से करते हैं जो राज-विहार के नाम से विख्यात था तथा जिसपर विग्रहराज ने झण्डा फहराया था। कजिन्स ने इस मत का यद्यपि दृढ़ता से खण्डन किया है, तथापि यह स्वीकार किया जा सकता है कि मस्जिद के परिवर्तित रूप में भी उसकी संरचना चतुष्कोण जैन मंदिरों तथा उनकी अलंकृत छतों (चित्र १४६) से मिलती-जुलती है। स्तंभों का रूपांकन सबल है और उसमें सुस्पष्ट अलंकरण-योजना है (चित्र १४७)।

1 (जैन) कैलाशचंद. **एंशियेण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ़ राजस्थान**. 1970. दिल्ली. पृ 426.

आमेर में भण्डारकर[1] को तीन ऐसे जैन मंदिरों का पता चला जो मूल रूप से जैन मंदिर थे, किन्तु बाद में उन्हें शिव मंदिरों का रूप दे दिया गया। इनमें से सबसे प्राचीन लालशाह-का-मंदिर जान पड़ता है। इसमें गूढ़-मण्डप सहित तीन मंदिर एक दूसरे के निकट स्थित हैं। मंदिर तथा मण्डप के सरदलों और चौखटों पर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

यहाँ सांगानेर स्थित सिघीजी के मंदिर का भी उल्लेख करना आवश्यक है। इस भवन के महत्त्वपूर्ण अंग सुरक्षित रह पाये हैं। इस मंदिर की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में हैं—दो बड़े कक्ष, शिखर-युक्त गर्भगृह, सुसज्जित द्वार और मूर्त्यंकन-युक्त अंत:भाग, जिसमें देवताओं की आकृतियाँ तथा अलंकरण-प्रतीक अंकित हैं। इसमें चाहमान-युग की पाषाण-प्रतिमाएँ तथा शिलालेख हैं। इससे पश्चिमी राजस्थान एवं गुजरात के चौलुक्य-मंदिरों का स्मरण हो आता है। जो भी हो, भण्डारकर ने उसे परवर्ती काल का माना है। अलवर जिले के नीलकण्ठ नामक स्थान में, जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती काल के मंदिर-अवशेषों तथा मूर्तियों के संदर्भ में ऊपर किया जा चुका है (अध्याय १४), इस काल के मूर्ति-युक्त वास्तु-खण्ड भी विद्यमान हैं (चित्र १४८ क), जिनपर पश्चिमी भारत का कुछ प्रभाव है।

दिल्ली या ढिल्लिका चाहमान-काल में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और धार्मिक केंद्र था। यहाँ अनेक जैन मंदिर थे, जिनमें पार्श्वनाथ का एक विशाल मंदिर भी था। कुव्वतुल-इस्लाम-मस्जिद के अवशेषों के दक्षिण-पूर्वी कोने में एक जैन मंदिर के स्पष्ट अवशेष हैं, जिसमें सादे स्तंभ तथा अर्ध-स्तंभ पक्तिबद्ध निर्मित किये गये हैं और जिनमें से कुछ पर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इसके ऊपरी तल पर तीर्थंकरों, सेवकों तथा पशुओं की चित्र-वल्लरी से युक्त अलंकृत छतें अब भी सुरक्षित हैं। जो भी हो, वास्तु-अवशेषों तथा मूर्तियों से यह संकेत मिलता है कि दिल्ली में और भी सुदर जैन मंदिर थे। हांसी (आसिका) में भी जैनों के धार्मिक प्रतिष्ठान बनाये गये थे, ऐसा प्रतीत होता है। चाहमान-युग के अंत में इनमें जो एक और वृद्धि हुई, वह थी पार्श्वनाथ-जिनालय की। जिनपति-सूरि ने उसकी प्रतिष्ठा की थी। पिंजौर (पचपुर) में, जो चाहमान-राज्य में सम्मिलित था, बीकानेर-क्षेत्र की मूर्तियों के सदृश जैन अवशेष तथा अन्य खण्डित वस्तुएँ पायी गयी हैं, जिनसे यह आभास मिलता है कि मध्यकाल में वहाँ जैन मंदिर थे। कांगड़ा के किले में भी अनेक जैन प्रतिमाएं पायी गयी हैं, जिनसे यह धारणा बनती है कि पश्चिमी हिमालय की पहाड़ियों के अंत:वर्ती क्षेत्र में भी जैन मंदिर विद्यमान थे।

अनेक जिनालयों के सामने संभवत: मान-स्तभ हुआ करते थे और सर्वतोभद्र जैन प्रतिमाएँ इन मान-स्तभों के शीर्ष का काम देती होंगी।

1 आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया. (वेस्टर्न सर्किल), प्रोग्रेस रिपोर्ट, 1909-10, पृ 47.

शाह[1] के विचार से आठ तलोंवाला चितौड़गढ़ स्थित कीर्तिस्तंभ, जिसकी ऊँचाई लगभग २४.३८ मीटर है, अपने मूल रूप में सन् ११०० के लगभग बनाया गया था और सन् १४६० के लगभग उसकी मरम्मत की गयी थी। यह स्तंभ दिगंबर जैनों से संबंधित है। उसमें सब से ऊपर के मण्डप में चौमुखी प्रतिमा थी।

राजस्थान में किशनगढ़ के पास रूपनगर नामक स्थान में डी० आर० भण्डारकर को तीन स्मारक-स्तंभ या निषिधिकाएँ प्राप्त हुईं[2]। इनमें से एक पर विक्रम संवत् १०१८ (सन् ६६१) उत्कीर्ण है और उसके ऊपर एक तीर्थंकर-प्रतिमा है। उसपर जो पुरालेख है, उसमें यह उल्लेख है कि यह मेघसेनाचार्य की निषिधिका है। दूसरी में भी मेघसेनाचार्य का उल्लेख है। तीसरी में पद्मसेनाचार्य का नाम उल्लिखित है और उनकी मृत्यु की तिथि १०१६ दी गयी है।

जैसाकि पहले बताया जा चुका है (पृ २४४) गाहड़वालों के शासन-काल के मंदिर-स्थापत्य के संबंध में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त है। मथुरा, हरद्वार[3], पारसनाथ (जिला बिजनौर), हस्तिनापुर, बटेश्वर, चंदवार, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि स्थानों से वर्तमान में जो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनसे यही संकेत मिलता है कि ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में बहुत बड़े स्तर पर गंगा-यमुना घाटी में जैन मंदिरों का निर्माण कराया गया था। किन्तु उनकी रूपरेखा और उठान के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

श्रावस्ती स्थित शोभनाथ-मंदिर भी उत्खनक को विभिन्न युगों के ईंट निर्मित भवन के ढेर-रूप में मिला था[4]। उक्त मंदिर के पूर्वी भाग में एक आयताकार प्रांगण (१८.१०×१४.६४ मी०) था और वह भग्न ईंटों की एक मोटी भित्ति (२.३६×२.७४ मीटर) से वेष्टित था। ईंट-संरचना में बहुत-सी शिल्पांकित ईंटों का प्रयोग बिना किसी योजना के किया गया था। प्रांगण के चारों ओर की भित्तियों के भीतरी भाग में कदाचित् मूर्तियाँ रखने के लिए आले (देवकोष्ठ) बने हुए थे। सामने की ओर सीढ़ियों के तथा पीछे की ओर गर्भगृह की निर्मितियों के चिह्न थे (रेखाचित्र १२)। मंदिर के गर्भगृहों में से एक में गोमेध तथा अंबिका के अतिरिक्त आदिनाथ तथा अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मिली थीं। इसकी निर्माण-तिथि बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध हो सकती है।

1 शाह (यू पी). **स्टडीज इन जैन आर्ट**. 1955. वाराणसी. पृ 23. / अध्याय 25 भी द्रष्टव्य.

2 **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया** (वेस्टर्न सर्किल) **प्रोग्रेस रिपोर्ट**. 1910-11; पृ 43.

3 कनिंघम (ए) **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, रिपोर्ट्स, 1863-65**; 1972. (पुनर्मुद्रित) वाराणसी. पृ 234.

4 वोगेल, (ज फ) **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया. एनुअल रिपोर्ट, 1907-08**; 1911. कलकत्ता. पृ 113.

एक मध्यकालीन (मुस्लिम-पूर्व) जैन मंदिर के अवशेष अतरजीखेड़ा[1] या जैन ग्रंथों के अतरंजीय नामक नगर में किये गये उत्खनन में पाये गये थे। उसमें एक गर्भगृह और पार्श्ववर्ती खण्ड थे, तथा वह संभवतः सुपार्श्वनाथ का मंदिर था, जैसा कि उत्खनन के समय वहाँ प्राप्त प्रतिमा से ज्ञात होता है। हस्तिनापुर में कुछ दशाब्दियों पूर्व प्राप्त शांतिनाथ की एक विशाल प्रतिमा पर ११७६ ई० का एक शिलालेख है, जिसमें यह उल्लेख है कि यह प्रतिमा अजमेर के देवपाल सोनी ने दान में दी थी। कायोत्सर्ग-मुद्रावाली यह प्रतिमा हस्तिनापुर में किसी नवनिर्मित या जीर्णोद्धार किये गये मंदिर में प्रतिष्ठित की गयी थी। हरद्वार में तीर्थंकरों तथा यक्षियों की जो जैन मूर्तियाँ मिली है, उनसे यह संकेत मिलता है कि मध्यकाल में इस ब्राह्मण्य तीर्थ में भी जैन मंदिर थे। आगरा के निकट चंदवार से प्राप्त ग्यारहवीं और बारहवी शताब्दियों की दस-बारह से अधिक मूर्तियाँ निस्संदेह यह प्रमाणित करती है कि गाहड़वाल-युग में इस स्थान पर कम से कम एक विशाल जिनालय का निर्माण हुआ होगा। जैसाकि पहले कहा जा चुका है (पृ० २५३), बटेश्वर में भी इस युग के कुछ ईंट-निर्मित भवनों तथा जैन मूर्तियों के अवशेष पाये गये हैं। कंकाली-टीले की अभिलेखांकित एवं अनभिलेखांकित जैन मूर्तियों से भी इस युग में मथुरा में जैन संस्थानों की विद्यमानता का पता चलता है। इस नगर में श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही के मंदिर थे।

मूर्तिकला और कला

इस युग में जैन कला अपने विकास के सर्वाधिक जटिल और रूपात्मक चरण से होती हुई निकली। कलात्मक और मूर्ति निर्माणात्मक विकास में शिल्पियों एवं उनके संरक्षकों के अतिरिक्त भ्रमणशील जैन मुनियों तथा व्यापारियों ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक पंथों और उप-पंथों ने भी कला के लिए अनुकूल कारण प्रदान किये। तंत्र और तांत्रिक प्रतीकवाद ने भी, जिनका जैन धर्म में पहले ही प्रवेश हो चुका था, मूर्ति-निर्माण संबंधी संकल्पनाओं की वृद्धि में और अधिक सहायता की। कभी-कभी जैनों ने भी ब्राह्मण्य देवताओं को अपने अनुकूल बना लिया और उनकी उपासना की।[2] बारहवीं शताब्दी के अंत तक, एक ब्राह्मण्य देवता को भी––जिसके संबंध में यह विश्वास किया जाता है कि उसने दिल्ली में प्रसिद्ध जैन मुनि जिनचंद्र-सूरि की प्रेरणा से माँस को अपनी अर्चना में न लेने का व्रत ले लिया था––अतिबल के नाम से उक्त स्थानीय पार्श्वनाथ-मंदिर के एक स्तंभ पर स्थान दे दिया गया।[3] वास्तव में, मुनि ने स्वयं ही अपने अनुयायियों को इस स्तंभ पर उक्त देवता की आकृति

1 इण्डियन आर्कयॉलॉजी, 1967-68 : ए रिव्यू. नई दिल्ली. पृ 46.

2 यह महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है कि एक पूर्ववर्ती जैन विद्वान् जिनसेनाचार्य ने अपने जिन-सहस्रनाम-स्तोत्र में तीर्थंकर की समता शिव के अंधकांतक, अर्धनारीश्वर, सद्योजात, वामदेव, अघोर तथा ईशान रूपों, विष्णु के लक्ष्मी-भर्तृ, श्री-पति, सहस्रशीर्ष तथा पुराण-पुरुष रूपों, ब्रह्मा के महाब्रह्म, हिरण्यगर्भ और पितामह जैसे समान-रूपी नामों, गणाधिप, विश्वकर्मा तथा वाचस्पति या बृहस्पति से की है. परमानंद. जिनवाणी संग्रह. 1961. दिल्ली. पृ 287. इसी प्रकार के विचार मानतुंग के प्रसिद्ध भक्तामर-स्तोत्र में भी पाये जाते हैं.

3 (द्विवेदी) हरिहरनिवास. दिल्ली के तोमर. 1973. ग्वालियर. पृ 87.

उत्कीर्ण करने के लिए कहा था। एक जैन ग्रंथ के अनुसार, अभनेरी के एक व्यापारी ने ओसिया के महावीर तथा सच्चिकामाता के मंदिर में पूजा की थी[1] ।

सभी आकारों में पद्मासन तथा कायोत्सर्ग-मुद्राओं में, सादे तथा अलंकृत परिकरों से युक्त अनेक तीर्थंकर-प्रतिमाओं का निर्माण किया गया। उन्हीं के साथ इतर देवों, पशुओं एवं कभी-कभी तीर्थंकरों की अपेक्षाकृत छोटी आकृतियाँ भी बनायी गयीं। पद्मानस्थ तीर्थंकरों को साधारणतया सिंहासन पर अंकित किया गया है तथा उनके साथ अलंकृत पीठोपधान बनाये गये हैं जिनमें अलंकृत समचतुर्भुजी कला-प्रतीक तथा कपड़े की झालरें हैं (चित्र १४८ ख से १५०)। सर्वतोभद्र प्रतिमाओं के अतिरिक्त चौबीसों तीर्थंकरों की मूर्तियों से युक्त शिलापट्ट (चित्र १५०) भी जैन समाज में लोकप्रिय थे। मंदिरों में तीर्थंकरों के कल्याणकों (जीवन के दृश्यों) का भी चित्रण किया गया। इस युग की बाहुबली की भी कुछ प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। देवियों में अंबिका, सरस्वती या वाग्देवी, चक्रेश्वरी और पद्मावती की पूजा सर्वप्रचलित थी। ओसिया की देवकुलिकाओं में नरदत्ता, गौरी, रोहिणी, महामानसी, वज्रांकुशी, वज्रश्रृंखला, गांधारी, अप्रतिचक्रा, मानवी, काली, वैरोट्या आदि अनेक विद्यादेवियों की आकृतियाँ हैं। जैन मंदिरों में अप्सराओं, दिग्पालों, नवग्रहों, गंधर्वों तथा विद्याधरों को भी स्थान मिला। भक्तों, जिनमें जैन आचार्य भी सम्मिलित हैं, के अतिरिक्त, यक्ष और अन्य परिवार-देवता भी सामान्यतया आवरण-प्रतिमाओं में सम्मिलित किये गये। ओसिया की एक देवकुलिका में हेरम्ब का भी चित्रण है जो संभवतः ब्राह्मण्य मत से अपनाया गया है। रोहतक में हस्ति-शीर्षयुक्त यक्ष पार्श्व की एक मूर्ति पायी गयी है[2] जो जैन मत में गणेश का निकटतम समानांतर उदाहरण है। अंबिका का पूजन शायद संतति और बच्चों के कल्याण के लिए किया जाता था। जैन देव-दंपति, जिन्हे भट्टाचार्य ने गोमेध और अंबिका के रूप में पहचाना है, ग्यारहवीं शताब्दी तक पर्याप्त लोकप्रिय हो गये, ऐसा प्रतीत होता है। क्षेत्रपाल (मंदिर, नगर या ग्राम का रक्षक), जिसकी चर्चा भी पद्मा, अंबिका, ज्वालिनी और नागधरण के साथ ही साथ बिजोलिया के शिलालेख (विक्रम संवत् १२२६)[3] में की गयी है, को जैन देवकुल में महत्त्वपूर्ण ढंग से जोड़ लिया गया। जिन शिलापट्टों पर नंदीश्वर द्वीप आदि यंत्र (आरेख) उत्कीर्ण किये जाते थे, वे भी उपास्य वस्तु बन गये।

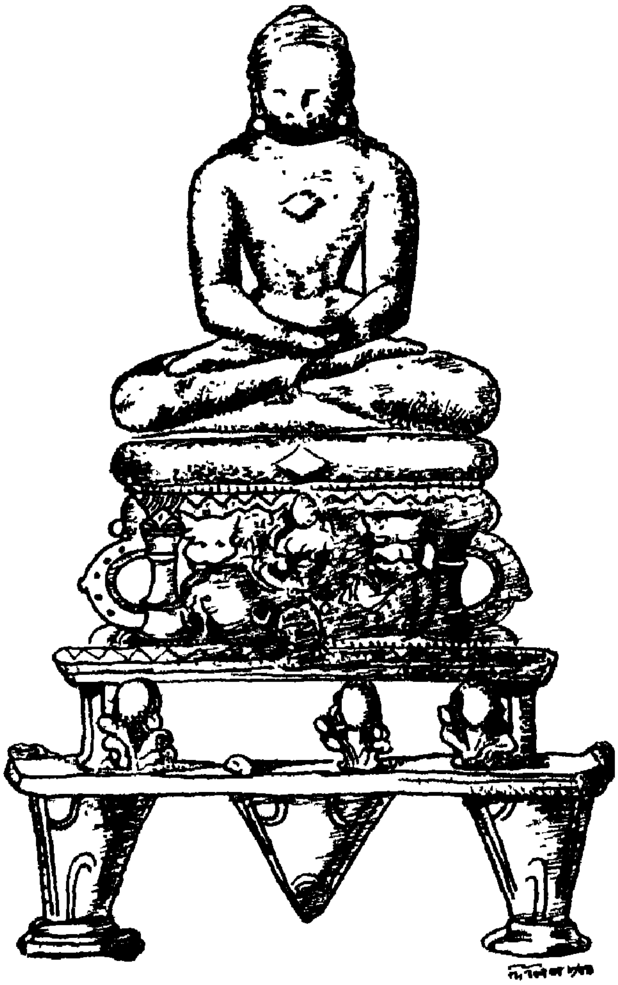
विस्तृत क्षेत्र में विकीर्ण होते हुए भी, चाहमान और गाहड़वाल-युग की जैन मूर्तिकला पर अनेक कला-प्रवाहों तथा परंपराओं का प्रभाव पड़ा था किन्तु उनमें कम से कम सामान्य संकल्पना के संबंध में धार्मिक सिद्धांतों ने पर्याप्त सीमा तक एकता स्थापित की थी। मंदिर-स्थापत्य के अपेक्षाकृत अधिक विकास के कारण सौंदर्यात्मक आदर्श को शास्त्रीय मानदण्डों के विपरीत, स्वीकार किया

1 पूर्वोक्त, पृ 277.

2 भट्टाचार्य (बी सी) जैन आइकनोग्राफी. 1939. लाहौर. पृ 82.

3 एपिग्राफिका इण्डिका, पूर्वोक्त, पृ 110.

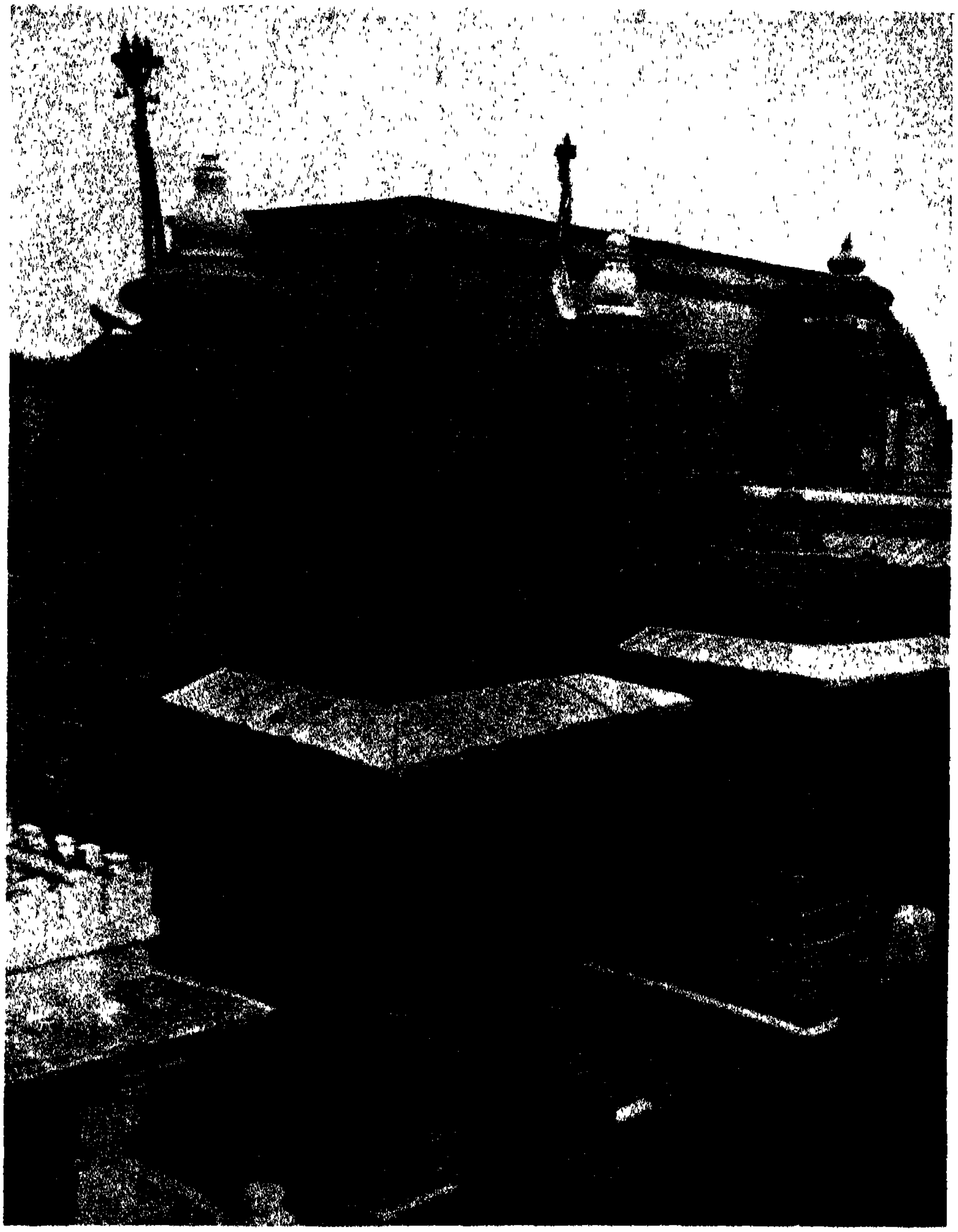
गया, किन्तु रूढ़ कला-परपराओं का प्रभाव फिर भी अत्यधिक बना रहा। ग्येत्स ने मध्यकालीन मूर्तिकला के बारे में ठीक ही कहा है कि "दसवीं शताब्दी के अंत में उसने ललित एवं मौलिक सौंदर्य की प्राप्ति की; ग्यारहवी शताब्दी में उसमें शास्त्रीय प्रौढ़ता आयी और बारहवीं शताब्दी में ललित शैली का उसने विकास किया। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वह कला धीरे-धीरे रूढ़िग्रस्त, अत्यलंकृत



रेखाचित्र 16. केमला (बल्गारिया) : कांस्य तीर्थंकर-मूर्ति (राजग्राद म्यूज़ियम) (ब्रेंतजेस के अनुसार)

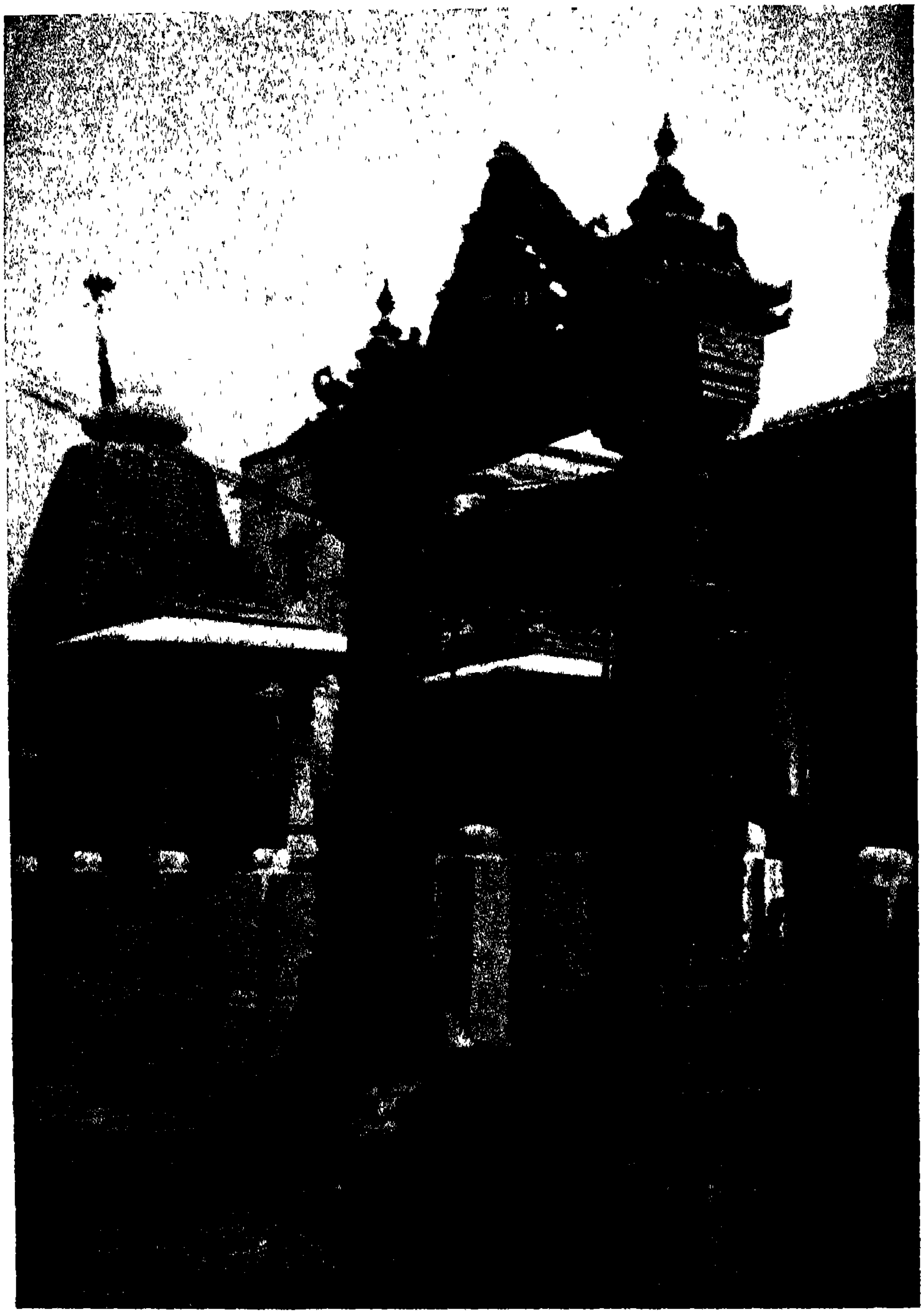
तथा अति-विस्तारपूर्ण हो गयी। उसके पश्चात् उसके विकास में उत्तरी भारत के विभिन्न राज्यों में विभिन्न रूपांतरण हुए, यद्यपि वह सर्वत्र मूलरूप से एक-सी ही रही। उसमें झलक थी समृद्धि और निर्धनता की, शांति और युद्ध संबंधी उन कारणों की जिनके फलस्वरूप सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में गति आती है या अवरोध आता है[1]।"

1 ग्येत्स (हरमन). आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट. 1950. ऑक्सफोर्ड. पृ 85.



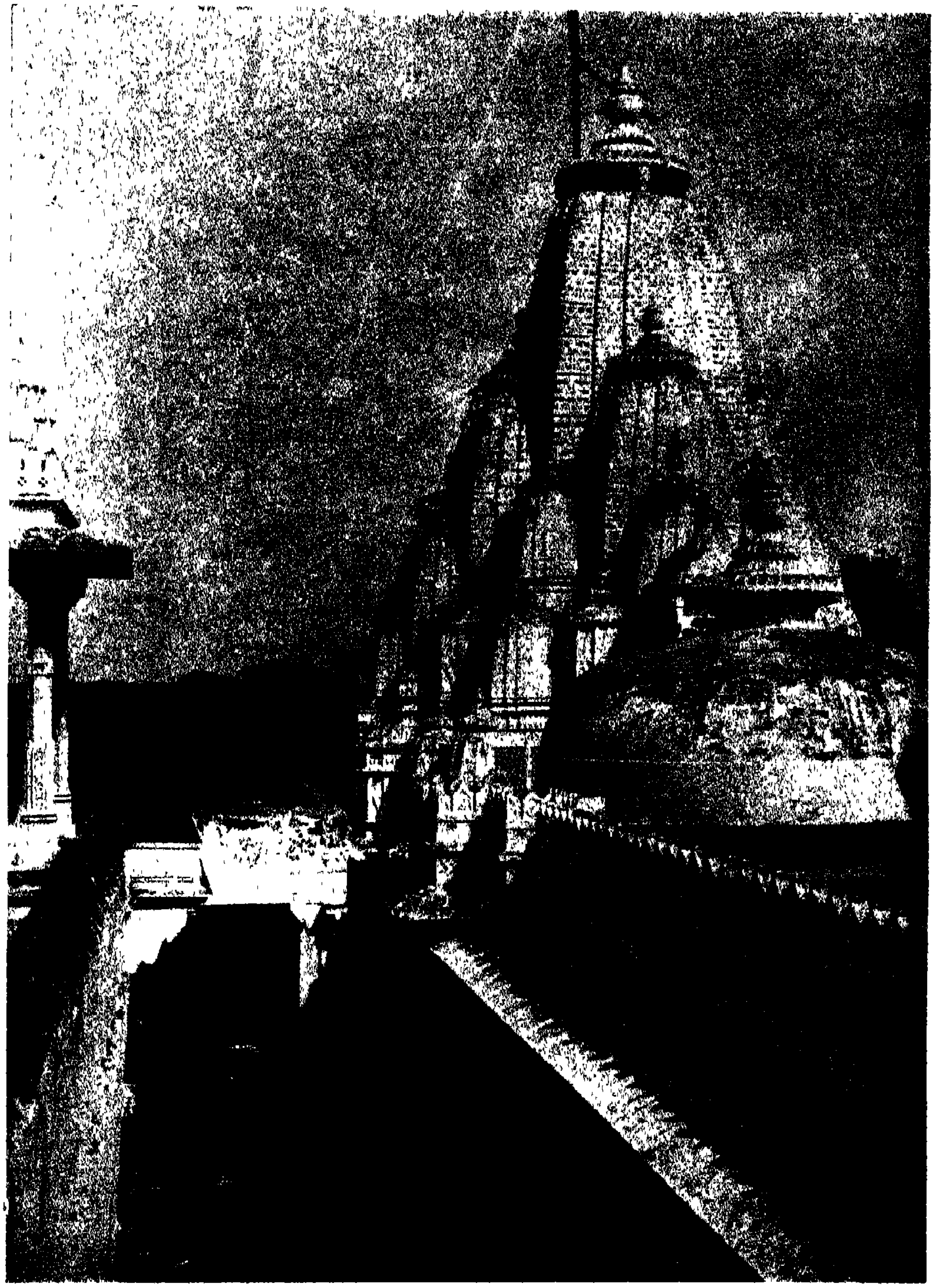
ओसिया — महावीर-मंदिर, देवकुलिकाएं

चित्र 143



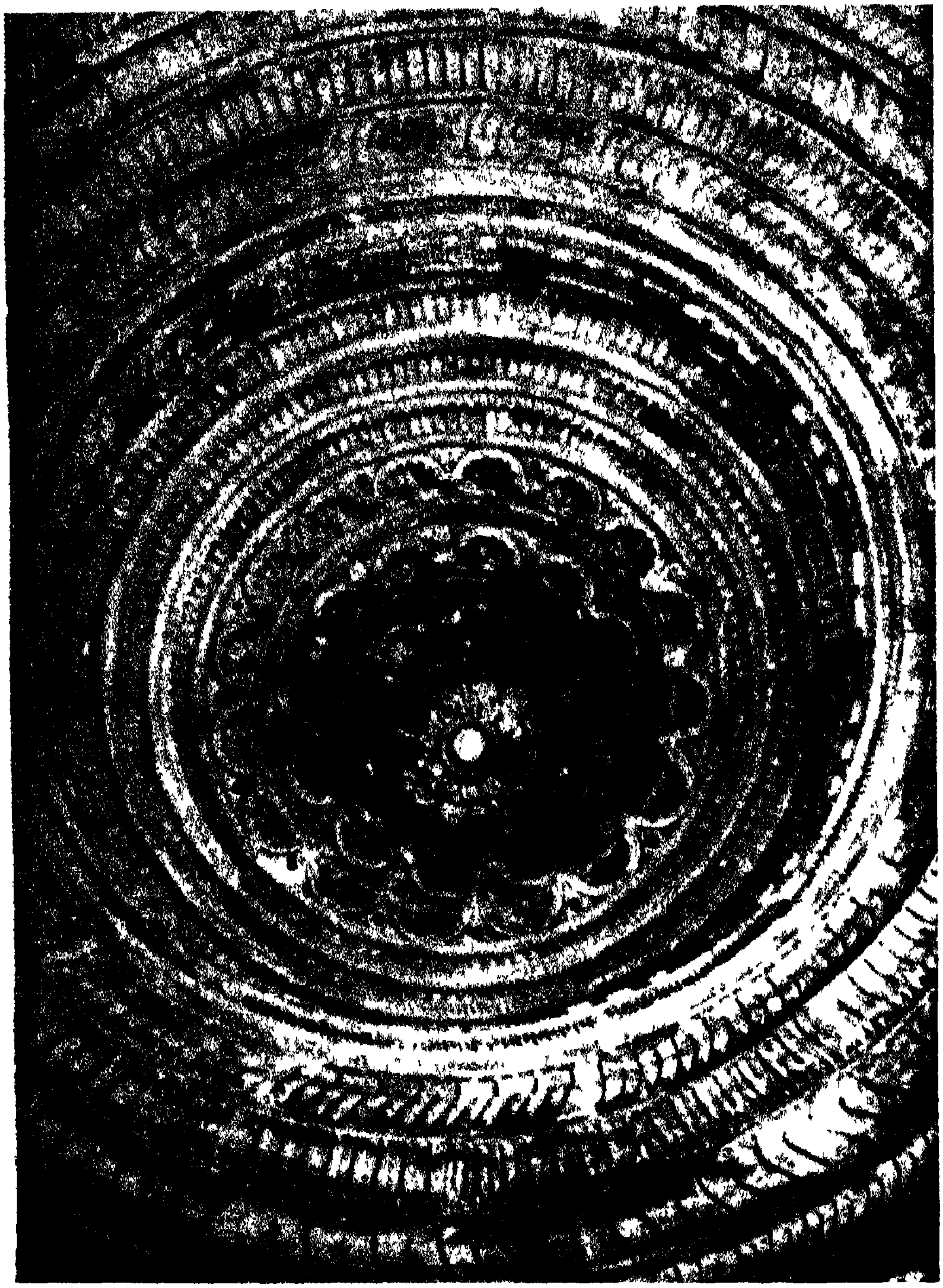
ओसिया — महावीर-मंदिर, तोरण

चित्र 144



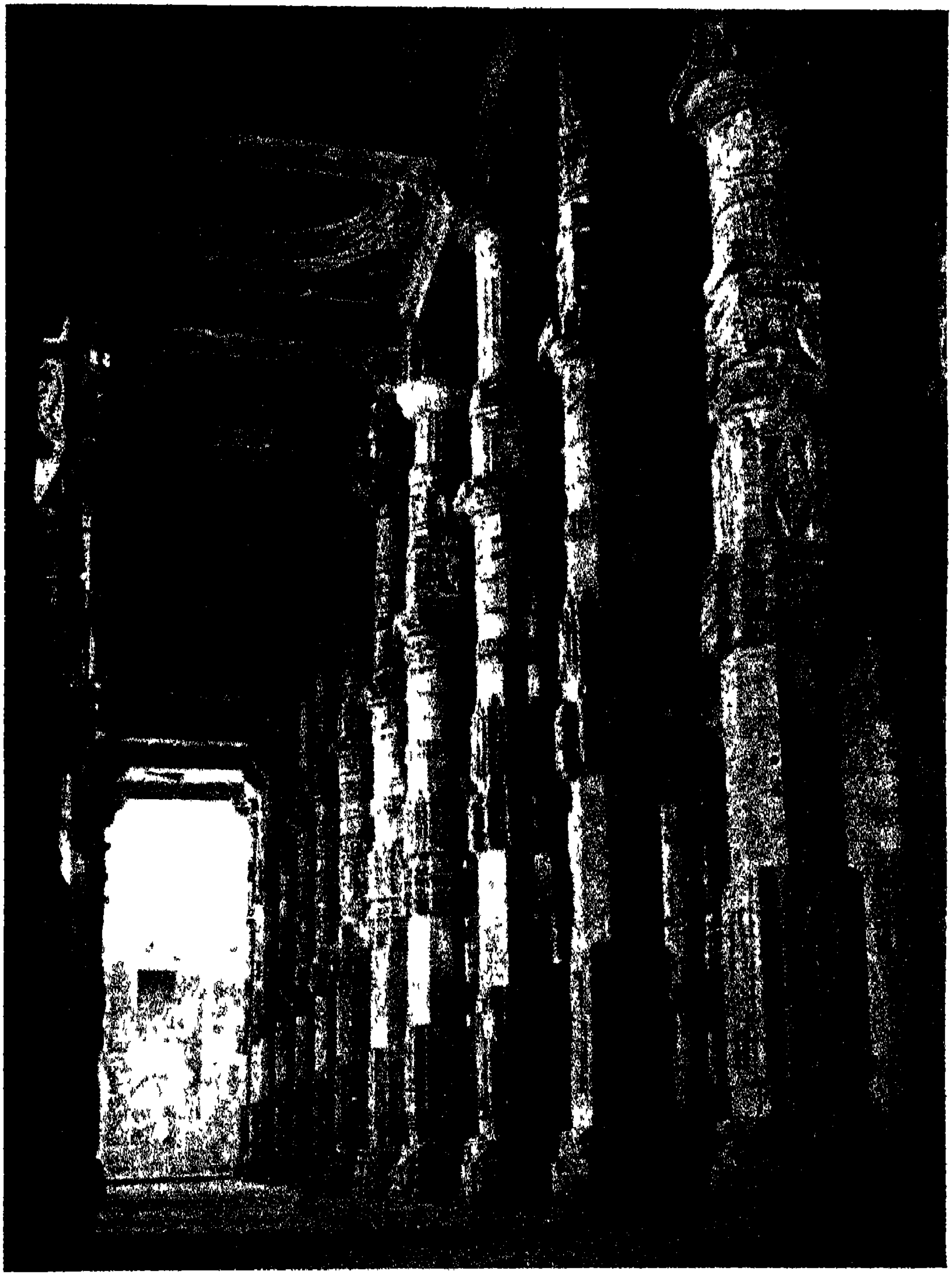
फालोदी — पार्श्वनाथ-मंदिर

चित्र 145



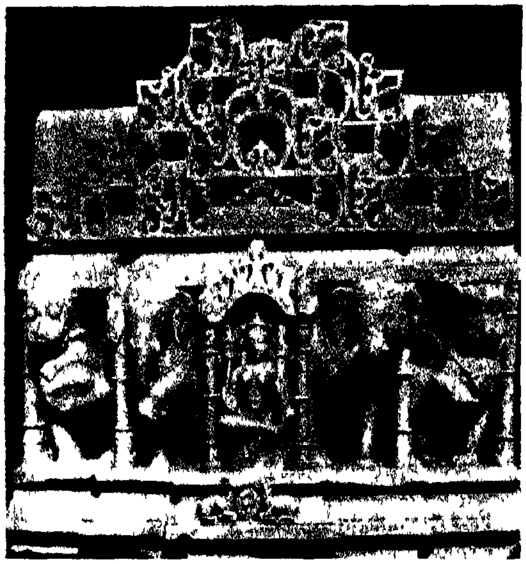
अजमेर – अढ़ाई-दिन-का-झोंपड़ा, छत

चित्र 146



अजमेर — अढाई-दिन-का-झोंपडा, अंतःभाग

चित्र 147



(क) नीलकण्ठ — वास्तु-खण्ड



(ख) श्रावस्ती — तीर्थंकर पार्श्वनाथ

चित्र 148



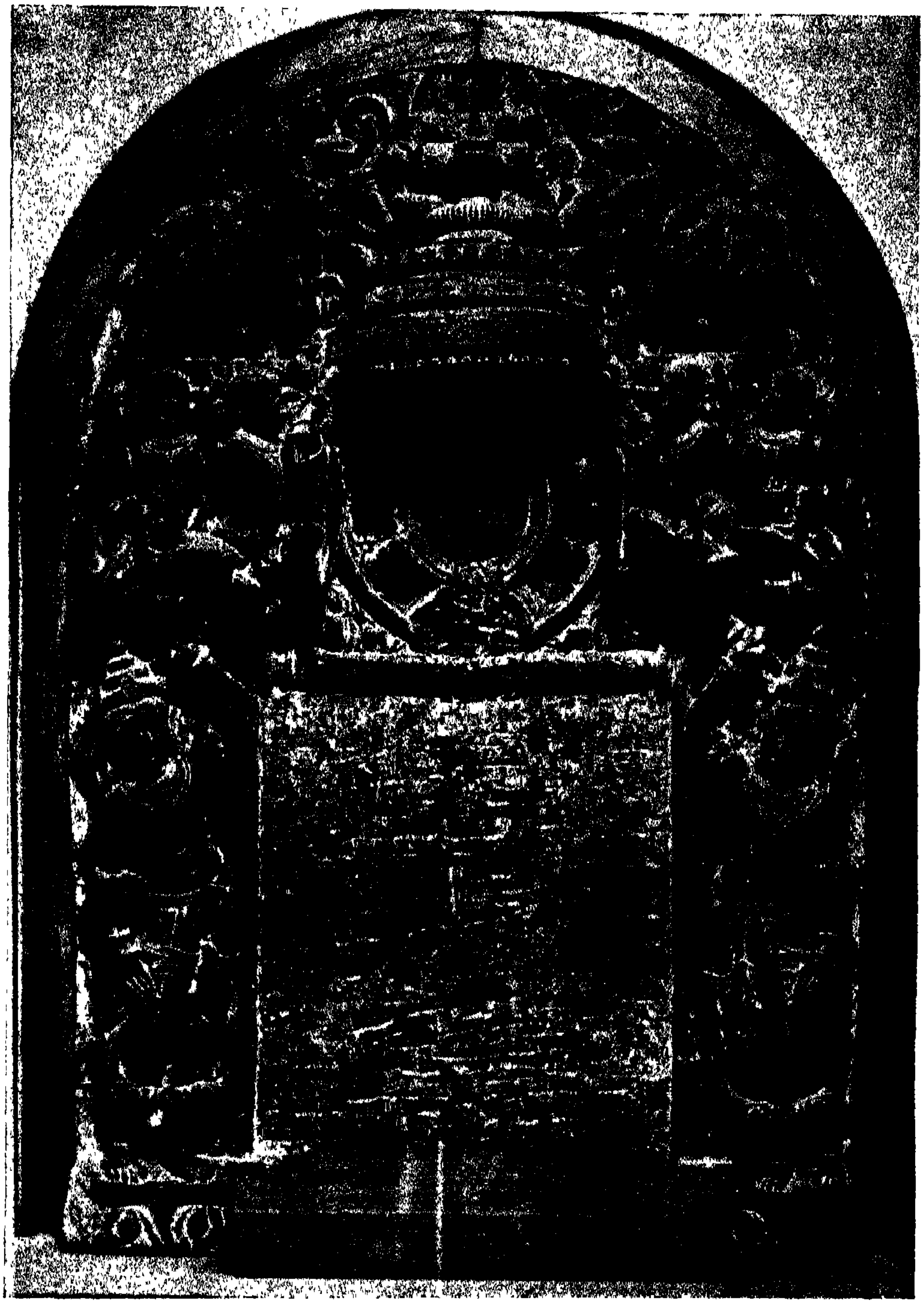
कटरा — तीर्थंकर नेमिनाथ

चित्र 149



अजमेर — तीर्थंकर-मूर्ति (राजपूताना संग्रहालय)

चित्र 150



बीकानेर संग्रहालय — एक मूर्ति का परिकर

चित्र 151



जयपुर संग्रहालय — तीर्थंकर मुनिसुव्रत

चित्र 152



भरतपुर संग्रहालय — तीर्थंकर पार्श्वनाथ

चित्र 153



पल्लू — वाग्देवी (बीकानेर संग्रहालय)

चित्र 154

मूर्ति-निर्माण के लिए बलुए पत्थर का सबसे अधिक प्रयोग किया गया है किन्तु अनेक स्थलों पर काले तथा श्वेत पाषाण को भी उपयोग में लाया गया। धातु की प्रतिमाएँ भी, विशेषकर कांस्य की, बनायी गयी थीं किन्तु वे अपेक्षाकृत छोटे या मध्यम आकार की थीं। लगभग ग्यारहवीं शताब्दी की एक जैन कांस्य प्रतिमा (रेखाचित्र १६) १६२८ ई० में उत्तर-पूर्व बल्गारिया के केमला नामक स्थान पर पायी गयी थी।[1] यह प्रतिमा इस समय वहाँ के राजग्राद संग्रहालय में है। इस प्रतिमा में स्तर-युक्त पीठ पर अवस्थित एक सिंहासन पर तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में अंकित किया गया है। निस्संदेह यह उत्तर भारतीय मूल की है जिसे संभवतः अपनी दैनिक उपासना के लिए कोई जैन व्यापारी मध्यकाल में किसी मध्य-एशियाई या पश्चिम-एशियाई देश में ले गया होगा। शैली की दृष्टि से यह चाहमान-कला-परंपरा से संबद्ध प्रतीत होती है। हाल ही में तीर्थंकरों की कुछ सुंदर कांस्य-प्रतिमाएँ राजस्थान के अलवर जिले में सनोली से भी उपलब्ध हुई थीं[2]। इस युग की कुछ महत्त्वपूर्ण जैन कांस्य प्रतिमाएँ राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली के संग्रह में भी हैं। इनमें सम्मिलित हैं: गरुड़ पर आसीन चक्रेश्वरी की मूर्ति, एक जिन-बिंब के सुंदर परिकर का ऊपरी भाग जिसके साथ सुनिर्मित इतर देव, पशुओं और पौधों का अंकन किया गया है; तथा पार्श्वनाथ की एक तिथि-युक्त (१०६६ ई०) प्रतिमा, जिसमें तीर्थंकर पर सर्प के सात फणों का आच्छादन है। उनके दोनों ओर खड्गासन-मुद्रा में दो तीर्थंकर तथा यक्ष और यक्षी सहित अनुचरों की आकृतियाँ है। पार्श्वनाथ का उपधानयुक्त आसन परंपरागत कमलपुष्प पर बना है। पादपीठ के ऊपरी सिरे पर बनी नौ छोटी आकृतियों को नवग्रहों के रूप में पहचाना गया है।[3] तीर्थंकर के वक्षस्थल तथा आसन पर श्रीवत्स (चिह्न) अंकित है। इस प्रतिमा के परिकर का ऊपरी भाग त्रिकोण है। इन कांस्य प्रतिमाओं का प्राप्ति-स्थान ज्ञात नहीं है किन्तु शैली की दृष्टि से ये राजस्थान की लगती हैं। वर्तमान संदर्भ में, एक छोटे आकार की कांस्य-प्रतिमा, जो मूलरूप से जैसलमेर की है, का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। शैली की दृष्टि से पूर्वचर्चित राजग्राद संग्रहालय स्थित जिन-बिंब की पूर्वगामी लगनेवाली यह कांस्य प्रतिमा भी चल-पूजा-विग्रह लगती है। इसके पृष्ठभाग में उत्कीर्ण लेख (११२६-३८ ई०) में श्री-सिद्धसेन-दिवाकराचार्य-गच्छ के श्री-नगेन्द्र-कुल की अम्मा और अच्छुप्ता नामक दो महिलाओं का उल्लेख है। उसमें अंकन इस प्रकार किया गया है—बीच में आसीन-मुद्रा में तीर्थंकर और उनके साथ चमरधारी, देवतागण, यक्ष और यक्षी तथा उपरी भाग में एक त्रिकोणाकार चौखटे में एक तीर्थंकर-प्रतिमा जो पाद-युक्त आसन पर आधारित है तथा जिसपर नौ शीर्ष बने है जो संभवतः नवग्रहों के प्रतीक हैं। अनुचरों में यक्ष मातग और यक्षी सिद्धायिका हो सकते हैं क्योंकि वे क्रमशः हाथी और सिंह पर आरूढ़ हैं। शाह का विचार है[4] कि ऊपरी भाग में तीर्थंकर की

1 **ईस्ट एण्ड वेस्ट.** 21, 3-4; 1971; 215-16.

2 **इण्डियन आर्क्यॉलॉजी, 1969-70 : ए रिव्यू.** 1973. नई दिल्ली. पृ 61.

3 **जर्नल ऑफ दि ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट.** 19, 3; 1970; 276.

4 **जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट.** 1; 1966; 29

लघु मूर्ति जैसा अंकन जैन मूर्तिकला में दुर्लभ ही है। इस चौखटे का ऊपरी भाग पारंपरिक बेल-बूटों के रूप में है।

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों की कला, लगभग सारे उत्तर भारत में मूर्तिकला के पूर्ण विकसित चरण का द्योतक है। इस युग में अधिकांशत: आकृति-निर्माण परंपराओं तथा अलंकारपूर्ण आकारवाद से बँधा है। यह रूपांकन सामान्यत: मुद्राओं तथा शरीर के घुमाव के अनुकूल किया गया था, चेहरे की अभिव्यक्ति के अनुसार नहीं। चेहरे चौकोर से है तथा उनपर विशेष रूप से आँखों, भौहों, नाक आदि का औपचारिक उत्कीर्णन हुआ है, गाल सूजे हुए प्रतीत होते हैं तथा मुँह फूला हुआ। अधिकांश मूर्तियों में शरीर के अंगों में कोणीयता तथा मुद्राओं में एक प्रकार के तनाव की भावना देखी जा सकती है। तीर्थंकरों की मूर्तियों को छोड़कर अन्य मूर्तियों में सुदरता लाने का प्रयत्न रत्नाभूषणों तथा अन्य गहनों द्वारा किया गया है। तीर्थंकरो की आकृतियों में, जिन्हें गरिमापूर्ण पवित्र मुद्रा में प्रदर्शित करना आवश्यक था, विस्तृत अलकरण परिकर के निर्माण में किया गया (चित्र १५१); विशेष रूप से आसीन तीर्थंकरों के साथ आकर्षक मुद्राओं में अनेक कलापूर्ण एव सुंदर आकृतियाँ बनायी गयी, जिनमें विद्याधरों, गंधर्वों, वादको, इतर देवों तथा भक्तों की आकृतियाँ सम्मिलित हैं। अलंकृत भामण्डल, त्रिछत्र तथा स्वर्ग के हाथियों का भी अंकन किया गया। जो भी हो, यह मूल रूप से पूर्ववती जैन परंपरा के अनुकूल ही था जैसा कि मानतुगाचार्यकृत भक्तामर-स्तोत्र के निम्न श्लोकों से स्पष्ट है :

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपु: कनकावदातं।
बिबं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मे: ।।२९।।
कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपु: कलधौतकांतं।
उद्यच्छशाकशुचिनिर्झरवारिधार---
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ।।३०।।
छत्रत्रयं तव विभाति शशांककांत-
मुच्चै:स्थितं स्थगितभानुकरप्रताप।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभ,
प्रख्यापयत्त्रिजगत: परमेश्वरत्वं ।।३१।।
गंभीरताररवपूरितदिग्विभाग-
स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्ष:।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषक: सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशस: प्रवादी ।।३२।।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि लघु आकृतिवाले अनुचरों की आकृतियों सहित या उनसे रहित कायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थंकर-मूर्तियाँ अन्य अलकृत एवं आसीन मूर्तियों की अपेक्षा उनके वीतराग-आदर्श (चित्र १५२) के अधिक अनुरूप हैं। अधिकांशतः उष्णीश अतुंग और लघु हैं (चित्र १५३) और परवर्ती प्रतिमाओं में (जिनकी तिथि लगभग बारहवीं शताब्दी है) शरीर के अंकन में कोणीयता अधिक परिलक्षित होती है। आसीन तीर्थंकर-प्रतिमाओं के अलंकृत आसन के नीचे झूलता वस्त्र या तो अर्धवर्तुलाकार है या दीर्घवृत्ताकार। वह सिंहासन के ऊपरी भाग को या तो पूरा या मात्र उसके बीच के भाग को अनेक प्रकार के अलंकरणों से आवृत करता है।

वृक्षों और पौधों का भी, जिनमें कमलपुष्प भी सम्मिलित है, अकन यद्यपि रुढ़िबद्ध है फिर भी नयनाभिराम है। इसी प्रकार सिंह को छोड़कर अन्य पशुओं का अंकन भी सजीव एवं आकर्षक है। जहाँ तक व्यावहारिक कला का संबंध है इस युग के प्रचलित कला-प्रतीकों में समचतुर्भुज अलंकरण, घट-पल्लव, शृंखला-घण्टिका, लता-गुल्म, कलापिण्ड और अर्ध-कलापिण्ड सम्मिलित हैं।

इस युग की भारतीय कला के कुछ सुंदर नमूने, उदाहरणतः बीकानेर क्षेत्र की सरस्वती की आकृतियाँ तथा ओसिया का अलंकृत तोरण, जैन मूर्तिकारों की ही रचनाएँ थीं। इन दोनों ही उदाहरणों में, यद्यपि उनका अंकन औपचारिक ही है, आवश्यक मात्रा में विवरण की यथार्थता और उससे संबद्ध अलंकरण प्रदर्शित हैं। संगमरमर से निर्मित बीकानेर की वाग्देवी (चित्र १५४) में उदात्तता की महत्त्व-पूर्ण अभिव्यक्ति है। मूर्ति-निर्माण सबंधी समस्त प्राचुर्य के होते हुए भी उसमें कोमलता और सवेदन-शीलता की भावना विद्यमान है। यह मूर्ति राजस्थानी और गुजराती शैलियों के सुमिश्रण का परिणाम प्रतीत होती है। ओसिया स्थित देवकुलिकाओं के बाहर अंकित आकृतियाँ भी मूर्ति-निर्माण की मिश्र शैली का उदाहरण प्रस्तुत करती है। एक और सुदर उदाहरण कंकाली-टीला (मथुरा) मे प्राप्त शीर्षहीन नर (किसी राजा) की आकृति है, जिससे पश्चिमी मध्यदेश में चंदेल-कला का और अधिक प्रभाव स्पष्ट हो जाता है (रेखाचित्र १७)। श्रावस्ती से प्राप्त आदिनाथ की एक प्रतिमा तथा अयोध्या (फैजाबाद)[1] में मिली एक और प्रतिमा एव मथुरा से प्राप्त विक्रम सवत् ११३४ अर्थात् १०७७ ई० की एक तीसरी प्रतिमा (रेखाचित्र १८) भी गंगा-घाटी की मध्यकालीन मूर्ति-निर्माण-परपरा के अध्ययन के लिए ध्यातव्य है।

यह शैलीगत अंतर्मिश्रण का युग था, जैसा कि समसामयिक मदिर-स्थापत्य से स्पष्ट है। चाहमान-क्षेत्र में, यहाँ तक कि सुदूर हरियाणा में भी, जो मूर्ति-निर्माण-परंपरा प्रचलित थी, वह गुर्जर-मूल की थी, जबकि गंगा-यमुना घाटी में वह चेदि-चंदेल-कला-शैली की थी। राजस्थान के दक्षिणी सीमांत क्षेत्रों में परमार-कला का सीमित प्रभाव भी देखा जा सकता है। जो भी हो, गाहड़वाल-कालीन मूर्तियों में गंगा-यमुना घाटी की पूर्ववर्ती परंपरा की कुछ विशेषताएँ रह गयी है, किन्तु मध्यदेश की अधिकांश प्रतिमाएँ रुढिबद्ध एवं कम आकर्षक हैं।

---

1 भट्टाचार्य, पूर्वोक्त, चित्र 1 तथा 4.

समसामयिक ब्राह्मण्य मूर्तिकला के समान इस युग की जैन कला की स्थिति पृथक् नहीं जान पड़ती। उसका संबंध मंदिर-स्थापत्य से बहुत निकट का था। अतएव किसी भी प्रकार के मूर्ति-विधान का उद्देश्य, अपनी संस्कारगत तथा मूर्तिकला-विषयक स्थिति के होते हुए भी, मंदिर-स्थापत्य के रचनात्मक स्वरूप में विलीन होकर स्थापत्य-कला के विकास में योगदान करना ही था। जैन मंदिर में, जो तीर्थंकर द्वारा अधिष्ठित विश्व का प्रतीक था, विश्व-जीवन के विविध क्षेत्रों तथा पक्षों की प्रतिनिधि



रेखाचित्र 17. कंकाली-टीला : किसी राजा का धड़ (स्मिथ के अनुसार)

मूर्तियों का अंकन होता है। इस प्रकार मंदिर का उपयोग सुख के स्रोत, सदाचरण प्रतीक तथा अपनी निर्माणात्मक एवं मूर्ति-लक्षण-विषयक उत्कृष्टता सहित कीर्ति एवं महान् समारोहों के स्मारक के रूप में था। मुनि सकलचंद्र के दृष्टाष्टक-स्तोत्र में यह विचार बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त किया गया है :



रेखाचित्र 18. ककाली-टीला : तीर्थंकर-मूर्ति (स्मिथ के अनुसार)

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि
भव्यात्मना विभवसंभवभूरिहेतुः
दुग्धाब्धिफेनधवलोज्ज्वलकूटकोटी-
नद्धध्वजप्रकरराजिविराजमानम् ॥
दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भुवनैकलक्ष्मी-
धामर्द्धिवर्द्धितमहामुनिसेव्यमानम् ।
विद्याधरामरवधूजनमुक्तदिव्य-
पुष्पाञ्जलिप्रकरशोभितभूमिभागम् ॥
दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवनादिवास-
विख्यातनाकगणिकागणगीयमानम् ।
नानामणिप्रचयभासुररश्मिजाल-
व्यालीढनिर्मलविशालगवाक्षजालम् ॥
दृष्टं जिनेन्द्रभवनं सुरसिद्धयक्ष-
गंधर्वकिन्नरकरार्पितवेणुवीणा ।
संगीतमिश्रितनमस्कृतधीरनादै-
रापूरिताम्बरतलोरुदिगन्तरालम् ॥
दृष्टं मयाद्य मणिकाचनचित्रतुंग-
सिंहासनादिजिनबिंबविभूतियुक्तम् ।
चैत्यालयं यदतुलं परिकीर्तितं मे
सन्मंगलं सकलचंद्रमुनीन्द्रवन्द्यम् ॥

मध्यकालीन जैन मंदिर कलाओं का केंद्र था तथा उसमें इस प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ चलती थीं जिनका उद्देश्य गृहस्थ को असत्य से सत्य की ओर, अणु सत्य से महत् सत्य की ओर तथा अनंत श्रावक के जीवन के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की ओर ले जाना था।

मुनीश चन्द्र जोशी

अध्याय 21

पूर्व भारत

सामान्य पर्यवेक्षण

कला के इतिहास की दृष्टि से भारतीय कला के किसी कालखण्ड को एक धार्मिक नामकरण के अंतर्गत रखकर विवेचित करना न तो संभव है और न अपेक्षित ही। भारतीय कला युग-युगांतरों से निरंतर विकसित होती रही है। उसका प्रत्येक परवर्ती काल अपने पूर्ववर्ती काल की कला-परंपरा और उसकी उपलब्धियों को लेकर आगे बढ़ा है, जिसे उसने परिपक्वता प्रदान की है तथा उसकी समयानुरूप आवश्यकताओं की पूर्ति की है। कला की इस निरंतर प्रवहमान विकास-धारा में विजातीय मुसलमानों के आगमन-काल से पूर्व कोई अवरोध नहीं आया। इन कला-शैलियों के पल्लवन की प्रेरक शक्तियाँ निस्संदेह ही धार्मिक प्रेरणा रही हैं। भारत अनेकानेक धर्मों का देश रहा है, यहाँ तक कि एक ही धर्म के अंतर्गत पृथक्-पृथक् मान्यताओं और सिद्धांतों को लेकर अनेक परस्परविरोधी एवं कट्टर प्रतिद्वंद्वी सप्रदाय रहे हैं। इन समस्त धर्मों और सप्रदायों ने कला के माध्यम से अपने विचारों और अवधारणाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपने समकालीन या क्षेत्र-विशेष में प्रचलित कला के सामान्य प्रतिमानों को अपनाया है—क्योंकि इन प्रतिमानों को उनकी तर्कसम्मत दिशाओं से हटाना इन धार्मिक और सम्प्रदायगत विभेदों के लिए संभव नही हो सका। विषय-वस्तुओं के अंकन के अतिरिक्त ये प्रतिमान अपने शैलीगत रूप में समस्त धर्मों के लिए एक समान रहे हैं। यदि कोई अंतर है तो वह मात्र मूर्तिपरक विषय-वस्तु में ही। यह वास्तु-शिल्प के कतिपय प्रकारों तक ही सीमित है जिसे किसी धर्म-विशेष के संदर्भ में ही देखा जा सकता है।

यह स्पष्ट है कि विवेच्य कालखण्ड के अंतर्गत पूर्व भारत में जैन धर्म की स्थिति प्रभुत्वपूर्ण नहीं रही। इस क्षेत्र से प्राप्त बौद्ध और हिन्दू प्रतिमाओं की विपुल संख्या की तुलना में जैन प्रतिमाओं की संख्या अति अल्प रही है, यह बात विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। बंगाल, बिहार और उड़ीसा से प्राप्त ऐसी जैन प्रतिमाएं बहुत ही कम हैं जिन्हें आकर्षक और प्रभावशाली कहा जा सके। अधिकांशत: वे प्रतिमाएँ, जो प्राप्त हुई हैं, इस समूचे क्षेत्र के निर्जन स्थलों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी थीं, या फिर कुछ सीमाबंधित स्थानों में सामूहिक रूप से एकत्रित थीं। हमें यहाँ से जैन धर्म से संबद्ध चित्र-कला के अवशेष भी प्राप्त नहीं हुए हैं। चीनी यात्री ह्वान-सांग के उस साक्ष्य का उल्लेख अध्याय १५ में किया जा चुका है जो इस क्षेत्र में कम से कम सातवीं शताब्दी में जैन धर्म की लोकप्रियता

मे अवगत कराता है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती शताब्दियों मे यहाँ पर बौद्ध धर्म के तांत्रिक संप्रदाय तथा पौराणिक ब्राह्मणत्व की प्रधानता के कारण जैन धर्म की स्थिति दुर्बल होती गयी।

उपरोक्त परिस्थितियों मे जैन कला की चर्चा के अंतर्गत विवेच्य कालखण्ड की जैन प्रतिमाओं का विवेचन किया जा सकता है।

बंगाल और बिहार

लगभग आठवी शताब्दी के मध्य मे पाल वंश के उत्थान के साथ बंगाल और बिहार कुछ समय के लिए परस्पर एक विशेष राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण मे आबद्ध हो एकरूप हो गये। धर्मपाल और देवपाल के शासनकाल (लगभग नौवी शताब्दी के प्रारंभ) मे यहाँ पर मूर्तिकला की एक सशक्त शैली ने विकास पाया जिसके अंतर्गत प्रचुर मात्रा में मूर्ति-शिल्पों की सर्जना हुई। इस शैली ने गुप्त-काल की कला के श्रेष्ठ गुणों को अपना आधार बनाया और उन्हे पूर्वक्षेत्रीय अनुरूपता के अनुसार रूपांतरित कर एक नया रूप प्रदान किया। इस शैली को सामान्यत. पूर्वीय या पाल-शैली के नाम से अभिहित किया जाता है। बंगाल और बिहार मे प्राप्त बौद्ध, हिन्दू और जैन प्रतिमाएँ इसी शैली की है। इनमें की एक धर्म की प्रतिमाओं को दूसरे धर्म की प्रतिमाओं से मात्र उन धर्मों के देवी-देवताओं के आधार पर ही पृथक् पहचाना जा सकता है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है भारत के किसी भी काल की कला मे जैन कला की चर्चा का तात्पर्य प्रधानत जैन प्रतिमाओं के अध्ययन से है। यह अध्ययन अधिक जटिल नही है क्योंकि जैन प्रतिमाएं एवं उनके अवशेष हमें उपलब्ध है। जैन प्रतिमाओं में अधिकांश सख्या तीर्थंकरों की है। उनके अतिरिक्त कुछ यक्ष और यक्षी-प्रतिमाएँ भी है। बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की विशेष यक्षी अंबिका की भी कुछ स्वतन्त्र प्रतिमाएँ प्राप्त है जो सख्या में गिनी-चुनी ही है। वस्तुत: कई तीर्थंकरों की प्रतिमाएं अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक सख्या में पायी गयी है किन्तु किन्हीं-किन्ही तीर्थंकरों की एक भी प्रतिमा उपलब्ध नही हुई है।

तीर्थंकरों को प्राय. खड़े हुए—कायोत्सर्ग, या बैठे हुए पद्मासन—इन दो ही मुद्राओं में दर्शाया गया है। इन दोनों मुद्राओं मे तीर्थंकरों की देह-यष्टि सीधी तनी हुई भंगिमा में अंकित है। कायोत्सर्ग-मुद्रा में उनकी भुजाएँ धड़ के साथ प्रलंबित है और हाथ की अँगुलियाँ दोनों ओर जंघाओं को छू रही है। पद्मासन मे पालथी मारे दोनों पांवों के तलवे एक-दूसरे पर है और उनपर हाथ की हथेलियाँ एक दूसरे पर रखी हुई ऊपर की ओर है। तीर्थंकरों की पहचान और एक दूसरे से पार्थक्य उनके लांछनों या चिह्नों से होता है। ये लांछन प्रत्येक तीर्थंकर के लिए पृथक्-पृथक् निर्धारित किये गये है। एक स्थान पर दो तीर्थंकरों के लिए परस्पर में कुछ मिलते-जुलते लांछन भी निर्धारित

हो गये हैं, जैसे श्वेतांबर संप्रदाय मे तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का लांछन सात-फणी-नाग-छत्र है जबकि दिगंबर संप्रदाय में सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का लांछन पांच-फणी-नाग-छत्र है ।

शैलीगत विशेषता के आधार पर किसी विशेष कलाकृति के रचना-काल को निर्धारित करने की पद्धति में एक शैली के ऊपर दूसरी शैली के आरोपित हो जाने की संभावना बनी रहती है; इसलिए बहुत संभव है कि अध्याय १५ में उल्लिखित अनेक कलाकृतियाँ विवेच्य कालखण्ड से संबंधित हों। उदाहरण के लिए सुरोहोर से प्राप्त ऋषभनाथ, मण्डोईल से प्राप्त ऋषभनाथ (चित्र १५५ क), कण्टावेनिया से प्राप्त पार्श्वनाथ, उजानी से प्राप्त शांतिनाथ की प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है। अतः पुनरावृत्ति से बचने लिए हम प्रस्तुत विवेचन में बंगाल से प्राप्त प्रतिमाओं (पृ १६०) और अलौरा (जिला मानभूम, बिहार) से प्राप्त कांस्य प्रतिमाओं (पृ १७३) की चर्चा नहीं करेंगे।

इस कालखण्ड की प्रतिमाओं की चर्चा करते हुए हम सबसे पहले पश्चिम बंगाल की ऋषभनाथ की दो प्रतिमाओं का उल्लेख करेंगे, जिनमें से एक प्रतिमा मायता (जिला मिदनापुर) से प्राप्त हुई है और दूसरी गढ़ जयपुर (जैपुर) जिला पुरुलिया से। ऋषभनाथ की पहली प्रतिमा (चित्र १५५ ख) बलुए पत्थर से निर्मित है और कुछ घिसी हुई है। तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं जिनके पार्श्व में दो सेवक है। इस मूर्ति के दोनों पार्श्व मे दो-दो की सख्या में चार अन्य तीर्थंकर-प्रतिमाएँ है। इस प्रतिमा के पादपीठ पर ऋषभनाथ का लांछन वृषभ अंकित है। दूसरी प्रतिमा (चित्र १५६ क) में तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में दो सेवकों के बीच खड़े हैं तथा पादपीठ पर लांछन वृषभ उत्कीर्ण है। ये तीर्थंकर एक मदिर में प्रतिष्ठित दिखाई देते है। मदिर के अग्रभाग पर तोरण है जो त्रिपर्ण अलंकरण से सुशोभित है, और उसका सतहदार मंचों से निर्मित वितान एक आमलक से मण्डित है। इस प्रतिमा पर चौबीसों तीर्थंकरो की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जो छह-छह की संख्या में दो-दो पक्तियों मे उसके दोनों ओर अंकित है। ये दोनों प्रतिमाएँ ग्यारहवी शताब्दी की प्रतीत होती हैं और इस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के अतर्गत आशुतोष म्युजियम ऑफ इण्डियन आर्ट में सुरक्षित हैं। लगभग इसी काल की अन्य प्रतिमाओं में से दो अन्य प्रतिमाएँ भी उल्लेखनीय हैं, जिनमें से एक प्रतिमा ऋषभनाथ की है जो इस समय धारापात (जिला बाँकुरा) के मंदिर की एक दीवार में चिनी हुई है तथा दूसरी प्रतिमा पार्श्वनाथ की है जो बहुलारा (जिला बाँकुरा) के सिद्धेश्वर मंदिर के अंतःभाग में स्थित है।

सोनामुखी (जिला बाँकुरा) में लगभग सातवी शताब्दी निर्मित पद्मासनस्थ ऋषभनाथ की प्रतिमा में एक दुर्लभ मूर्तिपरक विशेषता पायी जाती है।[1] इस प्रतिमा में तीर्थंकर पद्मासन-मुद्रा में एक पद्मपुष्प पर अवस्थित हैं जो एक वृक्ष की फैली हुई पर्णावली पर आधारित है। भामण्डल के दोनों

1 बंद्योपाध्याय (ए के). **बाँकुरा जेलार पुरकीर्ति (बंगला)**. पृ 126 एवं चित्र.

ओर उड़ते हुए विद्याधर प्रदर्शित हैं। तीर्थंकर के शीर्ष के ऊपर एक छत्र तथा पद्मपुष्प के आसन के मध्यभाग में उनका लांछन वृषभ अंकित है। पादपीठ पर वृक्ष के दोनों ओर एक दंपति को विश्राम-मुद्रा में बैठा हुआ दर्शाया गया है जिनके शीर्ष के पीछे एक भामण्डल है। पादपीठ पर और भी अनेक आकृतियाँ हैं जिनमें से एक दान-दाता युग्म को पहचाना जा सकता है। यही विषय-वस्तु उत्तर बंगाल से प्राप्त ग्यारहवीं शताब्दी की एक प्रतिमा (चित्र १५६ ख) में भी देखी जा सकती है जो इस समय बांग्ला देश के राजशाही स्थित वरेंद्र रिसर्च सोसाइटी के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस प्रतिमा में वृक्ष के दोनों ओर अंकित दंपति में से प्रत्येक अपनी-अपनी गोद में एक-एक शिशु लिये हुए बैठा है। दंपति के पद्मपुष्प-आसन के नीचे एक पंक्ति में पाँच आकृतियाँ हैं। ये आकृतियाँ उन दो दान-दाताओं के अतिरिक्त हैं जो पादपीठ के अंतिम छोरों पर अंकित हैं। वृक्ष पर तीर्थंकर को पद्मासनस्थ बैठे हुए दर्शाया गया है किन्तु लांछन के अभाव में यह नहीं पहचाना जा सकता कि यह कौन-से तीर्थंकर हैं। देवपाड़ा (जिला राजशाही, बांग्ला देश) से प्राप्त लगभग बारहवीं शताब्दी का एक अन्य प्रतिमावशेष भी इस संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें भी पूर्वोक्त प्रतिमा के अधोभाग जैसा प्रतिमा-प्रतीक अंकित है (चित्र १५७ क)। इसमें वृक्ष (जिसका अब मात्र तना-भाग ही अवशेष है) के दोनों ओर एक दंपति ललितासन-मुद्रा में बैठा है, जिनमें से प्रत्येक की गोद में शिशु है। इनके पैरों के नीचे चार बैठी हुई आकृतियाँ तथा दो दान-दाताओं की आकृतियाँ हैं। इस प्रतिमा का शीर्ष-भाग विखण्डित है। पूर्व वर्णित दो प्रतिमाओं से इस प्रतिमावशेष की समानता के आधार पर यह स्पष्ट है कि इसके खण्डित अर्धभाग में पद्मपुष्प पर पद्मासनस्थ तीर्थंकर का अंकन रहा होगा, जिनका पद्मपुष्प-आसन उस वृक्ष के फैले हुए पत्तों पर आधारित रहा होगा जिसका अब प्रतिमावशेष के अधोभाग पर मात्र तना ही शेष रह गया है। इन तीनों प्रतिमाओं के समूह की पहली ऋषभनाथ की प्रतिमा से स्पष्ट है कि इस शिल्पांकित प्रतिमा-प्रतीक का संबंध जैन धर्म से रहा है। इस संदर्भ में वृक्ष के दोनों ओर अंकित दंपति को ऋषभनाथ के विशेष यक्ष गोमुख तथा यक्षी चक्रेश्वरी के रूप में तथा इस वृक्ष को बटवृक्ष या बरगद के रूप में पहचानना असंगत नहीं होगा। शेष दोनों प्रतिमाओं के तीर्थंकरों को पहचानना संभव नहीं है क्योंकि दूसरी प्रतिमा में तीर्थंकर की आकृति ही नष्ट हो चुकी है। उपरोक्त दोनों (दूसरी और तीसरी) प्रतिमाएँ एक अन्य विशेषता भी सूचित करती है; वह यह कि नर-नारी दोनों ही की गोद में शिशु दर्शाये गये हैं। इस संदर्भ में कलकत्ता के विजय सिंह नाहर के संग्रह में सुरक्षित बिहार से प्राप्त उस प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें इसी विषय-वस्तु के अंकन में शिशु को मात्र नारी की ही गोद में बैठे हुए दर्शाया गया है। यक्षियों में अंबिका अपने नामानुसार मातृत्व का प्रतीक है एवं अपनी स्वतंत्र प्रतिमाओं में भी शिशु या शिशुओं सहित अंकित पायी गयी है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपरोक्त तीनों प्रतिमाएँ तीर्थंकर नेमिनाथ, उनके यक्ष गोमेध तथा यक्षी अंबिका की हो सकती हैं।

पटना संग्रहालय[1] स्थित, अलौरा से प्राप्त कांस्य प्रतिमाओं का रचना-काल बारहवीं शताब्दी से पूर्व मानना कठिन होगा। इन प्रतिमाओं को पहले ही अध्याय १५ (पृ १७३) में सम्मिलित किया

1 **पटना म्यूजियम कैटेलॉग ऑफ एण्टीक्विटीज** संपा. गुप्त (परमेश्वरी लाल). 1965. पटना. पृ 160-61.

जा चुका है। अलौरा के भूमिगत भण्डार से २६ प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें से कुछ अभिलेखांकित हैं। अभिलेखों में इन मूर्तियों के दान-दाताओं का उल्लेख है, जिनमें से एकाध आचार्य भी है। इन प्रतिमाओं में से एक में लांछनों सहित तीर्थंकर ऋषभनाथ और महावीर को अंकित किया गया है। यहाँ यह उल्लेख करना भी उपयुक्त रहेगा कि इस भण्डार के वर्गीकरण से यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में लगभग इसी काल के अंतर्गत कौन-कौन-से तीर्थंकर अधिक लोकप्रिय थे। इस वर्गीकरण के अनुसार सबसे अधिक प्रतिमाएँ ऋषभनाथ की हैं, जिनकी संख्या आठ है, इसके उपरांत महावीर और कुन्थुनाथ का दूसरा स्थान है जिनकी छह-छह प्रतिमाएँ हैं, चंद्रप्रभ एवं पार्श्वनाथ की दो-दो प्रतिमाएँ तथा अजितनाथ, विमलनाथ एवं नेमिनाथ की एक-एक प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त अंबिका यक्षी की प्रतिमाओं का भी समूह (चित्र १५७ ख) यहाँ पाया गया है।[1] इस संदर्भ में मानभूम (बिहार) से प्राप्त ऋषभनाथ की एक कांस्य-प्रतिमा (चित्र १५८ क) का भी उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा जो इस समय आशुतोष संग्रहालय में है। अपने अनगढ़पन के कारण इस प्रतिमा का रचना-काल बारहवीं शताब्दी से पूर्व का निश्चित नहीं किया जा सकता।

अलौरा से तेरहवीं शताब्दी की एक पाषाण-प्रतिमा भी प्राप्त हुई है जो तीर्थंकर शांतिनाथ के कायोत्सर्ग-मुद्रा की है। पादपीठ पर उनका लांछन हरिण अंकित है। शीर्ष पर छत्र-अंकित इस प्रतिमा पर अन्य अनेक तीर्थंकरों की आकृतियाँ भी प्रदर्शित हैं।

मानभूम जिलांतर्गत पालमा से भी तीन प्रतिमाएँ मिली हैं जिनमें से दो क्रमश. तीर्थंकर अजितनाथ (चित्र १५८ ख) एवं शांतिनाथ की है। इन प्रतिमाओं का समय ग्यारहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। पहली प्रतिमा में तीर्थंकर अजितनाथ को एक मंदिर में प्रतिष्ठित दर्शाया गया है। मंदिर के सम्मुख भाग में एक त्रिपर्ण तोरण है, जिसपर नागर-शैली का एक वक्राकार शिखर मण्डित है। इस प्रतिमा से यह भी प्रमाण मिलता है कि जैन उपासक उत्तर भारत की प्रचलित शैली में भी अपने मंदिरों का निर्माण करते थे। यह प्रतिमा विशालाकार है। इसके पादपीठ पर तीर्थंकर का लांछन गज अंकित है। दूसरी प्रतिमा के पादपीठ पर लांछन हरिण अंकित है जिससे यह पहचाना जा सकता है कि यह प्रतिमा शांतिनाथ की है। इसी काल की एक तीसरी प्रतिमा भी है। यह प्रतिमा जिस प्रकार से अंकित है उससे अनुमान होता है कि यह प्रतिमा तीर्थंकर नमिनाथ की है; लेकिन इसपर अंकित लांछन गज के होने से यह भी संभव है कि यह प्रतिमा अजितनाथ की हो। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक हैं। इस प्रतिमा के प्रत्येक पार्श्व में तीन-तीन तीर्थंकरों की चार लंबमान पंक्तियों में बारह-बारह तीर्थंकर अंकित हैं।

स्थापत्य में प्रयुक्त एक जैन कला-प्रतीक

हम जैनों के एक ऐसे विशेष मूर्तिपरक कला-प्रतीक से परिचित हैं जिसे चतुर्मुख (चौमुख या चौमुह) कहा जाता है। इसमें एक वर्गाकार शिलाखण्ड की चारों सतहों पर (चार) प्रतिमाएँ उत्कीर्ण

---

1 वही, पृ 90.

होती हैं जिसमें प्राय: ऋषभनाथ, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का अंकन होता है। कुछ चौमुख प्रतिमाओं की चारों सतहों पर एक ही तीर्थंकर का अंकन पाया गया है। विवेच्य कालखण्ड की अनेकानेक चौमुख प्रतिमाएँ पूर्व-भारत से उपलब्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी चौमुख प्रतिमाएँ भी प्राप्त हैं जो इनसे भी आद्यकालीन हैं।

यहाँ पर दो चतुर्मुख प्रतिमाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो पश्चिमी बंगाल के क्रमश: पुरुलिया और देवलिया (जिला बर्दवान) से प्राप्त हुई हैं और इस समय आशुतोष संग्रहालय में संरक्षित हैं। पहली चतुर्मुख प्रतिमा (चित्र १५६ क) ग्यारहवीं शताब्दी की है और दूसरी संभवत: इससे कुछ ही परवर्ती अवधि की। प्रत्येक प्रतिमा में उपरोक्त चारों तीर्थंकर अंकित हैं। प्रतिमा का शीर्षभाग नागर-शैली के मंदिर-शिखर की भाँति वक्ररेखीय स्तूपाकार है। पहली चौमुख प्रतिमा में लांछनों के खण्डित हो जाने से किसी भी तीर्थंकर को पहचानना संभव नहीं है। दूसरी प्रतिमा के दो आसन-पार्श्वों पर के अंकन से पार्श्वनाथ और महावीर को पहचाना जा सकता है। दूसरी प्रतिमा के शिखर (चित्र १५६ ख) पर आमलक और कलश है। यह शिखर अनुपात की दृष्टि से बौना है। पहली चतुर्मुख प्रतिमा का आमलक तथा कलश नष्ट हो चुका है। फिर भी शिखर आकर्षक और लालित्यपूर्ण दिखाई देता है। इस प्रकार की अनेक चतुर्मुख प्रतिमाएँ पश्चिम बगाल के विभिन्न भागों से प्राप्त हुई हैं जिनके शीर्ष नागर-शैली के शिखरों से मण्डित है। ये प्रतिमाएँ इस समय पश्चिम बंगाल की राजकीय पुरातत्त्व-दीर्घा में देखे जा सकते है।

जैन कला के इस विशिष्ट प्रतिमा-प्रतीक का सबध एक दुर्लभ प्रकार के मंदिरों के विकास के साथ-साथ देखा जा सकता है। इस दुर्लभ प्रकार के मंदिरों का महत्त्वपूर्ण प्रतिबिंबन दक्षिण-पूर्व एशिया में भी पाया गया है। चतुर्मुख प्रतिमाओं का अंकन जैनों में अत्यत प्रारभिक काल से लोकप्रिय है। चतुर्मुख प्रतिमाओं का उल्लेख ईसा संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों के अभिलेखों में प्रतिमा-सर्वतोभद्रिका के नाम से प्राप्त होता है। सर्वतोभद्रिका का अर्थ है––'सर्वत्र कल्याणकारी'। यहाँ यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है कि जैनों ने चतुर्मुख प्रतिमा के रूप में एक ऐसी उपास्य प्रतिमा की अवधारणा कर उसका विकास किया है जिस प्रतिमा तक समस्त आसन्न दिशाओं से पहुँचा जा सके और जिसके पीछे व्यावहारिक एव तार्किक आधार हो। यह प्रतिमा स्वय एक ऐसे मंदिर की रचना का सकेत देती है जिसमें चारों ओर चार ऐसे प्रवेश-द्वार हों जिनमें से प्रत्येक तीर्थंकर-प्रतिमा के सम्मुख खुलते हों। इस प्रकार का चौमुखा या सर्वतोभद्र-मंदिर ही इस चतुर्मुख प्रतिमा के लिए उपयुक्त मदिर हो सकता है। अत: जैनों ने इस प्रकार के मदिर का विकास भी चतुर्मुख प्रतिमा के साथ-साथ ही किया।

इस संदर्भ में यह उल्लेख भी उपयोगी रहेगा कि भारतीय शिल्प-विषयक साहित्य मे मदिर के एक ऐसे प्रकार का अनेक स्थानों पर उल्लेख है जिसे सर्वतोभद्र-मदिर कहा गया है। विभिन्न ग्रथों में सर्वतोभद्र-मंदिर के विवरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किये गये है। ये समस्त विवरण इस तथ्य पर एकमत हैं कि इस मदिर की योजना मूल रूप में वर्गाकार हो तथा प्रत्येक दिशा में एक-एक प्रवेश-द्वार हो। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि चतुर्मुख प्रतिमा – सर्वतोभद्रिका – के लिए चार

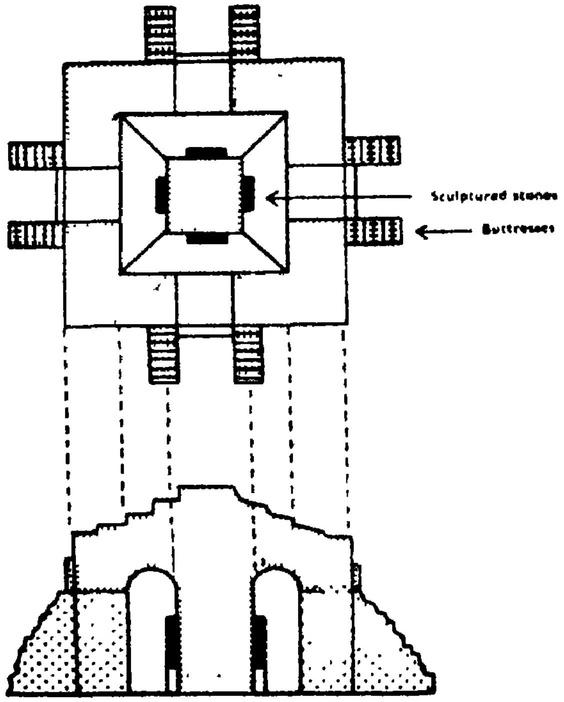
प्रवेश-द्वारोंवाला मंदिर सर्वतोभद्र ही समुचित रूप से उपयुक्त है; अतः सर्वतोभद्र नाम अकारण नहीं है, अपितु वह इस प्रकार के मंदिर की समस्त विशेषताओं की स्वयमेव अभिव्यंजना करता है। सर्वतोभद्रिका और सर्वतोभद्र दोनों ही परस्पर साथ-साथ चलते प्रतीत होते हैं—एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वतोभद्र और सर्वतोभद्रिका नामों में पहले से कुछ विशेष संबंध रहा है। अत: यह मानना अनुपयुक्त न होगा कि चौमुखी प्रतिमाओं की समुचित प्रतिष्ठापना के लिए जैनों ने चौमुख मंदिरों का विकास किया है।

सर्वतोभद्र-मंदिर के विकास संबंधी हमारे उपरोक्त मत को चतुर्मुखी प्रतिमाओं से तार्किक समर्थन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनों ने चतुर्मुख प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना के लिए सादे एव अलंकरणरहित सर्वतोभद्र-मंदिरों का विकास बहुत पहले ही कर लिया गया था। इन मंदिरों को जिस बाह्य सरचना से अलंकृत किया गया है, वह पूर्व-मध्यकाल की है। इस प्रकार के प्रारंभिक चौमुख मंदिरों में रनकपुर (राजस्थान) स्थित पंद्रहवीं शताब्दी का युगादीश्वर जैन मंदिर सर्वाधिक उल्लेखनीय है।

प्रारंभिक अवस्था के सादा एवं अलकरणरहित चौमुख मंदिरों में कालांतर से प्रयुक्त बाह्य संरचनाओं के प्रावधान में निहित नयी संरचना को पहचानना कठिन नहीं है। बाह्य संरचनाओं में उत्तर-भारतीय मंदिर-स्थापत्य के प्रचलित लक्षणों तथा आमलक एवं कलश-मण्डित वक्राकार शिखरों को अपनाया गया है। इन मंदिरों ने नागर-शैली के शिखरों को अपनाकर भारतीय स्थापत्य को एक नया आयाम प्रदान किया। सर्वतोभद्रिका की अवधारणा ने बौद्धों के दो उपास्य मंदिरों में भी अभिव्यक्ति पायी है जिनमें से एक तो पाषाण-निर्मित है, जो दीनाजपुर (बांग्ला देश) से प्राप्त हुई है और दूसरी कांस्य-निर्मित है, जो झेवारी (जिला चटगाँव, बांग्ला देश) से प्राप्त हुई है (चित्र १६० क)। ये दोनों ही मंदिर के आकार के हैं तथा शिखरमण्डित हैं। इनकी चारों सतहों के अधोभागों पर देवकुलिकाएँ निर्मित हैं, जिनमें चार प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं, (देवकुलिकाएँ कांस्य नमूने की हैं और इस समय रिक्त हैं)। इसमें संदेह नहीं कि यह बौद्ध उपास्य स्थल जैन सर्वतोभद्रिका से प्रभावित है तथा सर्वतोभद्र की अभिकल्पना की प्रतिकृति है जिसमें चार प्रवेश-द्वारोंवाला यह मंदिर शिखर-मण्डित होता है।

पूर्व-भारत में भारतीय स्थापत्य के इस नये आयाम ने जो लोकप्रियता प्राप्त की, उसे इस क्षेत्र में पाये गये मंदिरों में देखा जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार के मंदिर बहुत ही कम मिले हैं लेकिन जो भी मिले हैं उनकी प्रतिमाओं में कुछ अतिशयता है। इस क्षेत्र के कुछ प्रसिद्ध चौमुख मंदिरों का चित्रांकन पाण्डुलिपि-चित्रों में भी पाया गया है। इस प्रकार के मंदिरों ने इस क्षेत्र से बाहर भी विकास पाया परन्तु इस प्रकार का कोई मंदिर अपने पूर्ण रूप में देश के किसी अन्य क्षेत्र में उपलब्ध नहीं है। चौमुख मंदिर के संभावित रूपाकार को समझने के लिए बर्मा के उन मंदिरों का उल्लेख किया जा सकता है जिसका निर्माण बौद्धों ने अपने उपयोग के लिए किया। बर्मा के इन मंदिरों में जैन सर्वतोभद्रिका को ही नहीं वरन् सर्वतोभद्र की अभिकल्पना को भी सुस्पष्ट और सुनिश्चित विधि से

अपनाया गया है । इन मंदिरों में प्रत्येक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा चार द्वारों से युक्त वर्गाकार गर्भगृह के मध्य में वेदी के स्थान पर प्रतिष्ठित है । इन मंदिरों में संभवतः सबसे प्राचीन मंदिर लेमेत्थना बर्मा के निचले भाग में हमवाजा (थाइखेत्ता—श्रीक्षेत्र, प्राचीन प्रोम) स्थित मंदिर है । यद्यपि इसके निर्माण की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है, तथापि कुछ विद्वान् इस प्राचीन नगर के स्मारकों में इसे सबसे प्राचीनतम मानते है, जिसके आधार पर वे इसके लिए पाँचवीं और आठवी शताब्दी के मध्य का काल निर्धारित करते है । इसकी ध्वस्त स्थिति के उपरात भी इसके संयोजन की मूलभूत विशेषताओं का निर्धारण भली-भाँति किया जा सकता है । यह वर्गाकार है और इसकी चारों भुजाओं पर चार प्रवेश-द्वार है (रेखाचित्र १९)। प्रत्येक प्रवेश-द्वार को उसके पार्श्व पर प्रक्षिप्त दीवारों से और सुदृढ किया गया है । गर्भगृह के केंद्र मे ईटों मे निर्मित एक ठोस वर्गाकार स्तंभ है जो प्रत्येक द्वार की

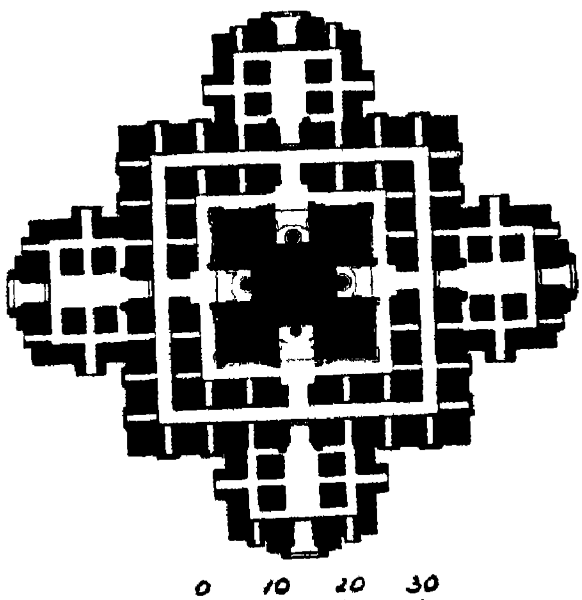


रेखाचित्र 19. हमवाजा (प्रोम, बर्मा) : लेमेत्थना की रूपरेखा एवं विभाग

केंद्रवर्ती रेखा पर स्थित है । इस स्तभ की चारों सतहों पर शिल्पांकित प्रतिमाएँ है । यह ऊँचाई में गर्भगृह की छत से लगा हुआ है जिससे इस स्तभ और गर्भगृह की भित्तियों के मध्य की दूरी वेदिका के चारों ओर एक प्रदक्षिणा-पथ जैसी दीर्घा की रचना करती है । इस तरह इस मंदिर में प्रयुक्त जैन सर्वतोभद्रिका और सर्वतोभद्र की अभिकल्पना देखी जा सकती है ।

बौद्धों में इस प्रकार के मंदिर एक लंबे काल तक लोकप्रिय रहे है । बर्मी कला एवं स्थापत्य के पारंपरिक (पगान) काल मे इस प्रकार के अनेक उल्लेखनीय मंदिरों का निर्माण हुआ जिसमें

पगान स्थित सुप्रसिद्ध आनंद या नंद-मंदिर सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इस मंदिर का निर्माण एवं प्रतिष्ठा क्यान्जित्था द्वारा सन् १०९१ या ११०५ में करायी गयी थी। लेमेत्थना और आनंद-मंदिरों के मध्यवर्ती काल में मंदिर के नियोजन और उनकी ऊँचाई दोनों ने ही विशदता ग्रहण कर ली थी। इन मंदिरों में मूर्ति के स्वरूप और उसके स्थापत्यीय विनियोग को दृष्टि से ओझल नहीं किया गया। आनंद एक वर्गाकार मंदिर है जिसके चारों ओर आसन्न दिशाओं की प्रत्येक भित्ति के मध्यवर्ती भाग में प्रक्षिप्त प्रवेश-मण्डप है। इस प्रकार इस मंदिर की बाह्य विन्यास-रूपरेखा क्रूस-आकार की है। मंदिर के केंद्रवर्ती भाग में ईंटों का चिना हुआ एक ठोस वर्गाकार स्तंभ है जिसपर चार विशालकाय बुद्ध-प्रतिमाएँ हैं। प्रतिमाएँ देवकुलिकाओं में स्थित हैं जो परस्पर अंतरावकाश लिये हुए स्तंभ की चारों सतहों पर निर्मित हैं (रेखाचित्र २०)। चौमुखी वेदी के चारों ओर दो समकेंद्रक दीर्घाएँ है



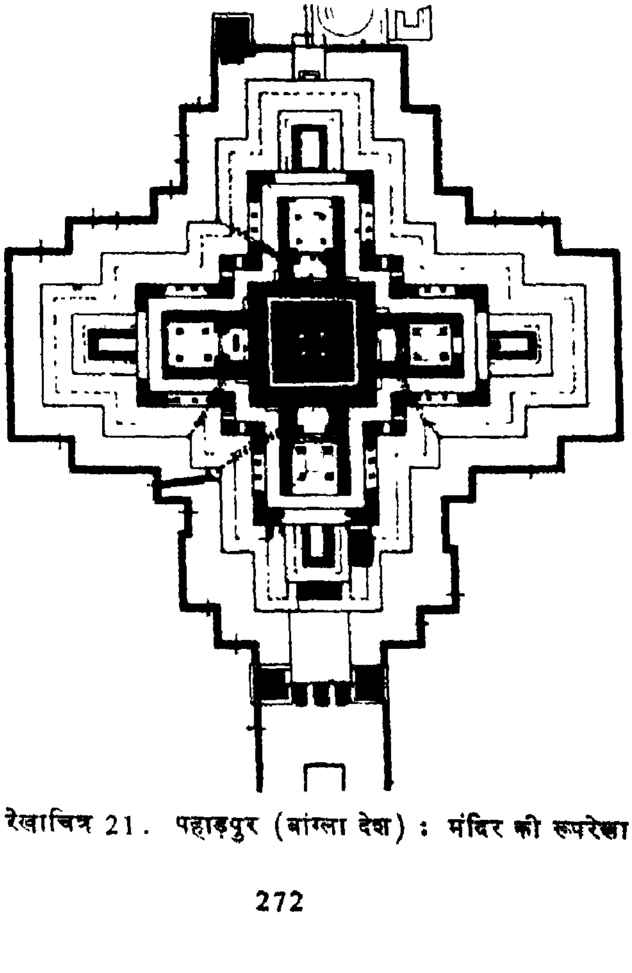
रेखाचित्र 20. पगान (बर्मा) : आनंद-मंदिर की रूप-रेखा

जो एक दूसरे में खुलती है। प्रवेश-मण्डपों तथा भित्तियों में जालीदार खिड़कियाँ लगी हैं, अतः आने-जाने के मार्ग एक दूसरे को काटते है। मंदिर के भीतर, विशेषकर वेदिका की प्रतिमाओं पर, प्रकाश आने के लिए बाह्य संरचना में चारों सतहों पर उभरे हुए चार झरोखों की रचना की गयी है। मंदिर की शीर्ष-संरचना में दीर्घाओं के ऊपर अंतरावकाश-युक्त दो सतहवाली छतें हैं जिनपर एक वक्राकार शिखर मण्डित है। शिखर उस वेदिका के ऊपर है जिसपर गर्भगृह की बुद्ध-प्रतिमाएँ स्थित हैं। प्रत्येक प्रवेश-द्वार ढोलाकार छत से आच्छादित है, जिसके सामने के भाग पर त्रिकोणाकार शिखर है। इस प्रकार इस मंदिर में जैन चतुर्मुख या सर्वतोभद्र-मंदिर की परिकल्पना की अत्यंत

उल्लेखनीय अभिव्यक्ति देखी जा सकती है ।

बर्मा में इस प्रकार के मंदिरों का उपयोग हिन्दू धर्म के लिए भी हुआ है । इस संदर्भ में नट ह्लौंग क्यौग विष्णु-मंदिर का उल्लेख किया जा सकता है जो पगान स्थित सैकड़ों बौद्ध मंदिरों के मध्य एकमात्र हिन्दू मंदिर है । इस मंदिर का निर्माण लगभग दसवीं शताब्दी के मध्य हुआ था । इस मंदिर का गर्भगृह लगभग वर्गाकार है जिसके मध्य मे ईंटों से निर्मित एक ठोस वर्गाकार स्तंभ है । स्तंभ की चारों सतहों पर ईंटों से निर्मित चार बड़ी प्रतिमाएँ हैं । ये प्रतिमाएँ संभवत: विष्णु के अवतारों की है । इस संभावना का आधार मदिर की बाह्य भित्तियों पर शिल्पांकित विष्णु के अवतारों की प्रतिमाएँ हैं । इस प्रकार के स्तंभ या ईंट-निर्मित स्तंभ से,जिनकी चारों सतहों पर प्रतिमाएँ जड़ी हैं, चाहे वे बौद्ध हों या हिन्दू, यह स्पष्टत: पहचाना जा सकता है कि उनके निर्माण की प्रेरणा जैन चतु-र्मुख या सर्वतोभद्र-प्रतिमा से ग्रहण की गयी है ।

यहाँ पर इन बर्मी मंदिरों के उल्लेख करने का कारण यह है कि इन मंदिरों के भली-भाँति सुरक्षित होने के कारण इनमें प्रयुक्त सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा और सर्वतोभद्र-मंदिर की अभिकल्पना को सरलता से समझा जा सकता है । भारत में उपलब्ध कम से कम ऐसे ही दो बौद्ध मंदिरों के भग्नावशेषों के प्राप्त होने से यह अनुमान किया जाता है कि इन बौद्ध मंदिरों में भी सर्वतोभद्र और सर्वतोभद्रिका



रेखाचित्र 21. पहाड़पुर (बांग्ला देश) : मंदिर की रूपरेखा



(क) मण्डोइल — तीर्थंकर ऋषभनाथ (आशुतोष संग्रहालय)



(ख) मायता — तीर्थंकर ऋषभनाथ (आशुतोष संग्रहालय)

चित्र 155



(क) गढ़ जयपुर — तीर्थंकर ऋषभनाथ (आशुतोष संग्रहालय)



उत्तर बंगाल — एक मूर्ति (म्यूजियम ऑफ वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी)

चित्र 156



(ख) अलौरा — अंबिका की कास्य-मूर्ति (पटना संग्रहालय)

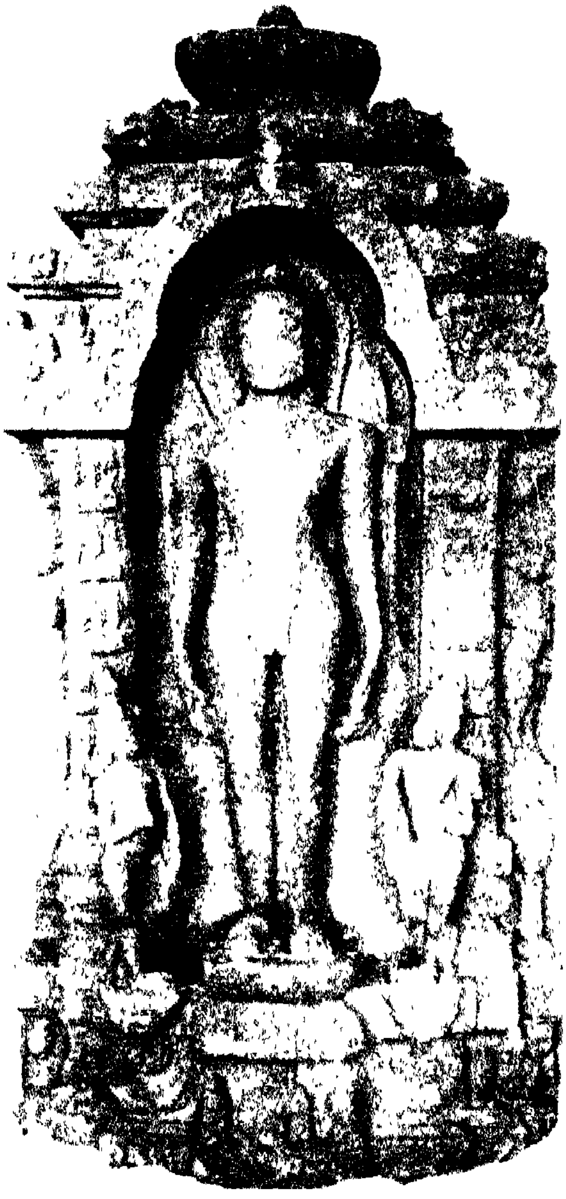


(क) देवपाड़ा — एक मूर्ति (म्यूजियम ऑफ वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी)

चित्र 157



(क) मानभूम — तीर्थंकर ऋषभनाथ की कांस्य-मूर्ति (आशुतोष संग्रहालय)



(ख) पलमा — तीर्थंकर अजितनाथ (पटना संग्रहालय)

चित्र 158

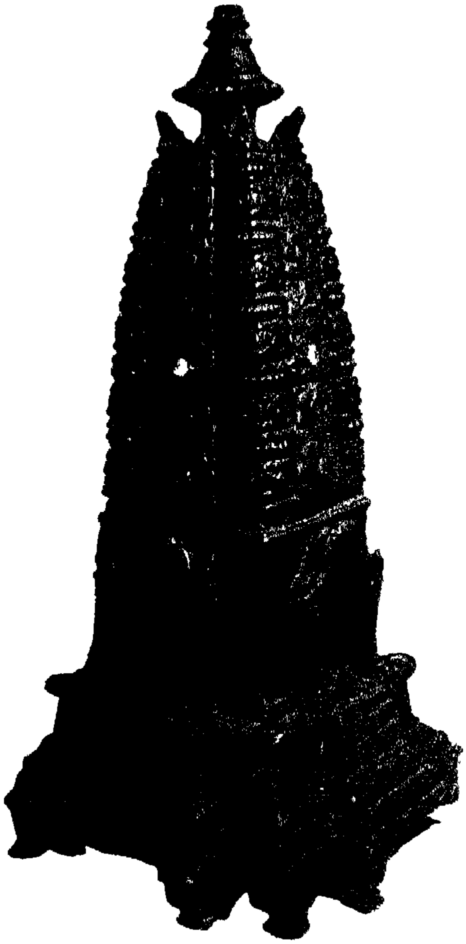
(ख) दउलिया — चतुर्मुख (आशुतोष संग्रहालय)





(क) पुरुलिया — चतुर्मुख (आशुतोष संग्रहालय)

चित्र 159



(क) भवारी — मंदिर की कांस्य-निर्मित अनुकृति (भारतीय संग्रहालय)



(ख) बानपुर — तीर्थंकर ऋषभनाथ की कांस्य-मूर्ति (भुवनेश्वर संग्रहालय)

चित्र 160



(ख) उडीसा — तीर्थंकर पार्श्वनाथ (खिचिंग संग्रहालय)



(क) बानपुर — तीर्थंकर चंद्रप्रभ की कास्य-मूर्ति (भुवनेश्वर संग्रहालय)

चित्र 161



(क) उड़ीसा — यक्षी-मूर्ति (बारिपद संग्रहालय)



(ग) साकटपुर — चंद्रप्रभ की कांस्य-मूर्ति (आशुतोष संग्रहालय)

चित्र 162

की अभिकल्पना को अपनाया गया है। ये दोनों मंदिर पूर्व-मध्यकालीन के है, जिनमे से एक मंदिर ईंट-निर्मित और विशालाकार है, जो पहाड़पुर (जिला राजशाही, बांग्ला देश) स्थित बौद्ध मठ के मध्यवर्ती भाग मे अपना प्रमुख स्थान रखता है। यहाँ पर सोमपुरा नामक एक महान बौद्ध विहार था जिसका निर्माण पालवंशीय द्वितीय-शासक धर्मपाल ने लगभग आठवीं शताब्दी के अंत या नौवीं शताब्दी के प्रारंभ में कराया था जैसा कि गुप्त संवत् १५६ (सन् ४७८-७६ ई०) के एक ताम्रपत्र-अनुदान से ज्ञात होता है, उससे पूर्ववर्ती काल मे यहा पर या इसके निकटवर्ती क्षेत्र मे एक जैन बस्ती थी। ईंट-निर्मित इस विशालाकार बौद्ध मंदिर मे अनेक असामान्य विशेषताएँ रही है जिनकी चर्चा यहा आवश्यक है। इस बौद्ध मंदिर में इसका रूप और आकार उल्लेखनीय है। इस लेखक ने अन्यत्र उल्लेख किया है कि यह मंदिर इस विशाल स्मारक के दूसरे तल के मण्डप मे स्थित था। मंदिर के मध्य मे एक वर्गाकार स्तंभ था जिसकी प्रत्येक सतह के समक्ष आगे की ओर प्रक्षिप्त कक्ष थे। इस सारी संरचना के चारों ओर एक प्रदक्षिणा-पथ था (रेखाचित्र २१) इस संरचना से यह भली-भांति अनुमान किया जा सकता है कि स्तंभ की चारो सतहो से सटी हुई एक-एक प्रतिमा रही होगी। इस प्रकार इस मंदिर मे जैन सर्वतोभद्रिका का उपयोग देखा जा सकता है। हमारे इस सुझाव का समर्थन बुद्ध-प्रतिमा के पादपीठ के वे अवशिष्ट भाग करते है जो कुछ कक्षो मे स्तंभ से जुड़े हुए है। स्तंभ की सतहो से इस मंदिर के प्रश्न का समाधान बर्मा के पूर्वोक्त मंदिर कर देते है जिनके विषय मे किसी प्रकार का संदेह नही है। पगान के इन मंदिरो की समानता के आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि उस भव्य मंदिर की छत कई सतहवाली मंचाकार ही रही होगी, तथा उस पर वक्राकार शिखर रहा होगा, जो प्रतिमावाले वर्गाकार स्तंभ पर आधृत रहा होगा। यह स्तंभ ऊपरी तलो के मण्डपो को पार करता हुआ छत तक आया होगा।

इसी प्रकार के एक दूसरे बौद्ध मंदिर के भग्नावशेष मैनामती पहाड़ियो (जिला कुमिल्ला, बाग्ला देश) मे स्थित सालवन-विहार मे पाये गये है। सालवन-विहार को पूर्व बंगाल के देववंशीय चतुर्थ-शासक बौद्ध धर्मानुयायी भावदेव के विहार के रूप मे पहचाना जा सकता है। इस चतुष्कोणीय बौद्ध विहार के मध्यवर्ती भाग मे पाये गये इस मंदिर के अवशेषों से ज्ञात होता है कि इनमे पहाड़पुर मंदिर के दूसरे तल की विन्यास-रूपरेखा को ही अपनाया गया है। इस मंदिर के मध्यवर्ती भाग मे ईंट-निर्मित वर्गाकार स्तंभ था जिसकी चारो सतहो पर प्रक्षिप्त चार कक्ष थे। चारो कक्षों मे स्तंभ से सटी हुई प्रतिमाएँ थी। उनमें से एक कक्ष में कांस्य निर्मित बुद्ध की प्रतिमा का एक अवशेष भी पाया गया है, जो पहाड़पुर-मंदिर के विषय मे व्यक्त की गयी इस संभावना का भी समर्थन करता है कि वर्गाकार स्तंभ की चारो सतहों पर प्रतिमाएँ थी। ये दोनो ही मंदिर अत्यंत खण्डित अवस्था मे है। लेकिन इन मंदिरो की रचना का विवरण पूर्वोक्त पगान मंदिरो से उल्लेखनीय साम्य दर्शाता है। इन मंदिरों की वेदियो से प्रतीत होता है कि इनका आदर्श जैनो की सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा रही है।

1 सरस्वती (एस के), **स्ट्रगल फॉर एम्पायर**, संपा : मजुमदार (आर सी) एवं पुसालकर (ए डी), 1957 बंबई. पृ 637-38.

बर्मा के पगान स्थित नट ह्लाउग क्याउग विष्णु-मंदिर में भी जैन सर्वतोभद्रिका को अपनाया गया है, अतः इस संदर्भ में यह जाँच-पड़ताल उपयोगी होगी कि क्या देश या विदेश में इस प्रकार का कोई और भी हिन्दू मंदिर है जिसमें सर्वतोभद्रिका को अपनाया गया हो। प्रतिमा-विज्ञान में कहीं-कहीं अनेक हिन्दू देवी-देवताओं की अवधारणा ऐसी चतुर्मुख प्रतिमा में की गयी है जिनके चारों मुख चारों मुख्य दिशाओं में है। लेकिन उस अवधारणा को मात्र ऐसी प्रतिमा में ही रूपांतरित किया गया है जिसके मात्र सम्मुख भाग पर ही आकृतियाँ अंकित है। फलतः उन तक पहुँचने के लिए सम्मुख द्वार की ही आवश्यकता होती है। अतः इस प्रकार के मूर्तिपरक कला-प्रतीक को हिन्दू प्रतिमा-शास्त्र में उस समानांतर भावार्थ में नहीं लिया जा सकता जिस भावार्थ में जैन सर्वतोभद्रिका को लिया जाता है। इस तथ्य की सोदाहरण व्याख्या के लिए हिन्दुओं के त्रिदेवों में सर्वप्रथम देव ब्रह्मा तथा विष्णु के वैकुण्ठ रूप का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें से ये प्रत्येक देव, मूर्तिपरक विवरणों के अनुसार, चार मुखवाले है लेकिन इनकी मूर्तियों का निर्माण केवल सम्मुख-दृश्य को ध्यान में रखकर हुआ है। इन दोनों देवों के मंदिर अल्प संख्या में ही ज्ञात है और उनमें एक ही प्रवेश-द्वार है, जो सम्मुख दिशा में है। विष्णु के मंदिरों में खजुराहो (मध्य प्रदेश) स्थित लक्ष्मण-मंदिर सर्वाधिक उल्लेखनीय है जिसमें वैकुण्ठ-विष्णु की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मंदिर में एक ही प्रवेश-द्वार है जो मूर्ति की सम्मुख दिशा में है। यहाँ पर ब्रह्मा का भी एक मंदिर है जिसमें चारों दिशाओं में चार द्वार दिखाई देते है, लेकिन तीन ओर के द्वार जालीदार प्रस्तर-फलकों से अवरुद्ध है, मात्र पूर्व दिशा का द्वार ही प्रवेश-द्वार है। एक ही ओर चारों मुँह उत्कीर्ण रहने वाली हिन्दू प्रतिमाओं के लिए ऐसे मंदिर की आवश्यकता नहीं है जिसके चार प्रवेश-द्वार हों।

जैन सर्वतोभद्रिका का प्रतिबिंब हिन्दुओं के उस शिवलिंग में देखा जा सकता है जिसकी चारों सतहों पर चार मुखाकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिन्हे सामान्यतः चतुर्मुख लिंग या चतुर्मुख महादेव के नाम से जाना जाता है। शिवलिंग की अवधारणा और अंकन योनि के आकार की रचना में स्थापित बेलनाकार शिश्न-प्रतीक के रूप में की गयी है। चतुर्मुख लिंग-प्रतिमाओं का प्रचलन हिन्दुओं में अत्यंत प्राचीन काल से रहा है। अतः यह कहना कठिन है कि जैन सर्वतोभद्रिका या चतुर्मुख लिंग——इन दोनों में से किसकी अवधारणा प्राचीनतम है। परन्तु यह संदेह रहित है कि इन दोनों का वैचारिक आधार एक ही है। सादा एवं अलंकरणरहित बेलनाकार लिंग अथवा चतुर्मुख लिंग के लिए चारों ओर से प्रवेश-द्वारों की आवश्यकता की पूर्ति जैन सर्वतोभद्र-अभिकल्पना का मंदिर ही कर सकता है। भारत में सहस्रों की संख्या में शिव-मंदिर है जिनमें उपास्य प्रतिमा के रूप में लिंग-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित है, जो या तो सादा है या फिर उनके चारों ओर चतुर्मुख प्रतिमाएँ अंकित हैं। इनमें से किसी-किसी मंदिर में ही एक से अधिक प्रवेश-द्वार हैं। यहाँ तक कि नचना (मध्य प्रदेश) स्थित चतुर्मुख-महादेव-मंदिर में भी एक ही प्रवेश-द्वार है जो सम्मुख दिशा में है; जबकि इस मंदिर की प्रतिमा चतुर्मुखी है। खजुराहो स्थित मतंगेश्वर-मंदिर में यद्यपि चारों दिशाओं में प्रवेश-द्वार दिखाई देते है किन्तु इसमें वस्तुतः एक ही प्रवेश-द्वार है जो पूर्व दिशा में है।

इस संदर्भ में लगभग बारहवीं शताब्दी के वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथ अपराजितपृच्छा द्वारा प्रदत्त जानकारी महत्त्वपूर्ण है[1]। यह ग्रंथ एक शिव-मंदिर के लिए सर्वतोभद्र मंदिर के प्रकार का निर्देश देता है (सर्वत्र सर्वतोभद्र-चतुर्द्वार: शिवालय:)। प्रतीत होता है कि इस प्रकार के मंदिर को शैव मतावलंबियों ने उत्तरवर्ती काल मे अपनाया। नेपाल के पशुपतिनाथ और वाराणसी के विश्वनाथ-मंदिरो मे (जैसे वे आज हैं) अपराजितपृच्छा द्वारा निर्देशित योजनानुरूप चारों आसन्न दिशाओ मे चार प्रवेश-द्वार है। पशुपतिनाथ-मंदिर के गर्भगृह में चतुर्मुख लिंग स्थापित है। बंगाल के उत्तर-मध्यकालीन कुछ शिव-मंदिरों मे योजनानुसार सर्वतोभद्र की चारो दिशाओं में प्रवेश-द्वार है। अपराजितपृच्छा मे सर्वतोभद्र जैसे शिव-मंदिर का विवरण निष्प्रयोजन नही है। यह इस संभावना को भी बल दे सकता है कि शैवों ने शिव-मंदिरो के लिए सर्वतोभद्र-योजना को जैनो से ग्रहण किया है।

इससे ज्ञात होता है कि सर्वतोभद्र-प्रकार के मंदिरों का प्रभाव संप्रदायगत सीमाओं से परे भी गया, जिसके आधार पर बने उल्लेखनीय मंदिर अन्य धर्मो तथा देश-विदेश मे भी पाये जाते है। यह उपरोक्त सर्वेक्षण अभी अपनी प्राथमिक अवस्था में है अत: इसके लिए पूरी तरह से खोज-बीन किये जाने की आवश्यकता है।

उड़ीसा

विवेच्य कालखण्ड के अंतर्गत पूर्व-मध्यकालीन उड़ीसा मे एक महत्त्वपूर्ण मूर्तिकला-शैली पल्लवित हुई जो बंगाल एवं बिहार की पूर्व शैली (पाल शैली) के समान ही उल्लेखनीय है। इस शैली ने पाल-शैली की कुछ विशेषताओं को अपने मे समाहित किया। इन्हें विशेष रूप से इसकी उपासनापरक प्रतिमाओं में देखा जा सकता है। पाल-शैली की ये विशेषताएँ उन क्षेत्रों मे अधिक घनिष्ट रूप से पायी गयी है जो पाल-शैली की क्षेत्र-सीमा के निकटवर्ती है। बहुत कुछ पाल-शैली के लय-अनुशासन की दुर्बलता के परिष्कार के फलस्वरूप यह शैली इसमें आयी है। इस काल की उड़ीसा की जैन प्रतिमाओं को इसी प्रवृत्ति मे बंधी देखा जा सकता है। मंदिर की भित्तियों के शिल्पांकनो मे एक सशक्त सुघट्य शैली तथा विशेष नाटकीय अंकन का विकास भी उड़ीसा मे हुआ जिसका विनियोग सामान्यत: जैन मंदिरों मे नही देखा जाता।

उड़ीसा से प्राप्त तत्कालीन मूर्ति-शिल्पों में सामान्यत: तीर्थंकरो की एवं कुछ यक्षियो की प्रतिमाएँ हैं जो पाषाण-निर्मित भी है और धातु-निर्मित भी। कुछ प्रतिमाओं का, जो स्पष्टत: इस काल की हैं, विवेचन अध्याय १५ में किया जा चुका है। यहां पर उदाहरण के लिए धातु-निर्मित ऋषभनाथ तथा पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का उल्लेख किया जा सकता है जो बानपुर के भूमिगत भण्डार से प्राप्त हुई थी और जो इस समय भुवनेश्वर स्थित उड़ीसा राज्य संग्रहालय में संरक्षित है। इनमें से किसी भी प्रतिमा का समय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व का निर्धारित नहीं किया जा सकता।

1 अपराजितपृच्छा. गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, 65. 1950. बड़ौदा. अध्याय 134, छंद 4.

ऋषभनाथ की प्रतिमा (चित्र १६० ख) की आकृति लयात्मक है जिसपर सूक्ष्म क्षायांकन है। यह प्रतिमा एक उल्लेनीय कलाकृति है।

इसी भण्डार से उपलब्ध कायोत्सर्ग तीर्थंकर चंद्रप्रभ (चित्र १६१ क) और शांतिनाथ की धातु-निर्मित मुद्राएँ या प्रतिमाएँ भी इसी प्रकार की विशेषताएँ लिये हुए हैं। तीर्थंकर चंद्रप्रभ अपने लांछन अर्धाकार चद्र एवं शाँतिनाथ हरिण के साथ अंकित है। शाँतिनाथ के सिर पर एक प्रकार का टोपा-सा है, जिसे तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में कभी-कभी देखा जा सकता है। ये दोनों प्रतिमाएँ ग्यारहवी शताब्दी की प्रतीत होती हैं और सभवत. ऋषभनाथ कीपू र्वोक्त प्रतिमा के कुछ समय बाद की है। इसी भण्डार से एक और धातु-निर्मित तीर्थंकर-प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसके पादपीठ पर अंकित लांछन की अस्पष्टता के कारण यह निश्चित नही किया जा सकता कि ये कौन-से तीर्थंकर हैं। यह प्रतिमा स्थूलकाय और आकार में वामन है। इस प्रतिमा में भी तीर्थंकर के सिर पर टोपा-सा अंकित है।

मयूरभज जिले के खिचिग स्थित सग्रहालय में पाषाण-निर्मित अनेक जैन प्रतिमाएँ है जिनमे से अधिकाश खण्डित हैं। इन प्रतिमाओं मे या तो लांछनों का अभाव है या फिर लाँछन स्पष्ट नही है, इसलिए बहुत-सी तीर्थंकर-प्रतिमाओं को पहचानना सभव नही है। शैलीगत रूप में इन प्रतिमाओं के लिए ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है। महावीर की पद्मासनस्थ एक प्रतिमा को छोडकर शेष प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग-मुद्रा में है। पद्मासनस्थ महावीर सिहासन पर आसीन है। पादपीठ के दोनों किनारों पर सिह अंकित है, जो सिहासन को आधार प्रदान किये हुए है। सिह के मध्य में चक्र अंकित है। इन प्रतिमाओं मे दो प्रतिमाएँ ऋषभनाथ की है। एक प्रतिमा का शीर्षभाग खण्डित है। कायोत्सर्ग तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर सेवक है तथा पादपीठ पर वृषभ अंकित है। एक प्रतिमा कायोसर्ग पार्श्वनाथ की है (चित्र १६१ ख) जिनके शीर्ष पर सप्त-फण-नाग-छत्र है। इस समूह की दो अन्य तीर्थंकर-प्रतिमाएँ पहचानी नही जा सकी है। इनमें से एक प्रतिमा-स्तभ पर पाच लबरूप पक्तियो में बीस तथा दोनो छोरो पर दो-दो तीर्थंकर-प्रतिमाएँ अंकित है। इस समूह में एक अत्यत परिष्कृत चतुर्मुख प्रतिमा भी है।

मयूरभज जिले के बारीपद स्थित सग्रहालय मे धातु-निर्मित चार जैन प्रतिमाएँ है जो सभवत: इसी क्षेत्र से प्राप्त हुई है। इनमें से तीन कायोत्सर्ग हैं तीर्थंकरों की है। इन तीनों में से मात्र एक ही प्रतिमा को पहचाना जा सका है, जो पार्श्वनाथ की है और जिनके शीर्ष पर सप्त-फण-नाग-छत्र अंकित है। चौथी प्रतिमा एक कमनीय नारी की है। इसका दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में है और बाये हाथ में एक वृक्ष की पंक्तियाँ है (चित्र १६२ क)। इसकी आकर्षक मुद्रा इसे एक विशिष्टता प्रदान करती है। स्पष्टत: यह एक यक्षी-प्रतिमा है जिसे विशेष प्रतीकों के अभाव में पहचानना संभव नही है। ये सभी प्रतिमाएँ ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी की हैं।

कुछ धातु-निर्मित प्रतिमाएँ कोणार्क (उड़ीसा) के निकटवर्ती ककतपुर से प्राप्त हुई हैं जो बारहवीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं। इन प्रतिमाओं में से कुछ कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय में हैं और कुछ आशुतोष संग्रहालय में। अधिकांशतः प्रतिमाएँ तीर्थंकरों की है जो समरूप है, जिनके विषय मे विशेष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर आशुतोष संग्रहालय में सुरक्षित तीर्थंकर चंद्रप्रभ की प्रतिमा (चित्र १६२ ख) का उल्लेख किया जा सकता है। तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में एक पद्मपुष्प पर खड़े हैं जो एक वर्गाकार पादपीठ पर आधारित है। पादपीठ पर उनका लांछन अर्द्धचंद्र अंकित है। तीर्थंकर के शरीर का निष्क्रिय प्रतिरूपण तथा मुख-मण्डल पर भारी ऊँघ का अंकन मूर्ति-शैली में उनकी परिशेष स्थिति का अंतिम लाक्षणिक अंकन है।

निष्कर्ष

बंगाल, बिहार और उड़ीसा से प्राप्त जैन प्रतिमा-अवशेषों के पूर्वोक्त सर्वेक्षण से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि हमारे विवेच्य कालखण्ड के अंतर्गत इस क्षेत्र में जैनों का योग, आंशिक महत्त्व का ही रहा है। सामान्य रूप से यह मान्य है कि पूर्व भारत में किसी समय जैन समाज एक महत्त्वपूर्ण समुदाय के रूप मे विद्यमान था, जिसकी सम्मुन्नत अवस्था के प्रमाण हमे साहित्यिक साक्ष्यों एवं पुरातात्त्विक उपादानों में मिलते हैं। सातवीं शताब्दी के बाद ब्राह्मण धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण जैन धर्म इस क्षेत्र में क्रमशः अपना स्थान खोता चला गया। जैसा कि जैन अवशेषों के विश्लेषण से ज्ञात होता है इस काल में जैन समुदाय बंगाल, बिहार, उड़ीसा के उपरांत उत्तर-बिहार की पारसनाथ-पहाड़ी से लेकर दक्षिण के उड़ीसा-वर्ती समुद्रतट तक एक लंबी उपजाऊ भूमि की पट्टी के जनजातीय क्षेत्र में सीमित होकर रह गया।

कुछ अपवादों को छोड़कर सभी जैन अवशेष उन स्थानों से प्राप्त हुए है जहाँ कभी जैन मंदिर या संस्थान आदि रहे थे। यह उल्लेखनीय है कि यह क्षेत्र बहुत लंबे समय से उन लोगों का निवास-स्थान रहा है जिन्हे 'शराक' नाम से जाना जाता है। ये लोग कृषि पर निर्भर करते है तथा कट्टर रूप से अहिंसावादी है। आज इन लोगों ने हिन्दू धर्म अपना लिया है। रिसले ने अपनी पुस्तक 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बंगाल' में बताया है कि लोहरडागा के शराक आज भी पार्श्वनाथ को अपना एक विशेष देवता मानते है तथा यह भी मान्य है कि इस जनजाति का 'शराक' नाम श्रावक से बना है, जिसका अर्थ जैन धर्म के अनुयायी-गृहस्थ से है। ये पूर्वोक्त समस्त साक्ष्य संकेत देते हैं कि शराक मूलतः श्रावक थे; इस बात का समर्थन उनकी परंपराएँ भी करती हैं। इस सर्वेक्षण से यह भी ज्ञात होता है कि जैन धर्म पूर्व भारत में एक सुगठित समुदाय के रूप में रहा है जिसके संरक्षक शराकवंशीय मुखिया होते थे। इनकी कृषि-अर्थ-व्यवस्था की समानता पश्चिम भारत की व्यावसायिक अर्थ-व्यवस्था से नहीं की जा सकती। पूर्व भारत के जैन समाज में कोई विमलशाह-जैसा राज्याधिकारी, तेजपाल-जैसा श्रेष्ठ

धनाढ्य या वास्तुपाल-जैसा श्रेष्ठि राजकुमार नहीं था। यह भी एक कारण जिससे पूर्व भारत में जैन धर्म के संरक्षण में कला का महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया।

सरसी कुमार सरस्वती

अध्याय 22

मध्य भारत[1]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ईसवी सन् १००० से १३०० की अवधि में मध्य भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के प्रवाह को जिन कुछ शक्तिशाली वंशों ने प्रभावित किया उनमें से चंदेल उत्तरी भाग (जेजाकभुक्ति या बुंदेलखण्ड) पर, कलचुरि पूर्वी भाग (डाहल और महाकोशल) पर और परमार पश्चिमी भाग (मालवा) पर राज्य करते थे, किन्तु मध्य भाग पर कुछ समय कच्छपघातों का शासन रहा। इन वंशों के शासक युद्ध और शांतिकालीन कलाकृतियों के निर्माण में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते थे, और कला, स्थापत्य एवं साहित्य के महान् निर्माता और संरक्षक भी थे। यद्यपि ये वंश ब्राह्मण्य मतों के अनुयायी थे तथापि वे जैन मुनियों एवं विद्वानों का सम्मान करते थे। जैन धर्म को उनका उदार संरक्षण इसलिए भी प्राप्त था क्योंकि उनके राज्य की प्रजा का एक प्रभावशाली अंग जैन धर्मावलंबी था, जिसमें व्यापारी, साहूकार तथा शासकीय पदाधिकारी भी थे।

चंदेलों की एक राजधानी खजुराहो थी जिसमें जैन समाज प्रभावशाली था। यह तथ्य इस बात से प्रमाणित होता है कि वहां कुछ ऐसे मंदिर विद्यमान हैं जिनमें चंदेलकालीन कला और स्थापत्य की वही उत्कृष्टता है जो ब्राह्मण्य मंदिरों में। खजुराहो का जैन समाज इतना धनिक था कि वह उन बहुसंख्यक मूर्तिकारों एवं वास्तुविदों को संरक्षण प्रदान कर सका जिन्होंने वहाँ के राजवंश के लिए निर्माण-कार्य किया था; इसकी पुष्टि वहाँ के दो भिन्न धर्मों के मंदिरों की मूर्तिकला तथा स्थापत्य संबंधी एकरूपता से होती है—एक तो चंदेल शासक यशोवर्मन् द्वारा सन् ९५४ से पूर्व निर्मित लक्ष्मण-मंदिर, और दूसरा खजुराहो की सर्वोत्कृष्ट जैन कृति पार्श्वनाथ-मंदिर जिसका निर्माण, प्राप्त उल्लेख के अनुसार, सन् ९५४ में राजा धंग द्वारा सम्मानित पाहिल नामक व्यक्ति ने कराया था।

खजुराहो में कुछ जैन मंदिर और भी हैं। दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक की जैन प्रतिमाएं भी अनेक हैं, इनमें सबसे बाद की प्रतिमा की तिथि मदन वर्मा (सन् ११२९-६३) के शासनकाल

[1] [यहाँ मध्य भारत से आशय भारत के मध्य भाग से है, उस पूर्वकालीन राजनीतिक इकाई से नहीं जो अब मध्य प्रदेश में विलीन हो गयी है.]

की है। चंदेलों की एक अन्य राजधानी हमीरपुर जिले में स्थित महोबा थी। यह क्षेत्र मध्यकालीन जैन मंदिरों और प्रतिमाओं से भरा पड़ा है, जिनमें से कुछ की निर्माण-तिथियाँ चंदेल शासक जयवर्मा (सन् १११७), मदनवर्मा और परमर्दी (लगभग सन् ११६३-१२०१) के शासनकाल की हैं। खजुराहो एवं महोबा के अतिरिक्त झाँसी जिले और उसके समीपवर्ती, देवगढ़, चदेरी, बूढ़ी चंदेरी, सीरोनखुर्द, चाँदपुर, दुधई और मदनपुर नामक स्थानों पर भी दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक जैन कला और स्थापत्य की जो समृद्धि हुई उसका कारण भी चदेल-सरक्षण था। इसी प्रकार, देवगढ़ का प्रसिद्ध स्थल राजा कीर्तिवर्मा (लगभग १०७०-९० ई०) के नाम पर कीर्त्तिगिरि के नाम से भी विख्यात हुआ। इस चंदेल-राजा के पूर्वजों ने उस प्रदेश पर प्रतीहार-साम्राज्य के बाद सत्ता प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त, दुधई में प्राप्त ६६ आधार-शिलाओं पर उत्कीर्ण कराये गये अभिलेखों में प्रसिद्ध चंदेल राजा यशोवर्मा के पौत्र युवराज देवलब्धि का उल्लेख है, और उसके निकटवर्ती मदनपुर के बारे में अनुश्रुति है कि उसे चंदेल मदनवर्मा ने बसाया था।

मालवा के परमार तो जैनों के चंदेलों से भी अधिक उदार सरक्षक थे। प्रसिद्ध नगरी उज्जयिनी (आधुनिक उज्जैन) तथा राजधानी धारा (आधुनिक धार) जैनाचार्यों के प्रसिद्ध केंद्र थे। सत्ताईसवें जैन भट्टारक ने अपना पीठ भद्दलपुर से बदलकर उज्जैन में स्थापित किया, जहाँ सरस्वती-गच्छ और बलात्कार-गण का आरम्भ हुआ। धार में अनेक प्राचीन जैन मदिर हैं जिनमें से दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक तो पार्श्वनाथ-मंदिर जहाँ देवसेन ने सन् ९३३ में दर्शनसार की रचना की, और दूसरा जिनवर-विहार जहाँ नयनंदी ने सन् १०४३ में सुदर्शनचरित लिखा। परमार मुंज (सन् ९७२-९५) ने अमितगति, महासेन, धनेश्वर और धनपाल नामक जैनाचार्यों को राजाश्रय दिया। राजा भोज (सन् १०००-५०) ने प्रसिद्ध जैनाचार्य प्रभाचंद्र को सम्मानित किया था। वह तिलकमजरी के रचियता धनपाल का भी आश्रयदाता था और उसने उन्हे 'सरस्वती' की उपाधि से विभूषित किया था। कहा जाता है कि जैनाचार्य शानिषेण ने राजा भोज की सभा के पण्डितों को पराजित किया था। राजा भोज ने जिनेश्वर-सूरि, बुद्धिसागर तथा नयनंदी नामक जैन मुनियों को भी राजाश्रय दिया। उसके शासनकाल में नेमिचंद्र ने केशोराय पाटन (आश्रमनगर) में लघु-द्रव्य-संग्रह की रचना की। इसी नाम से एक अन्य जैनाचार्य ने उसी काल में भोपाल के निकट भोजपुर में शांतिनाथ की एक विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित की। यह भोजपुर अपने शिव-मंदिर के लिए प्रसिद्ध है, जिसे राजा भोज ने बनवाया था।

चंदेल क्षेत्र—खजुराहो

सामान्य विशेषताएँ

खजुराहो स्थित जैन मदिरो में विन्यास और उठान की वे ही विशेषताएँ हैं जो वहाँ के अन्य चंदेल मदिरों की हैं। वे ऐसे प्राकार-रहित उत्तुग भवन है जो ऊँची जगती पर निर्मित हैं। इसी

1 [इस अवधि में देवगढ़ स्थित स्मारकों की चर्चा आंशिक रूप से अध्याय 18 में की जा चुकी है—संपादक.]

कारण आसपास के परिवेश से ये भवन और भी ऊँचे दिखते हैं। इनमें चारों ओर खुला चक्रमण-मार्ग एवं प्रदक्षिणा-पथ है। इनके सभी भाग बाहर और भीतर एक दूसरे से संयुक्त हैं और इनके निर्माण की संयोजना एक ही धुरी पर की गयी है जिससे इनका स्वरूप अत्यंत संगठित और एकरूप बन पड़ा है। आयोजना के आवश्यक अंग अर्थात् अर्ध-मण्डप, मण्डप, अंतराल और गर्भगृह यहाँ के सभी मंदिरों में हैं। बड़े मंदिरों में गर्भगृह के चारों ओर एक आभ्यंतरिक प्रदक्षिणा-पथ भी है।

आयोजना के समान, इनके उठान की भी कुछ विशेषताएँ है। मंदिर की जगती पर एक ऊँचा अधिष्ठान है जिसकी पंक्तिबद्ध अलंकरण-पट्टियाँ जगती को सुदृढ़ रूप से जकड़े हुए है, और इस कारण प्रकाश तथा छाया की सुंदर व्यवस्था भी हो गयी है। ऐसे ठोस और अलंकृत अधिष्ठान पर जंघा या मंदिर का भित्ति-भाग या मध्य भाग है, जिसमें अत्यंत रोचक और आकर्षक मूर्तियों के दो या तीन आड़े बंध हैं। जंघा के ऊपर छत के रूप में शिखर-माला है। मंदिर के विभिन्न भागों के शिखर आरोह-क्रम मे ऊँचे उठते चले गये हैं। सबमे नीचा शिखर प्रवेश-मण्डप का है तो सबसे ऊँचा गर्भगृह का। ये शिखर, जो एक धुरीय रेखा पर निर्मित हैं, बारी-बारी से ऊँचे-नीचे हैं तथा इनकी परिणति उस सर्वोच्च शिखर में होती है जिसकी सयोजना केवल गर्भगृह पर हुआ करती है। अर्ध-मण्डप, मण्डप और महा-मण्डप के शिखर स्तूपाकार है किन्तु मध्यवर्ती शिखर ऊँचा और वक्राकार है। पार्श्वनाथ-मंदिर में यह शिखर गौण शिखरों से भी सयुक्त है।

बहिर्भाग की भाँति इन मंदिरों के अंतःभाग मे भी विस्तृत अलंकरण और मूर्ति-सपदा की विपुलता आश्चर्यकारी है जो द्वारों, स्तभों, सरदलों और छतों पर अंकित है। ये गजतालु छतें, जिनपर ज्यामितिक एव पुष्प-वल्लरियों के अलंकरण है, असामान्य कौशल की परिचायक है। भीतरी भाग में अप्सराओं और शालभंजिकाओं की भी मूर्तियाँ हैं। उनके मादक अंगोपाग, आकर्षक मुद्राएँ और अति-मनोज्ञ कला-कौशल आदि इन्हें मध्यकालीन मूर्तिकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ सिद्ध करती है।

खजुराहो ग्राम के दक्षिण-पूर्व में घण्टाई नामक एक जैन मंदिर का खण्डहर है और उससे कुछ ही दूर एक नवनिर्मित प्राचीर के भीतर अनेक जैन मंदिर हैं। इस समूह में पार्श्वनाथ, आदिनाथ और शांतिनाथ के मंदिरों के अतिरिक्त अनेक नवनिर्मित मंदिर भी है। इनमें से कुछ तो प्राचीन मंदिरों के अवशेषो पर बनाये गये है और कुछ का निर्माण नये स्थानों पर प्राचीन मंदिरों की अवशेष-सामग्री से हुआ है और उनमें प्राचीन प्रतिमाएँ ही है। अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ, जिनमें से कुछ उरेखित भी हैं, दीवारों में चिन दी गयी हैं। वर्त्तमान में जैन भक्तों के प्रमुख पूजास्थान शांतिनाथ-मंदिर में आदिनाथ की एक विशाल प्रतिमा (४.५ मीटर ऊँची) है जिसके पादपीठ पर १०२७-२८ ई० का समर्पणात्मक अभिलेख उत्कीर्ण है। इस मंदिर का बहुत अधिक नवीनीकरण हो चुका है, तथापि, उसके मध्य में एक प्राचीन भाग ऐसा है जिसमें अनेक देवकुलिकाओं में मध्यकालीन जैन स्थापत्य की विशेषतायुक्त अनेक प्राचीन मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों में तीर्थंकर के माता-पिता की मूर्ति (चित्र १६३) अपनी कला-गरिमा के कारण महत्त्वपूर्ण है।

खजुराहो के प्राचीन जैन मंदिरों में के ये केवल दो ही मंदिर, पार्श्वनाथ और आदिनाथ, अच्छे रूप में सुरक्षित रह पाये हैं ।

घण्टाई-मंदिर

घण्टाई-मंदिर (चित्र १६४) को स्थानीय लोग इसलिए घण्टाई कहते हैं कि उसके ऊँचे मनोहर स्तभों पर शृंखला और घण्टों का बहुत सुदर रूपांकन हुआ है। ये स्तभ मध्ययुगीन भारत के सर्वोत्कृष्ट स्तंभों में से हैं और अपने विशाल आकार, भव्य अलंकरण और पारंपरिक रचना की गरिमा के कारण ये महत्त्वपूर्ण हैं। इसका मुख पूर्व की ओर है। वर्तमान मे इसका जो बाहरी ढाँचा बचा है वह यह दर्शाता है कि इसकी रूपरेखा पार्श्वनाथ-मदिर-जैसी ही थी किन्तु इसकी संकल्पना अधिक विशाल थी और विस्तार में यह पार्श्वनाथ-मंदिर से लगभग दुगुना था। इस समय इस मंदिर के केवल अर्ध-मण्डप और महा-मण्डप ही शेष बच रहे हैं। इनमें से प्रत्येक मण्डप चार-चार स्तंभों पर आधारित है और एक समतल तथा अलंकृत छत (चित्र १६५) को आधार दिये हुए हैं। पार्श्वनाथ-मदिर के समान इसके महा-मण्डप मे भी प्रवेश एक विस्तृत द्वार से होता है। पहले वह एक ठोस दीवार से घिरा हुआ था, अब महा-मण्डप और अर्ध-मण्डप को आधार देनेवाले कुछ ही अर्ध-स्तभ शेष बचे है। ये अर्ध-स्तभ बिलकुल सादे है और इनपर मात्र घट-पल्लव का साधारण-सा पारंपरिक अकन है। इन्हे परिवेष्टित करनेवाली दीवार के साथ ही मदिर की रूप-योजना के दो महत्त्वपूर्ण अगों, अर्थात् अतराल और गर्भगृह की प्रतीति उनकी अनुपस्थिति में भी होती है। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट भवन की लुप्त छत के स्थान पर अब एक समतल छत है। इससे यह भवन आकर्षक होते हुए भी एक विचित्र-सा स्थापत्य-अवशेष बनकर रह गया है।

उक्त मंदिर और पार्श्वनाथ-मदिर की रूपरेखा और सयोजना में जो समानता है वह यह जताती है कि इन दोनों मदिरों के निर्माण-काल में बहुत अधिक अतर नही रहा होगा। इन दोनों में से घण्टाई-मदिर अधिक बडा है और कुछ अधिक विकसित है, अत: कुछ बाद के समय का है। इस बात की पुष्टि उसकी उत्कीर्णन-शैली और इस समय उपलब्ध मूर्तियों के अधिक पारपरिक होने से तथा उसकी परवर्ती कला की झलक से भी होती है। इस मदिर के जो दो भित्ति-आरेख हैं उनमें से एक पर जो 'स्वस्ति श्री साधुपालः' लिखा है, वह बाद मे किसी तीर्थ-यात्री द्वारा बारहवी शताब्दी में उत्कीर्ण कर दिया गया है। किन्तु दूसरा लेख जिसमें 'नेमिचन्द्र.' लिखा है उसकी तिथि दसवी शताब्दी का अंतिम भाग हो सकती है। मूर्तिकला और स्थापत्य-शैली के आधार पर भी इस मंदिर का निर्माण-काल दसवी शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है।

इस मंदिर के पास जो एक अभिलेख-युक्त बुद्ध-मूर्ति मिली थी (खजुराहो में केवल यही बौद्ध प्रतिमा पायी गयी है और अब वह स्थानीय संग्रहालय में प्रदर्शित है) उसके कारण कनिंघम ने पहले यह विचार व्यक्त किया कि यह एक बौद्ध मदिर है किन्तु आगे चलकर उन्होंने यह मत त्याग दिया और

इसकी पहचान जैन मंदिर के रूप में की; और अब यही मत सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। अन्य स्थानीय जैन मंदिरों की ही भाँति, घण्टाई-मंदिर भी दिगंबर-संप्रदाय का था। यह उन सोलह मंगल-प्रतीकों[1] (श्वेतांबर संप्रदाय में चौदह होते हैं) से स्पष्ट है जो सरदल पर अंकित हैं तथा उन अनेक जैन नग्न प्रतिमाओं से भी सिद्ध होता है जिन्हें कनिंघम ने इस भवन के आसपास खोद निकाला था।[2] इन प्रतिमाओं में आदिनाथ की एक खण्डित मूर्ति थी जिसपर विक्रम संवत् ११४२ (१०८५ ई०) का एक लेख खुदा हुआ था। अब यह मूर्ति स्थानीय संग्रहालय में है।

वैसे तो देखने पर लगता है कि इस मंदिर की कोई जगती नहीं है; किन्तु खजुराहो के सभी मंदिर जगती पर बनाये गये हैं, इसलिए जान पड़ता है कि इस मंदिर की जगती मलबे के नीचे दब गयी है।

भूमितल के ऊपर जो अधिष्ठान दिखाई पड़ता है वह दो सादे भिट्ट-पट्टियों से बना जान पड़ता है और उनके ऊपर जाड्यकुंभ, कर्णिका, तथा अंतरपत्र है। उन्हें हीरक-प्रतिरूपों से युक्त आलों से अलंकृत किया गया है। इनके पार्श्व में अर्ध-स्तंभ हैं। ये पार्श्वनाथ-मंदिर जैसे हैं। पट्टिकाओं का अलंकरण बेल-बूटेदार हृदयाकार फूलों से किया गया है। पट्टिका का ऊपरी भाग जगती की ऊँचाई तक है।

अर्ध-मण्डप चार स्तंभों की चतुष्की पर आधारित है। ये स्तंभ एक अलंकृत कुंभिका पर खड़े हैं जो एक उपपीठ पर आश्रित है। यह उपपीठ अष्टकोणीय है तथा इसपर पुष्पगुच्छ, कमलदल तथा वल्लरियों के अलंकरण हैं। कुंभिका पर खुर, कुंभ, कलश, सादा अंतरपत्र एवं कपोत, जो कुडुओं से अलंकृत है, के गोटे हैं। इसके स्तंभों के मध्यभाग नीचे अष्टकोणीय, बीच में षोडशकोणीय तथा ऊपर वर्तुलाकार है। षोडशकोणीय भाग के ऊपर एक अष्टकोणीय मध्यबंध है जिसका अलंकरण कीर्तिमुखों से निकली मालाओं के अंतर्ग्रथित पाशों से किया गया है। इन पाशों में विद्याधर परिवेष्टित हैं जिन्हें अंजलि-मुद्रा में या मालाएँ लिये हुए या वाद्य-यंत्र बजाते हुए अंकित किया गया है। मध्यबंध की ऊपरी पट्टी की सज्जा उभरे लुमाओं से की गयी है। इस मध्यबंध से एक दीप बाहर निकला हुआ है और उसके निचले भाग पर एक भूत दृष्टिगोचर होता है। चारों स्तंभों में से प्रत्येक स्तंभ के आधार पर भी दीपाधार बाहर निकले हुए हैं।

प्रत्येक स्तंभ के वर्तुलाकार भाग में चार मध्यबंध हैं जिसमें से सबसे नीचे का मध्यबंध वर्तुलाकार है और उसका विस्तृत अलंकरण बड़े-बड़े माल्यपाशों तथा लंबी श्रृंखला और घण्टिकावाले ऐसे प्रतिरूपों द्वारा किया गया है जिनके पार्श्व में मालाएँ तथा पताकाएँ हैं, और कहीं-कहीं जिनका स्थान कीर्तिमुखों के मुखों से निकलकर झूलते हुए कमलनालों ने ले लिया है। माल्यपाशों में विद्याधर, तपस्वी,

1 [यहाँ आशय भगवान की माता के सोलह स्वप्नों से है.]

2 कनिंघम (ए). **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिपोर्ट,** II. 1871 शिमला. पृ 43

मिथुन, या व्याल अंकित हैं। दूसरा बध अष्टकोणीय है। उसमें कीर्तिमुखों से निकले माल्यपाश अपेक्षाकृत छोटे हैं और प्रत्येक पाश में आरोही-युक्त व्याल-युगल हैं। तीसरा बंध वर्तुलाकार है। उसकी सज्जा या तो पुष्पगुच्छ से की गयी है या उत्कीर्ण त्रिकोणों से। और उसमें अलंकृत अप्सरा-स्तंभों के लिए छोटे आकार के बाहर उभरे हुए चार भूत-टोडे दृष्टिगोचर होते हैं। चौथे, या सबसे ऊपर के, बंध में दो अष्टकोणीय पट्टिकाएँ हैं। इनमें से निचली पट्टी अर्ध-कमल-पुष्पोंवाले माल्यपाशों से अलंकृत है और ऊपर की पट्टिका वर्तुलाकार गुच्छों से। प्रत्येक स्तभ के ऊपर एक वर्तुलाकार स्तंभ-शीर्ष है जिसमें धारीदार आमलक और पद्म अंकित है। स्तंभ-शीर्ष पर भूत-टोडे हैं जिनके बीच-बीच में श्रद्धालु नाग अंकित हैं। सभी भूतों के पेट में छेदकर कोटर बनाये गये हैं, ताकि उनमें अप्सरा-टोडे लगाये जा सकें। टोडों पर एक सरदल है जिसके तीन खसके हैं, जिनमें से नीचे के दो का अलंकरण कमल के बेल-बूटों और कीर्तिमुखों द्वारा किया गया है। उसके सबसे ऊपर का भाग सादा ही छोड़ दिया गया है। सरदल पर एक चित्र-वल्लरी है जिसके शोभायात्रा-दृश्यों में अधिकांशतः भक्त, संगीतकार, नृत्य करनेवालों, तथा कहीं-कही यात्रा में सम्मिलित हाथियों का अंकन किया गया है। उत्तर और दक्षिण भागों में चित्र-वल्लरी के मध्य भाग में तीर्थंकर की प्रतिमा अंकित है। चित्र-वल्लरी के ऊपर एक अलंकृत किन्तु समतल चौकोर छत है जिसे अलकृत आयताकार फलकों में विभाजित किया गया है और उनके किनारों की सज्जा उत्कीर्ण कमलपुष्पों से की गयी है। फलकों की बाहरी पंक्तियों में नर्तक और गायक हैं, जिनके पार्श्व में मिथुन हैं। फलकों की आंतरिक पंक्ति में बेल-बूटेदार अलंकृतियाँ हैं। भीतरी छत के मध्य में लगभग एक वर्गमीटर के स्थान का अलंकरण तीन गजतालु खसकों द्वारा किया गया है। दो बाहरी खसकों में प्रत्येक ओर तीन गजतालु दिखाये गये है।

अर्ध-मण्डप के बाद महा-मण्डप आता है। संभवतः उसके चारों ओर दीवारें रही होंगी। जो भी हो, यह महा-मण्डप पार्श्वनाथ-मंदिर के महा-मण्डप से इस बात में भिन्न है कि इसमें सामने की ओर एक आड़ी पंक्ति में तीन चतुष्कियाँ हैं। इन चतुष्कियों की भीतरी छत जो अब बिलकुल सादी है, पहले अलकृत रही होगी। बीच की चतुष्की, जो आसपास की चतुष्कियों से बड़ी है, का निर्माण अर्ध-मण्डप के दो पश्चिमी स्तंभों तथा महा-मण्डप के द्वार के पार्श्व के उन दो भित्तियों को लेकर बनी है जिनकी आधार-वेदी पर एक दूसरे की ओर अभिमुख दो सशस्त्र द्वारपाल दिखाई देते हैं। द्वारपालों ने करण्ड-मुकुट पहन रखा है और उनके हाथ में एक गदा है जो अब टूट गयी है। प्रत्येक द्वारपाल के पीछे एक चतुष्पद अंकित है जो सिंह से मिलता-जुलता है। अर्ध-स्तंभ भद्रक-प्रकार के हैं (आकृति में चौकोर किन्तु प्रत्येक कोने में तीन कोण), किन्तु वे बिलकुल सादे हैं; मात्र स्तंभ के मध्य भाग के ऊपरी और निचले भागों पर घट-पल्लव का पारंपरिक उत्कीर्णन किया गया है। वे एक उपपीठ पर बने है जिसपर कमल-पंखुड़ियों का साधारण-सा अलंकरण है किन्तु यह मूल उपपीठ है या नही—यह अनिश्चित है। उनके आधारों (कुंभिकाओं) में खुर, कुंभ और कपोतों की अलंकृतियाँ हैं। स्तभों के मध्य भाग पर एक सादा और छोटा उच्चालक खण्ड है जिसके ऊपर एक सादा शीर्षभाग है, जिसमें कर्णिका और पद्म दिखाये गये हैं। शीर्षभाग पर मरगोल-युक्त सादे

टोडे टिके हुए हैं जिसकी रूपरेखा तीखी गोलाई लिये हुए हैं। टोडों के ऊपर एक सरदल है जिसपर बेल-बूटों का अलंकरण और ग्रास-पट्टिका है। सरदल एक सादे कपोत को अधार देता है जिसके ऊपर अलंकृत त्रिकोणों की पट्टी है। चूंकि भित्ति-स्तंभों के मध्य भाग का अलंकरण किया गया है और छोरों को (जो भिन्न प्रकार के पत्थरों से बने हैं) सादा ही रखा गया है अतः ऐसा जान पड़ता है कि पार्श्व-चतुष्कियों को दीवारों से आच्छादित करने की योजना रही होगी। इस तथ्य की पुष्टि इससे भी होती है कि छोरों को, जो हलके पीले रंग के बलुआ पत्थर के बने है, एकदम सादा रखा गया है। ये अलंकृत आधारों पर बने हैं और उनपर उच्चालक खण्ड, शीर्षभाग और टोडे है, जो शैली में अर्ध-स्तंभों के बिलकुल समान हैं। उनपर द्वारपालों की आकृतियाँ बनी हुई हैं।

द्वार-मार्ग के पीछे के अर्ध-स्तंभ ग्रेनाइट के बने हैं किन्तु वे बलुआ पत्थर के आधारों पर टिके हैं। जो भी हो, एक अर्ध-स्तंभ में उपपीठ भी ग्रेनाइट का बना हुआ है। क्योंकि दोनों अर्ध-स्तभों की संयोजना कुछ ही भिन्न है, अतः यह जान पड़ता है कि ये बाद में जोड़े गये हैं।

द्वार-मार्ग की सात साखाएँ हैं। पहली शाखा का अलकरण गुच्छाकार रचना से, दूसरी और छठी का व्यालों से, तीसरी और पाँचवीं का नृत्य करते एवं संगीत-वाद्य बजाते हुए गणों से किया गया है। चौथी, जिसे एक स्तंभ-शाखा माना जाता है, पर एक शीर्षभाग है जिसमें कर्णिका और पद्म बने है। सातवीं शाखा, जो द्वार-मार्ग का कटावदार वेष्टन करती है, की सज्जा लहरदार बेल-बूटों से की गयी है तथा उसके पार्श्व में एक खड़ी चित्र-वल्लरी है जिसमें गणों को नृत्य करते हुए अथवा संगीत-वाद्य बजाते हुए दिखाया गया है। पहली तीन शाखाएँ ऊपर की ओर से ले जायी गयी है, और चौथी या स्तभ-शाखा पर एक सरदल है जिसके मध्य में गरुड़ पर आसीन अष्टभुजी चक्रेश्वरी देवी की मूर्ति अंकित है। उसके हाथों में फल, बाण, चार चक्र, धनुष और शंख है। ठीक दाहिने और बायें किनारों के आलों में तीर्थंकर-प्रतिमाएँ आसीन है। सरदल का जो अतर्वर्ती भाग है उसमें ठीक दाहिने नवग्रहों की आसीन प्रतिमाएँ हैं। सरदल के अतर्वर्ती भाग में ठीक दाहिनी ओर नवग्रहों की आसीन प्रतिमाएँ और ठीक बायीं ओर द्विभुजाओं एवं वृषभशीर्ष वाले आसीन देवताओं की एक-सी आठ आकृतियाँ बनायी गयी है। इनके हाथ अभय-मुद्रा में है और उनमें जल-कुभ हैं। ये अष्ट-वसु जान पड़ते हैं।

सरदल की ऊपरी चित्र-वल्लरी में गर्भाधान के समय तीर्थंकर की माता द्वारा स्वप्न में देखे गये सोलह मंगल-प्रतीक चित्रित किये गये हैं। ये प्रतीक कमलदलो पर बनाये गये है। वे इस प्रकार हैं: ऐरावत हाथी (२) वृषभ, (३) प्रचण्ड सिंह, (४) श्री देवी (५) एक कीर्तिमुख को वेष्टित करती पुष्पमाला, (६) पूर्ण चंद्रमा, जिसके मध्य में खरगोश की आकृति है, (७) उदित होता हुआ सूर्य जिसमें मध्य में सूर्य-देवता है, (८) मीन युगल, (९) दो कलश, (१०) तालाब और उसमें एक कुछुआ, (११) क्षुब्ध सागर, (१२) सिंहासन, (१३) विमान, (१४) नागेन्द्र भवन में बैठे हुए नाग-दंपति, (१५) रत्नराशि, तथा (१६) आसीन मुद्रा में अग्नि जिसके

कंधों से ज्वालाएँ निकल रही है। सातवीं शाखा के ऊपर मध्य भाग में एक पट्टी है जो बीच में अंकित की गयी है। सरदलों के तीनों आलों के ऊपर चैत्य-तोरणों के उद्गम या त्रिकोण-शीर्ष हैं। ये तोरण ऐसे त्रिरथ स्तूपाकार शिखर से पृष्ठानुपृष्ठ हैं जिसके ऊपर चन्द्रिका और आमलक है। द्वार-मार्ग के आलबन पर प्रचलित नदी-देवियों का चित्रण किया गया है। गंगा दाहिनी ओर तथा यमुना बायीं ओर अंकित है तथा उसके पार्श्व में एक चमरधारिणी है। प्रत्येक द्वार-शाखा पर एक द्वारपाल का अंकन किया गया है जिसके हाथ में कमलपुष्प और गदा है। किरीट-मुकुट पहने गदाधारी द्वारपाल का चित्रण द्वार-मार्ग के परिवेष्टन के नीचे भी किया गया है। मंदारक (देहरी) के बीच के बाहर निकले हुए भाग पर कमल-बूटों का अंकन है। और उसके दोनों ओर एक-एक द्विभुजी सरस्वती की आकृति है। पार्श्ववर्ती आलों में छह जल-देवता अंकित है, जिनमें से प्रत्येक करि-मकर पर आसीन है और उसके हाथ में कलश है। नदी-देवियों के नीचे गज-शार्दूल निर्मित है तथा बाह्य द्वारपालों के नीचे नृत्य-संगीत के दृश्य अंकित किये गये है।

महा-मण्डप की केंद्रीय भीतरी छत चार स्तभों की चतुष्की पर उठायी गयी है। ये स्तभ अर्ध-मण्डप के स्तभों-जैसे ही है। अंतर केवल इतना ही है कि वे सादे उपपीठ पर अवस्थित है, उनपर एक सादे सरदल का निर्माण किया गया है जबकि इस सरदल पर एक-जैसी अलंकृति के तीन खसके है एवं उनपर भी तीन खसके और है। इनमें से प्रथम को प्रतिच्छेदी पाशों द्वारा सजाया गया है; दूसरे का अलंकरण उत्कीर्ण त्रिकोणों के द्वारा किया गया है, तथा तीसरे को सादा ही छोड दिया गया है। अंतिम खसके पर एक समतल भीतरी छत आधारित है जो मध्य भाग में ऐसे कमलपुष्प द्वारा अलंकृत है जिसके चारों ओर तीन किनारोंवाला एक वर्गाकार खण्ड है। पूर्वी सरदल का भीतरी भाग बिलकुल सादा है किन्तु उसके बाहरी भाग पर बेल-बूटों का अंकन है। साथ ही, मध्यासीन तीर्थंकर के पार्श्व मे आकाशगामी विद्याधर-मिथुन, हृदयाकार पुष्पों के गोटे, छिद्रित वर्गोंवाले झालरों से युक्त हीरक-अलंकृतियाँ, तथा कमल की पंखुड़ियों के एक कपोत का अलंकरण किया गया है, जिनसे गगारक निकल रहे है।

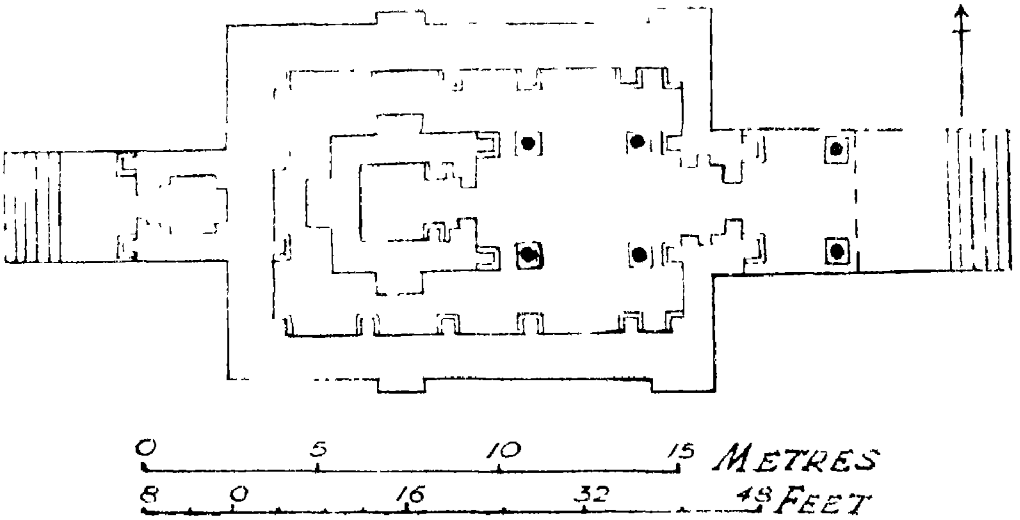
महा-मण्डप के स्तभो मे से प्रत्येक में तीन टोडे दीपक रखने के लिए दृष्टिगोचर होते है। सब से ऊपर के टोडों पर, जो कर्णवत् बाहर निकले हुए हैं, कमल की पंखुडियो की अलंकृतियाँ की गयी है। बीच के टोडो पर भूत दर्शाये गये है। सब से नीचे के टोडे सादी पद्म-सज्जा-पट्टी से मिलते-जुलते है। अर्ध-मण्डप के चारो स्तभो पर भी बीच के और सबसे नीचे के टोडो की पुनरावृत्ति की गयी है। यद्यपि इनके सबके ऊपर के भाग में प्रत्येक स्तभ पर चार अपेक्षाकृत छोटे भूत-टोडे दृष्टिगोचर होते हैं।

पार्श्वनाथ-मंदिर

स्थानीय सभी जैन मंदिरों में, पार्श्वनाथ-मंदिर (चित्र १६६) सबसे अधिक सुरक्षित रह सका है और वह खजुराहो के सबसे सुंदर मंदिरों में से एक है। अपनी विशिष्ट रूपरेखा संबंधी विशेषताओं

के कारण वह औरों से भिन्न है और कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण (रेखाचित्र २२)। यद्यपि वह एक सांधार-प्रासाद है, तथापि उसमें छज्जेदार वातायनों से युक्त वक्रभागों, जो स्थानीय सांधार-मंदिरों की विशेषता है, का अभाव है और विन्यास में यह मंदिर आयताकार है और उसके दोनों लघु पार्श्वों में से प्रत्येक पर अक्षीय प्रक्षेप है। पूर्व में जो प्रक्षेप है उससे मुख-मण्डप निर्मित होता है। पश्चिमी प्रक्षेप में गर्भगृह के पृष्ठभाग से सलग्न एक देवालय है (चित्र १६७) जो वास्तव में एक नयी बात है।

मंदिर में प्रवेश का मार्ग चतुष्कीवाले एक अत्यधिक अलकृत छोटे मुख-मण्डप से होकर है। मंदिर के भीतरी भाग में एक मण्डप, अंतराल और गर्भगृह है जो सब-के-सब एक आयताकार दीवार द्वारा परिवेष्टित हैं। मण्डप की दीवार को भीतर की ओर से अर्ध-स्तंभों का आधार प्राप्त है जो बाहर की ओर से मूर्तियों की पट्टियों का, तथा साथ ही ऐसे जालीदार वातायनों का जिनके द्वारा भीतर की ओर यथेष्ट प्रकाश आता है। मूर्ति-योजना के बाहरी अलंकरण में ये वातायन बाधक नहीं हैं। इसके अग्र-भागों (चित्र १६८) में उथले रथों (प्रक्षेपों) की एक श्रृंखला है जिनके बीच-बीच में संकीर्ण सलिलांतर (आले) है। इन प्रक्षेपों और आलों में जंघा पर मूर्तियों की तीन सुंदर पट्टियाँ हैं। नीचे की पंक्तियों की मूर्तियाँ सबसे बड़ी है और उनमें प्रक्षेपों पर देवी-देवताओं एवं अप्सराओं की तथा आलों में व्यालों



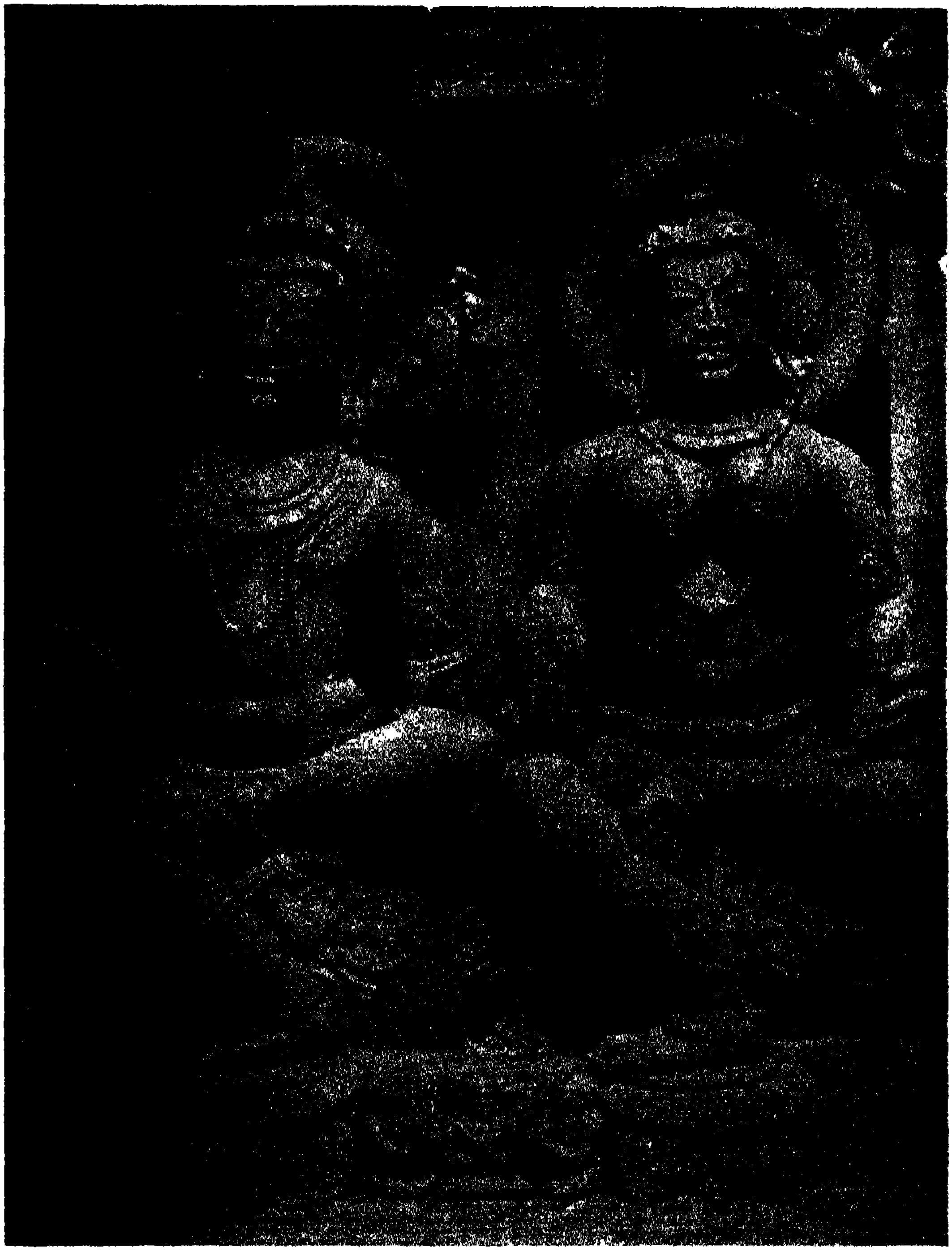
रेखाचित्र 22. खजुराहो : शांतिनाथ-मंदिर की रूपरेखा

की मूर्तियाँ बनी हैं। ऊपर की दो पंक्तियों की आकृतियाँ क्रमशः आकार में छोटी होती गयी हैं। बीच की पंक्ति में देवी-दंपति तथा सबसे ऊपर की पंक्ति में प्रक्षेपों तथा आलों में मुख्य रूप से विद्याधर-मिथुन अंकित किये गये हैं। अत्युत्तम सज्जा और सौंदर्यपूर्ण मूर्तियों की इन तीन पट्टियों द्वारा इन प्रक्षेपों एवं आलों को जो लालित्य प्रदान किया गया है उसके होते हुए भी शिखर से नीचे वाले मंदिर का अग्रभाग एक ठोस स्थूल दीवार के कारण नीरस-सा हो उठा है। यहाँ बाहरी उठान के उन गहरे दंतुरणों तथा छज्जेदार वातायनों के फलस्वरूप प्राप्य उस वास्तु-शिल्पीय उभार और छाया का अभाव है जो विकसित खजुराहो-शैली की अपनी विशेषता है।

मंदिर १.२ मीटर ऊँची जगती पर बना है। उसकी मूल सज्जा-पट्टियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। वेदी-बंध दो भिट्ट-स्तरों के ऊपर टिका हुआ है। उसे दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। निचले स्तर में जाड्यकुंभ, कर्णिका, पट्टिका अनतर पत्र और कपोत है। ऊपरी श्रेणी में पारंपरिक सज्जा-पट्टियाँ हैं जिनके ऊपर एक वसंत-पट्टिका है। जघा में क्रमशः छोटी होती गयी मूर्तियों की तीन पंक्तियाँ हैं जिन्हें दो बांधना-सज्जा-पट्टियों से अलग किया गया है। उसके शिखर के प्रत्येक रथ-प्रक्षेप पर एक-एक वरण्डिका तथा तिलक अवस्थित हैं। गर्भगृह के सामने के मध्यवर्ती भद्र-प्रक्षेपों तथा मण्डप (मण्डप के भद्रों का समरेखण केंद्रीय रूप से नहीं किया गया है) पर आलों या जालीदार वातायनों की चार पंक्तियाँ है। गर्भगृह के ऊपर जो छत है वह बहुत ऊँचे उठे सप्तरथ-नागर-शिखर से निर्मित है। यह शिखर भी उरु-शृंगों की दो पंक्तियों तथा गौण शृंगों, जिनमें कर्ण-शृंग भी सम्मिलित हैं, की तीन पंक्तियों का समूह है। अंतराल, मण्डप और मुख-मण्डप की वर्तमान छतें अधिकांशतः फिर से बनायी गयी हैं, किन्तु इसमें संदेह नही कि वे सामान्य खजुराहो-प्रसार की ही थी।

मंदिर में प्रवेश के लिए एक चतुष्की का साधारण आकार का, किन्तु अत्यधिक अलंकृत, मुख-मण्डप है। उसकी तोरण-सज्जा में अलंकरण और मूर्तियों का जो असाधारण प्राचुर्य है उसमें शाल-भंजिका-स्तंभ और अप्सराओं तथा सहायक देवों की आकृतियाँ सम्मिलित हैं। इसकी भीतरी छत (नाभिच्छंद कोटि का क्षिप्त वितान) में खजुराहो के अन्य मंदिरों की तुलना में सबसे अधिक अलंकरण किया गया है। उसके अलंकृत लोलक की समाप्ति उड़ते हुए विद्याधर-युगल की आकृतियों में होता है जो उकेरकर बनायी गयी हैं। मण्डप में प्रवेश का मार्ग उसके एक सप्तशाखा द्वार-मार्ग से होकर है जिसका अलंकरण हीरकों, पाटल-पुष्पों, गणों, व्यालों, मिथुनों, तेल-बूटों के अतिरिक्त द्वार-स्तंभों पर बने सेवकों से युक्त गगा और यमुना की आकृतियों द्वारा किया गया है। उसके सरदल पर नवग्रहों के अतिरिक्त दशभुजी गरुणासीन यक्षी चक्रेश्वरी ललाट-बिब के रूप में तथा चर्तुभुजी आसीन सरस्वती उसके दो सीमांतवर्ती आलों में से प्रत्येक में अंकित है। चक्रेश्वरी के दायें हाथों मे से एक वरद-मुद्रा में है तथा अन्य में असि, गदा, चक्र और घण्टिका है तथा बायें हाथो में चक्र-ढाल, बाण, अंकुश और शंख हैं। सरस्वती की आकृतियों के चार हाथों में से तीन में पूजन करछी पुस्तक और जल-कलश है, दायीं ओर की आकृति का वाहन हस अंकित है। द्वार-मार्ग के प्रत्येक पार्श्व में चार भुजाओंवाला एग जैन प्रतीहार उत्कीर्ण किया गया है जिसने किरीट-मुकुट पहन रखा है। उसके दो अवशिष्ट हाथों में से एक में पुस्तक और एक में गदा है।

आयताकार मण्डप की ठोस दीवारें है जिन्हे सोलह अर्ध-स्तभ आधार प्रदान करते हैं। अर्ध-स्तंभों के बीच की खुली जगह का उपयोग दीवार के साथ-साथ लगायी गती वितृत चौकियों पर तीर्थंकरों की दस प्रनिमाओं को प्रतिष्ठित कर किया गया है। यह इस मंदिर की एक और विशेपता है। अन्यथा इसका भीतरी भाग अन्य स्थानीय मंदिरों की भाँति ही निर्मित है। मण्डप में चार सामान्य केंद्रीय स्तंभ है जिनपर चार शालभंजिका-अवलंबन हैं और तोरणों की एक वर्गाकार सज्जा निर्मित है जो नाभिच्छ प्रकार के क्षिप्त-वितान के रूप में बनायी गयी एक वर्गाकार भीतरी छत (चित्र १६९) को आधार



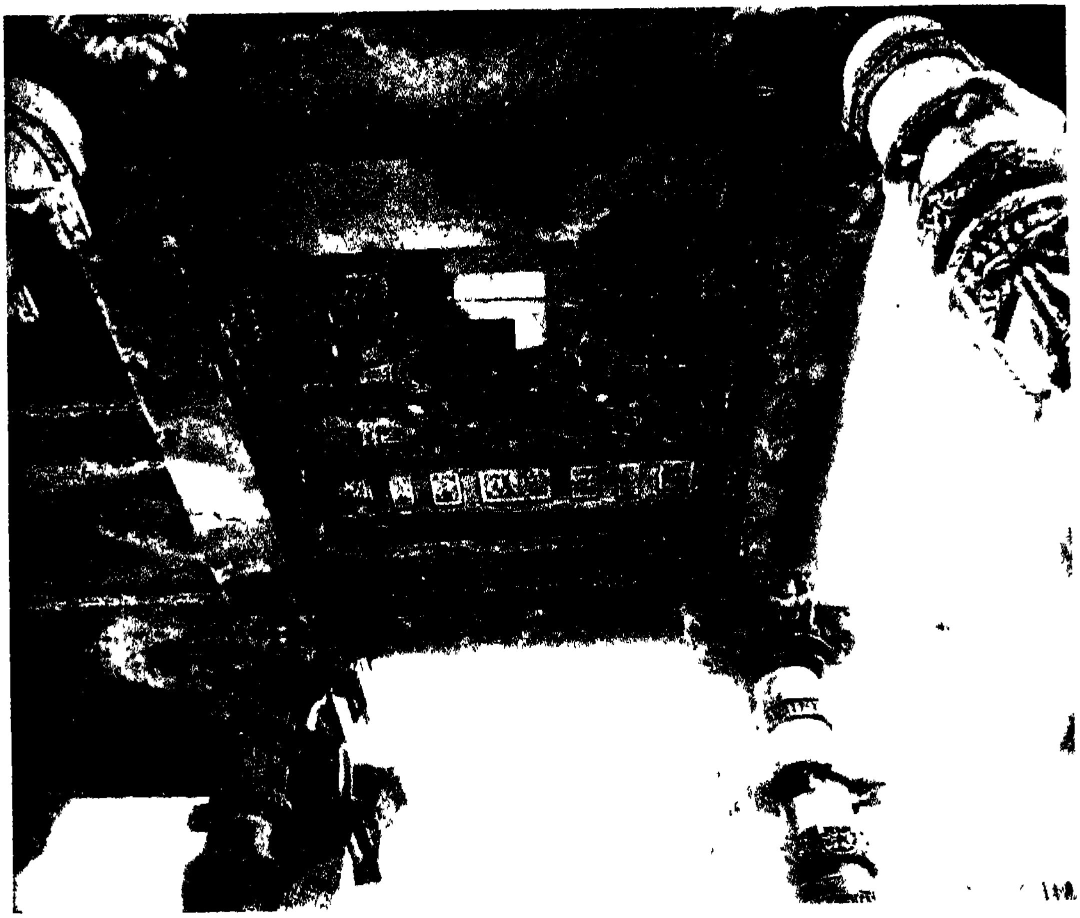
खजुराहो — शांतिनाथ-मंदिर, तीर्थंकर के माता-पिता

चित्र 163



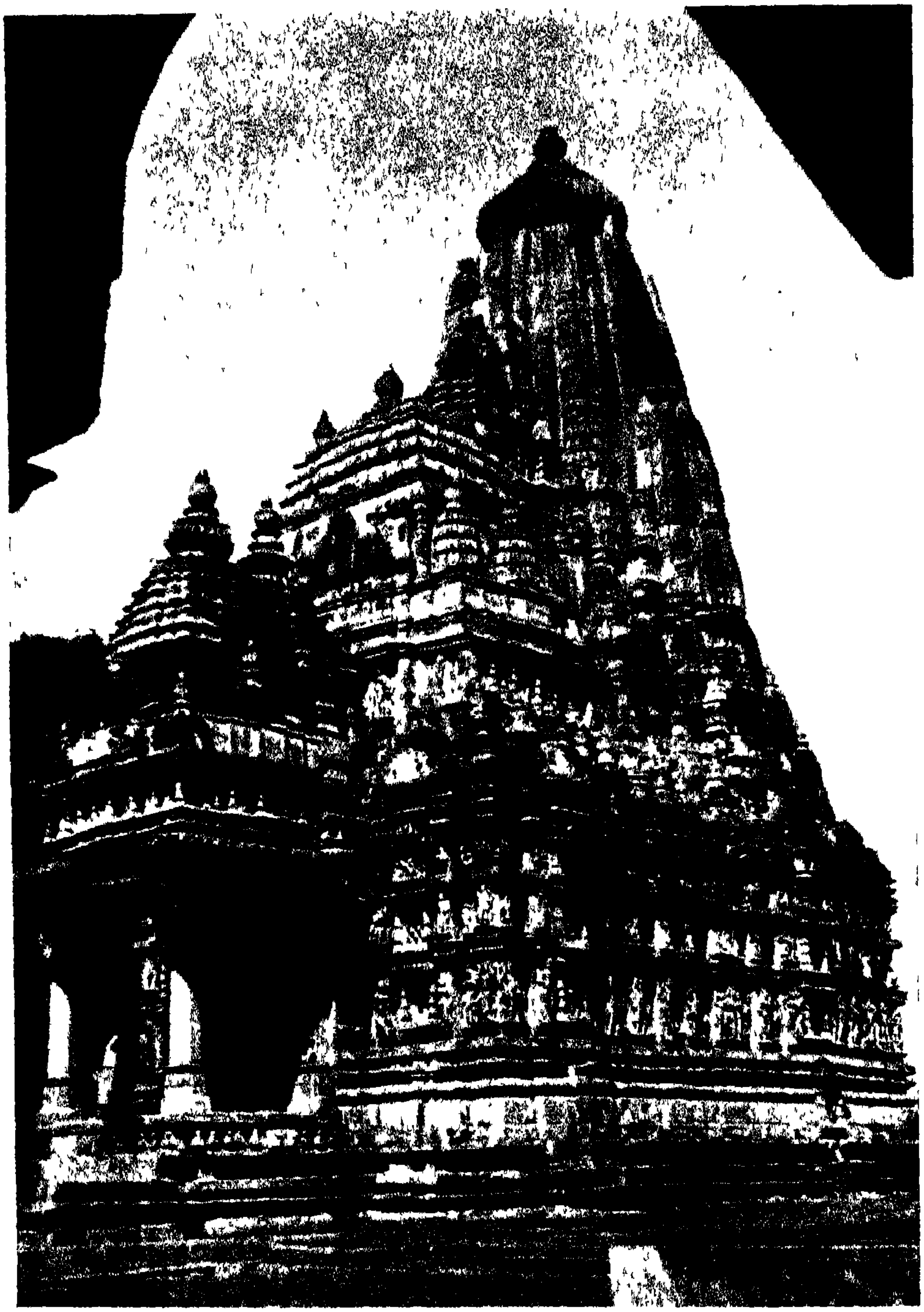
खजुराहो — घण्टाई मंदिर

चित्र 164



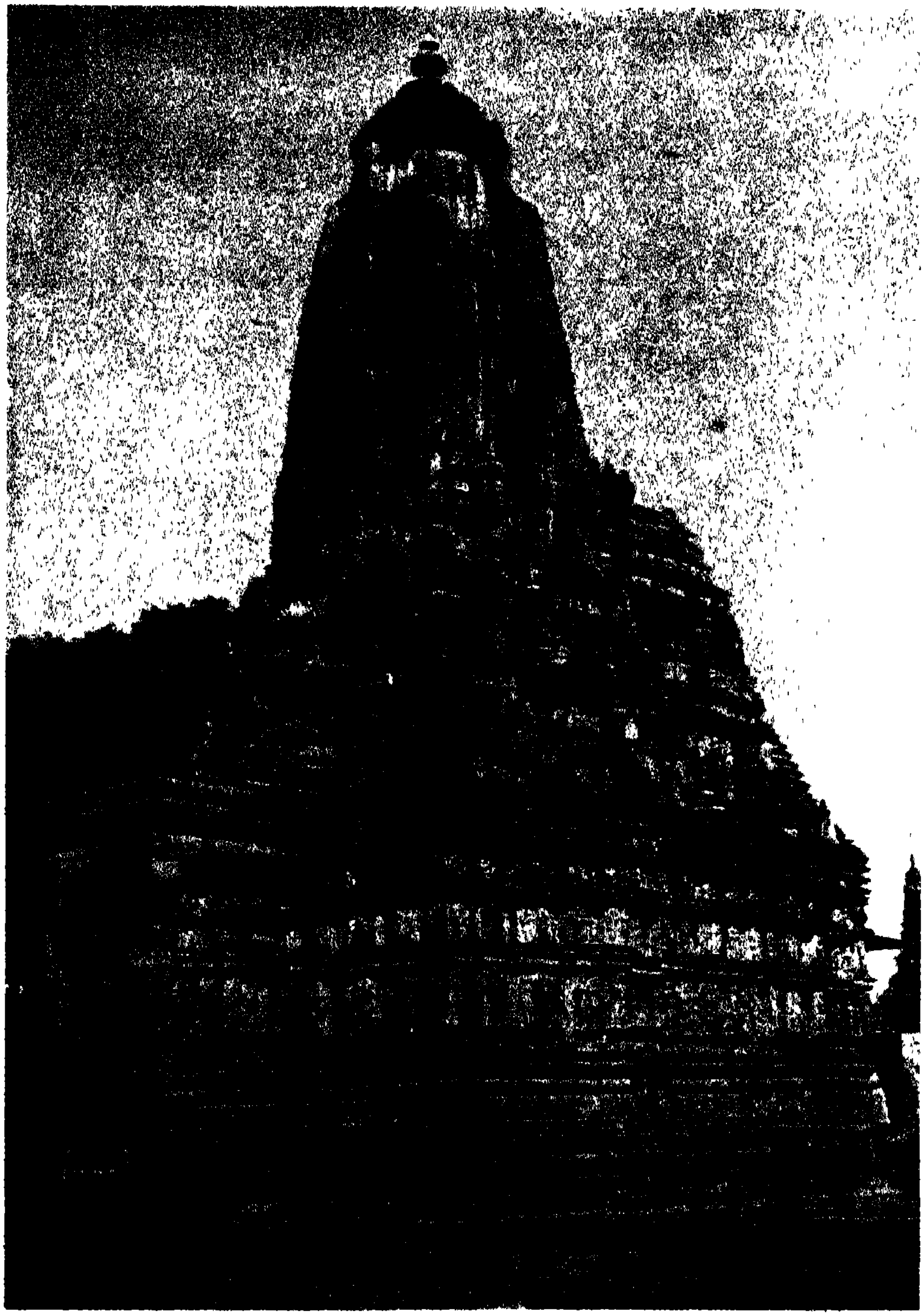
खजुराहो — घण्टाई मंदिर, गर्भगृह की छत

चित्र 165



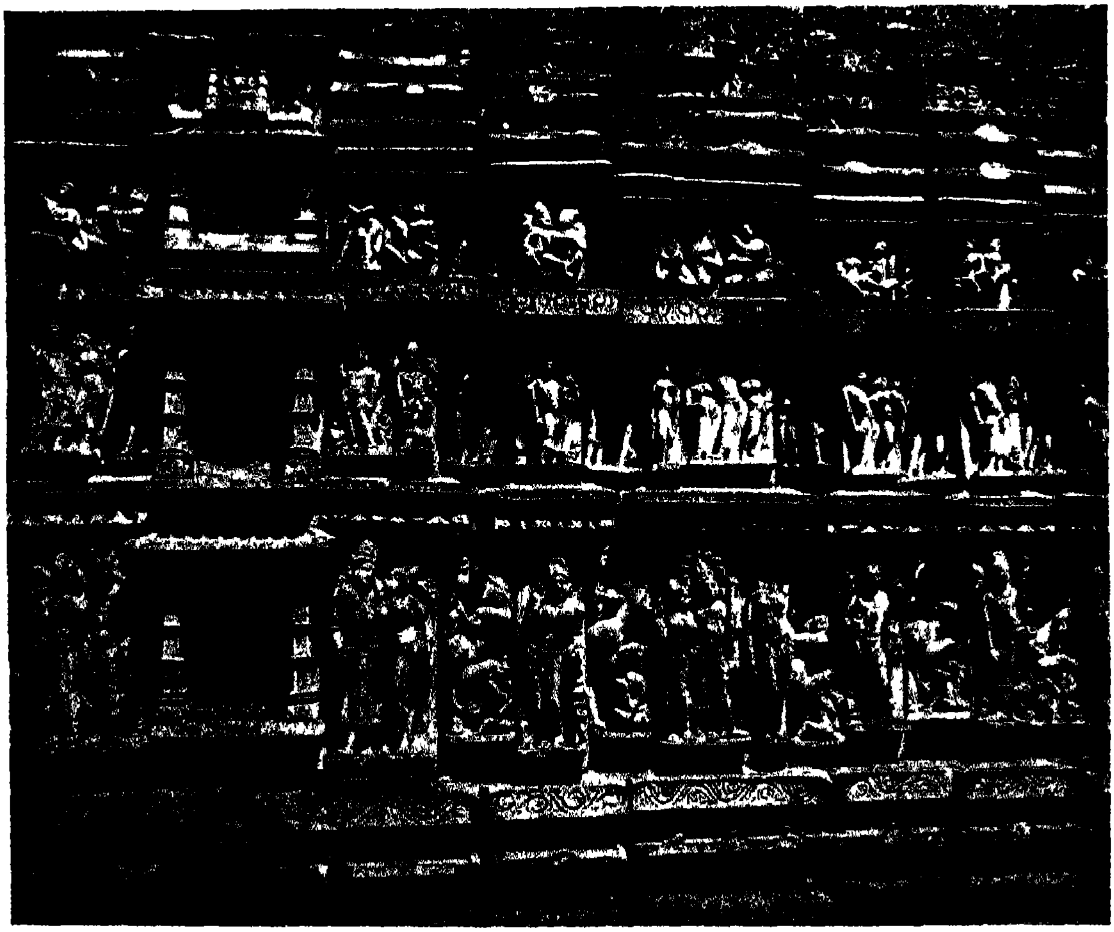
खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर

चित्र 166



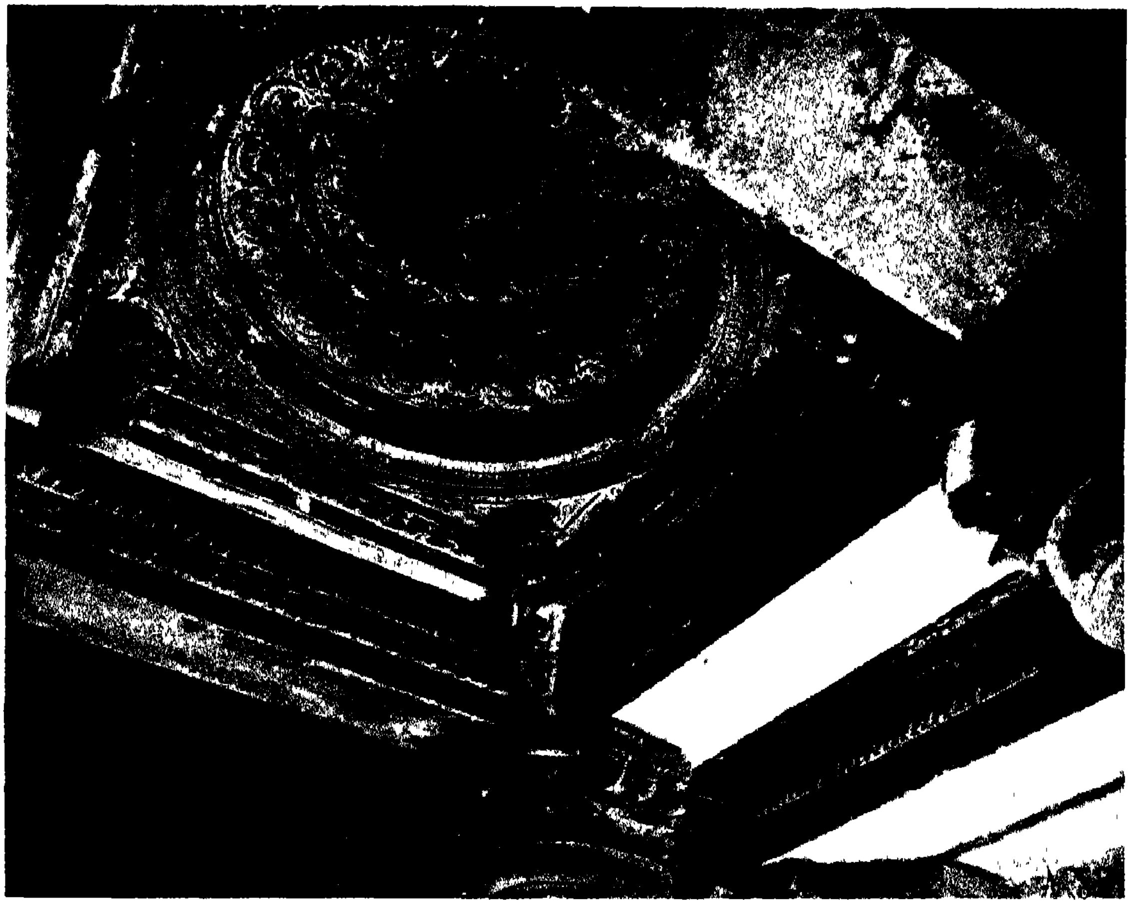
खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, पृष्ठभाग

चित्र 167



खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, दक्षिणी बहिर्भित्ति का एक भाग

चित्र 168



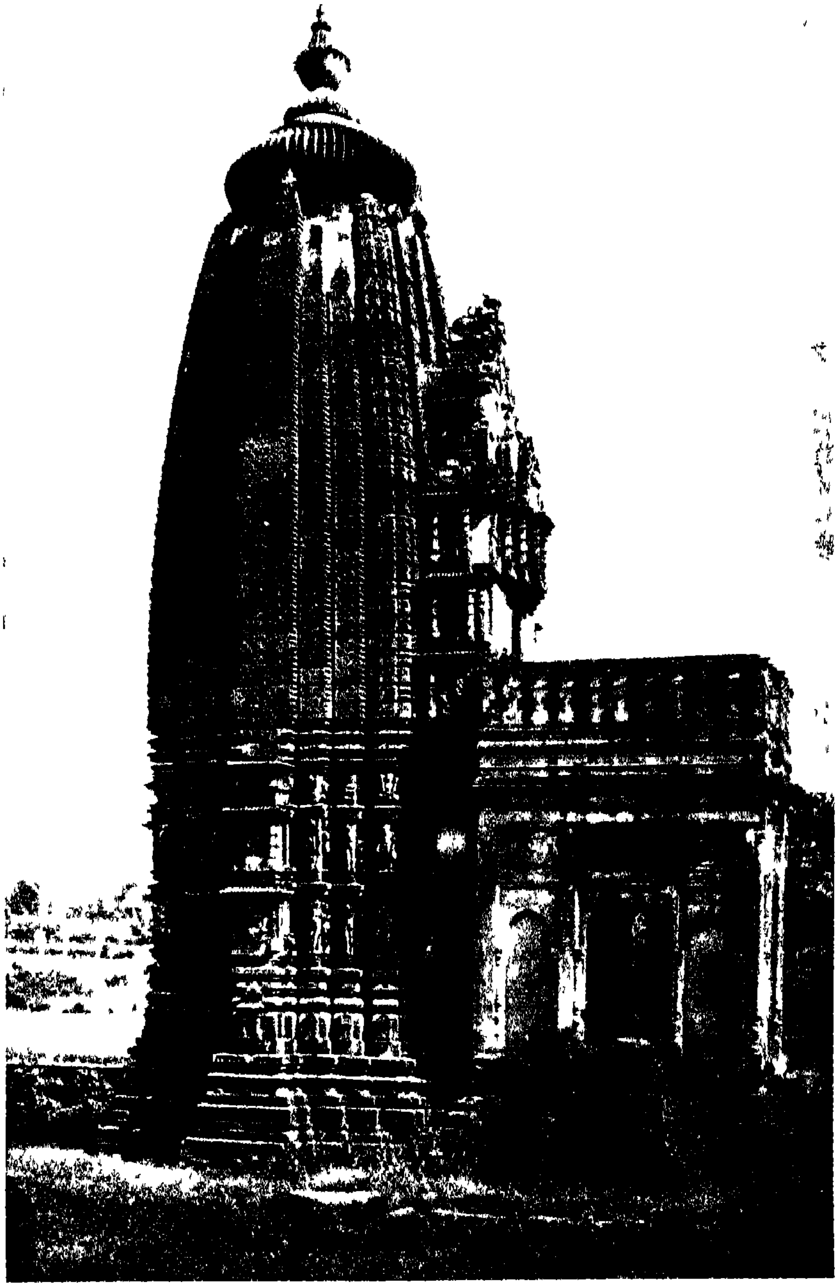
खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, मण्डप की छत

चित्र 169



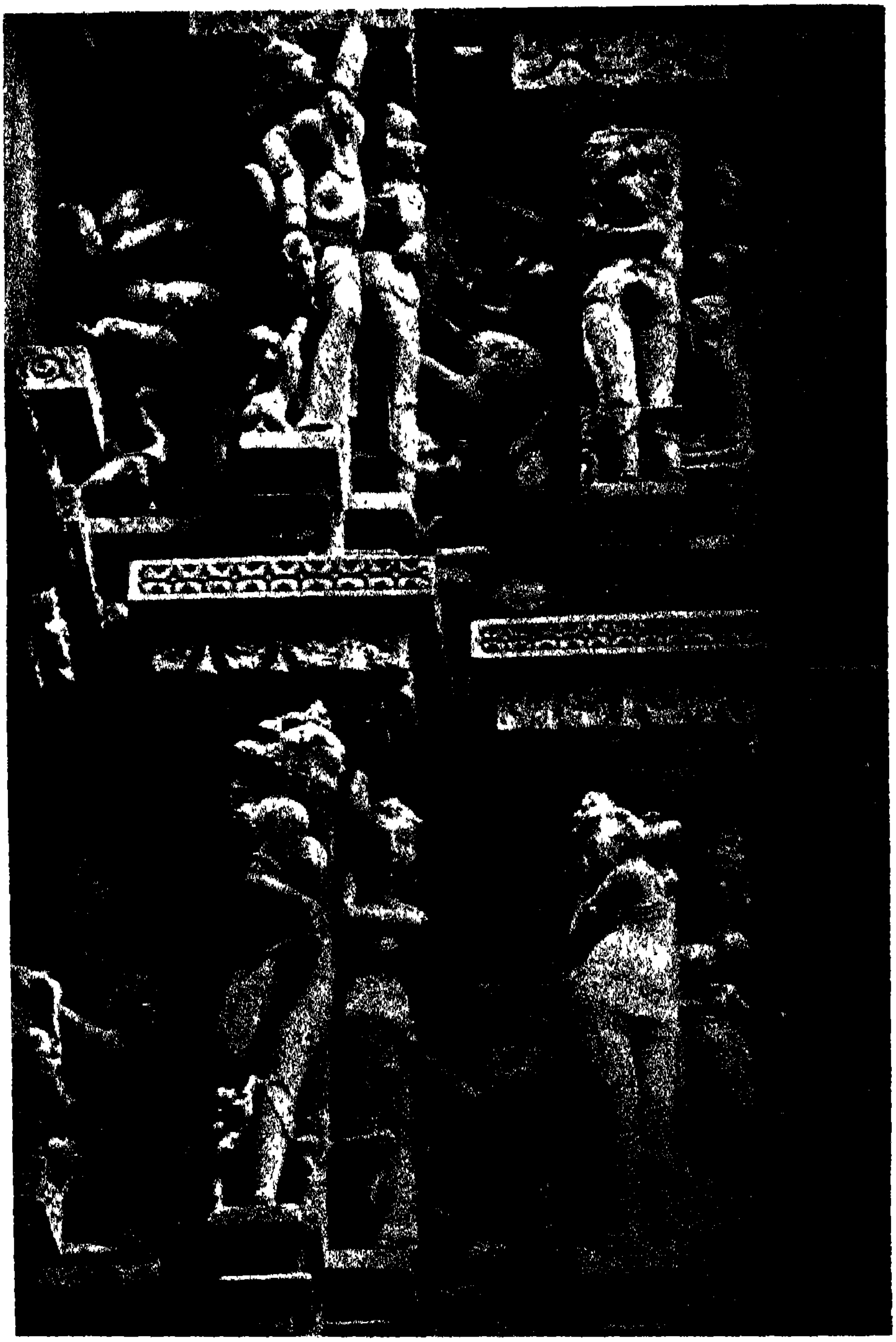
खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, पृष्ठवर्ती गर्भगृह का प्रवेशद्वार

चित्र 170



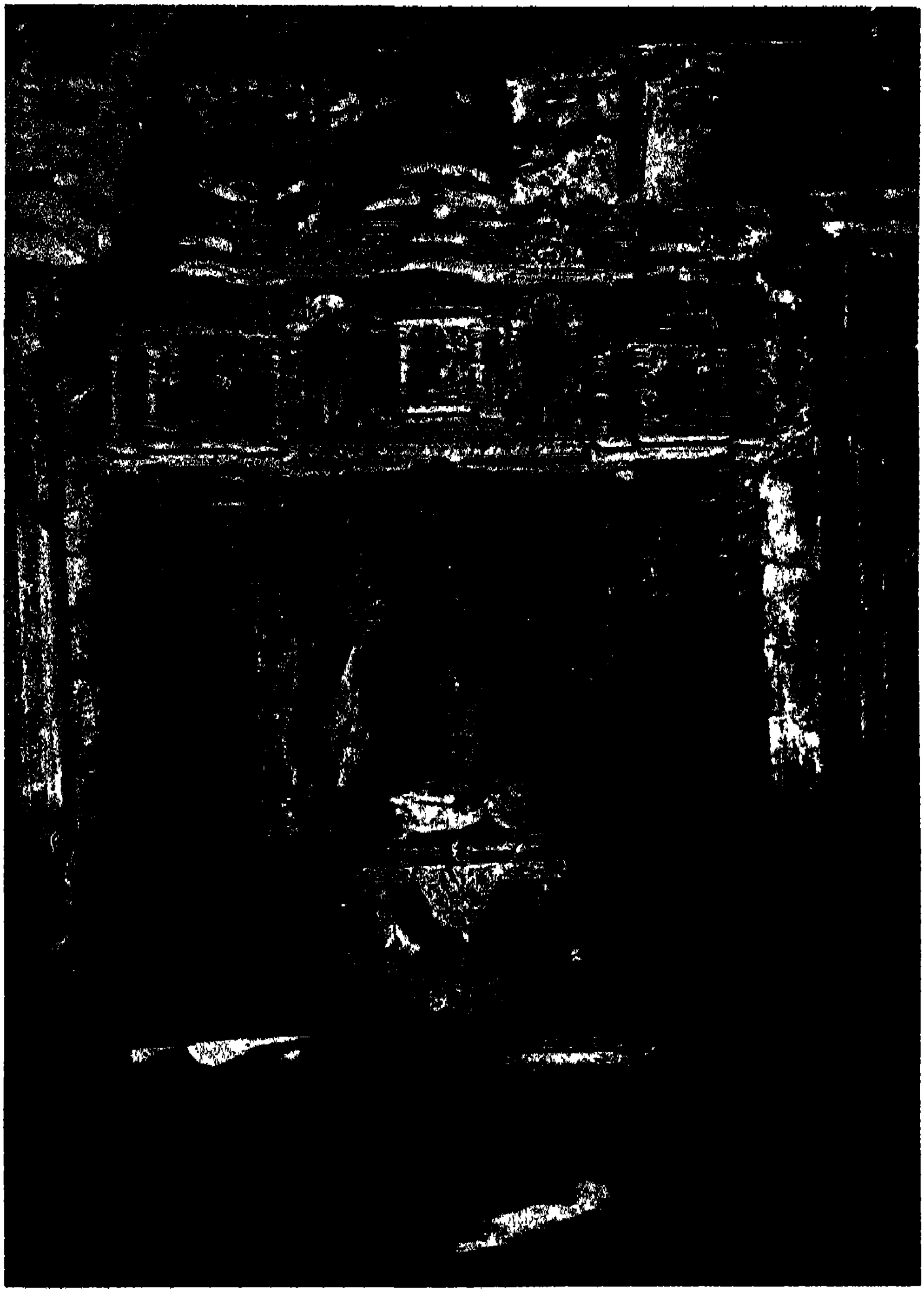
खजुराहा — आदिनाथ-मंदिर

चित्र 171



खजुराहो — आदिनाथ-मंदिर, दक्षिणी बहिर्भित्ति का एक भाग

चित्र 172



खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, महामण्डप में चतुर्विंशति पट्ट

चित्र 173

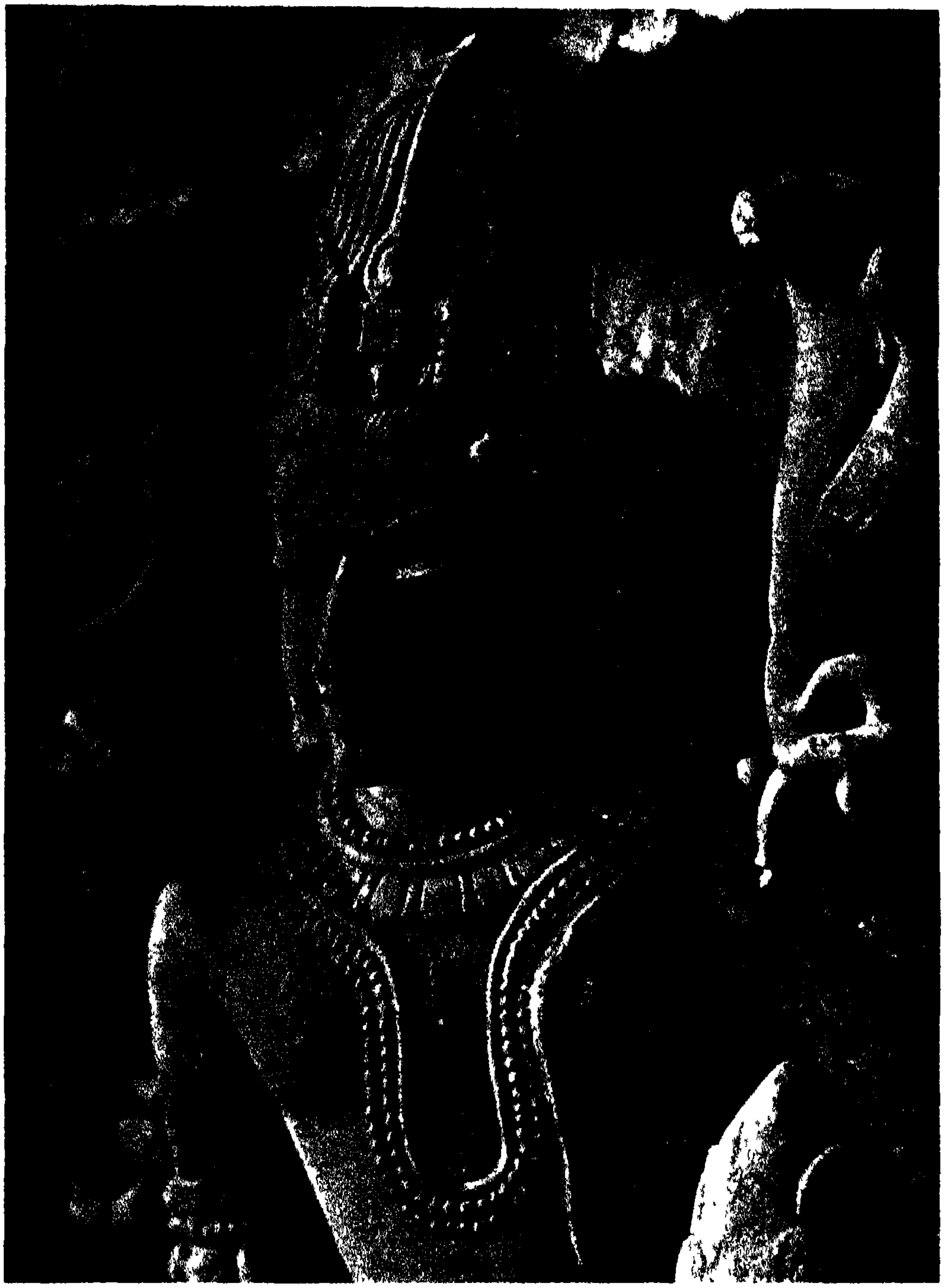


(क) खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति पर सरस्वती



(ख) खजुराहो — पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति पर देव-मूर्तियां

चित्र 174



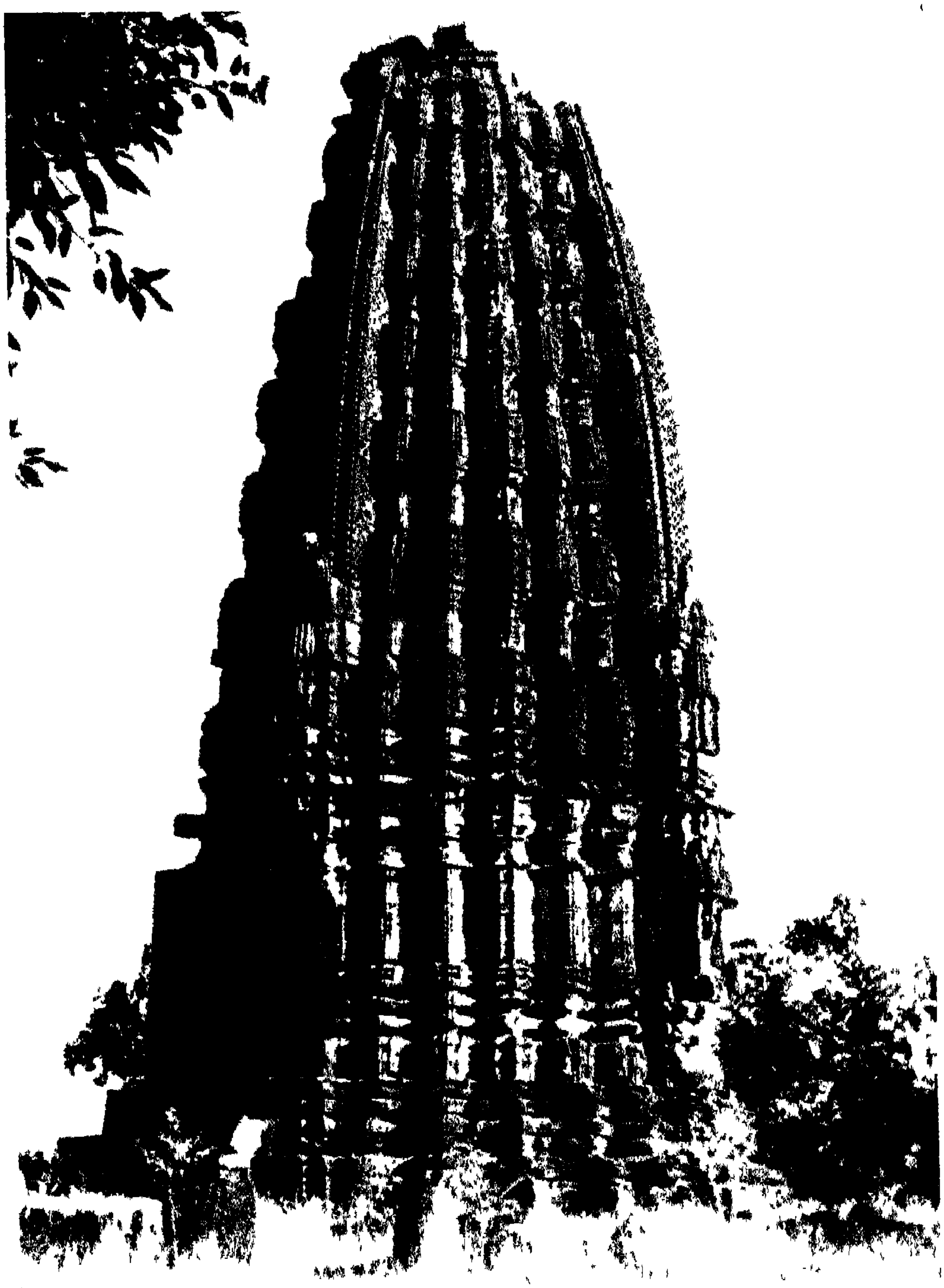
खजुराहो -- पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिर्भाग, शिव-मस्तक

चित्र 175



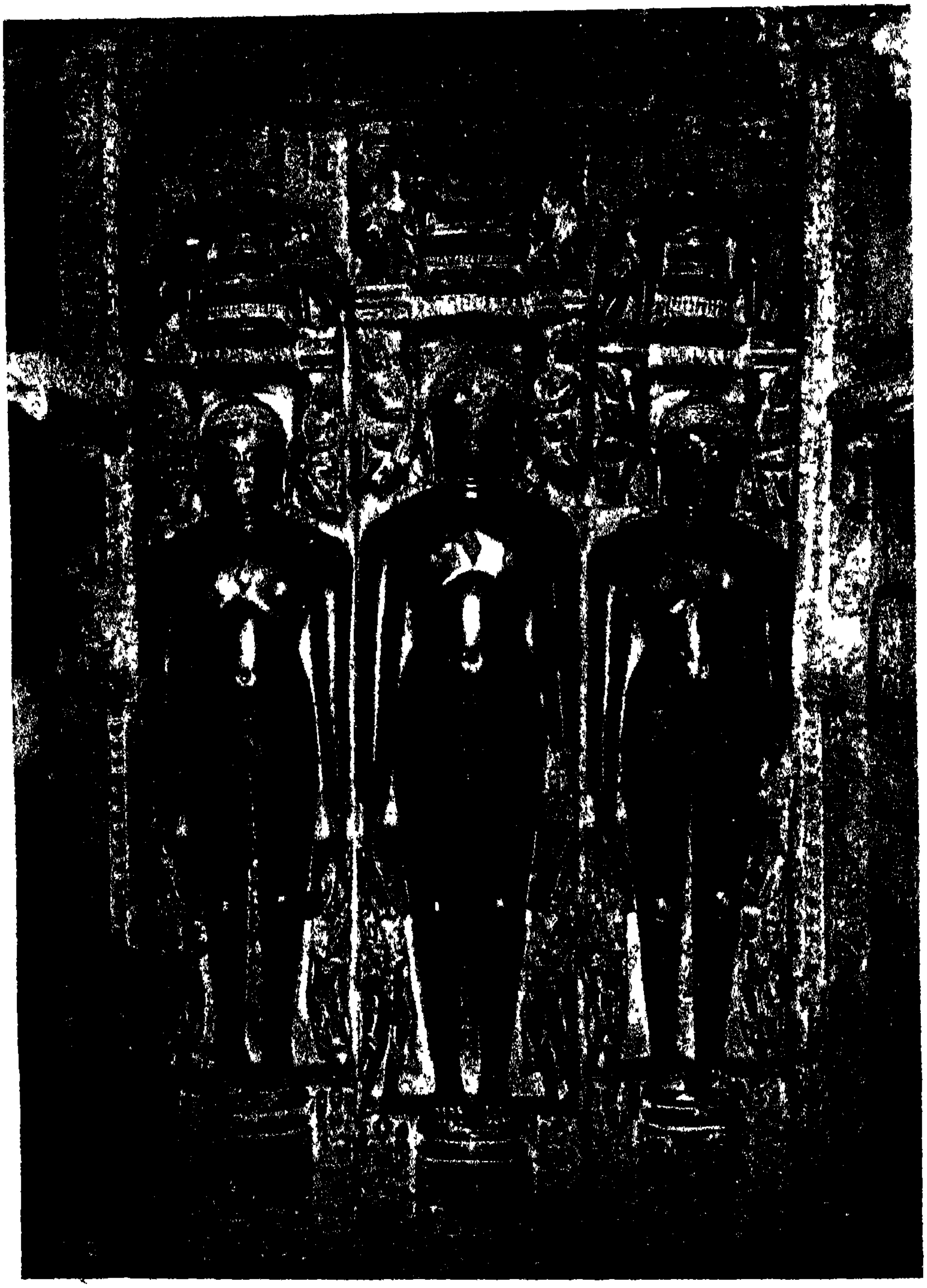
खजुराहो - पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति पर सुर-सुंदरी

चित्र 176



आरग — भाण्ड-देवल-मंदिर

चित्र 177



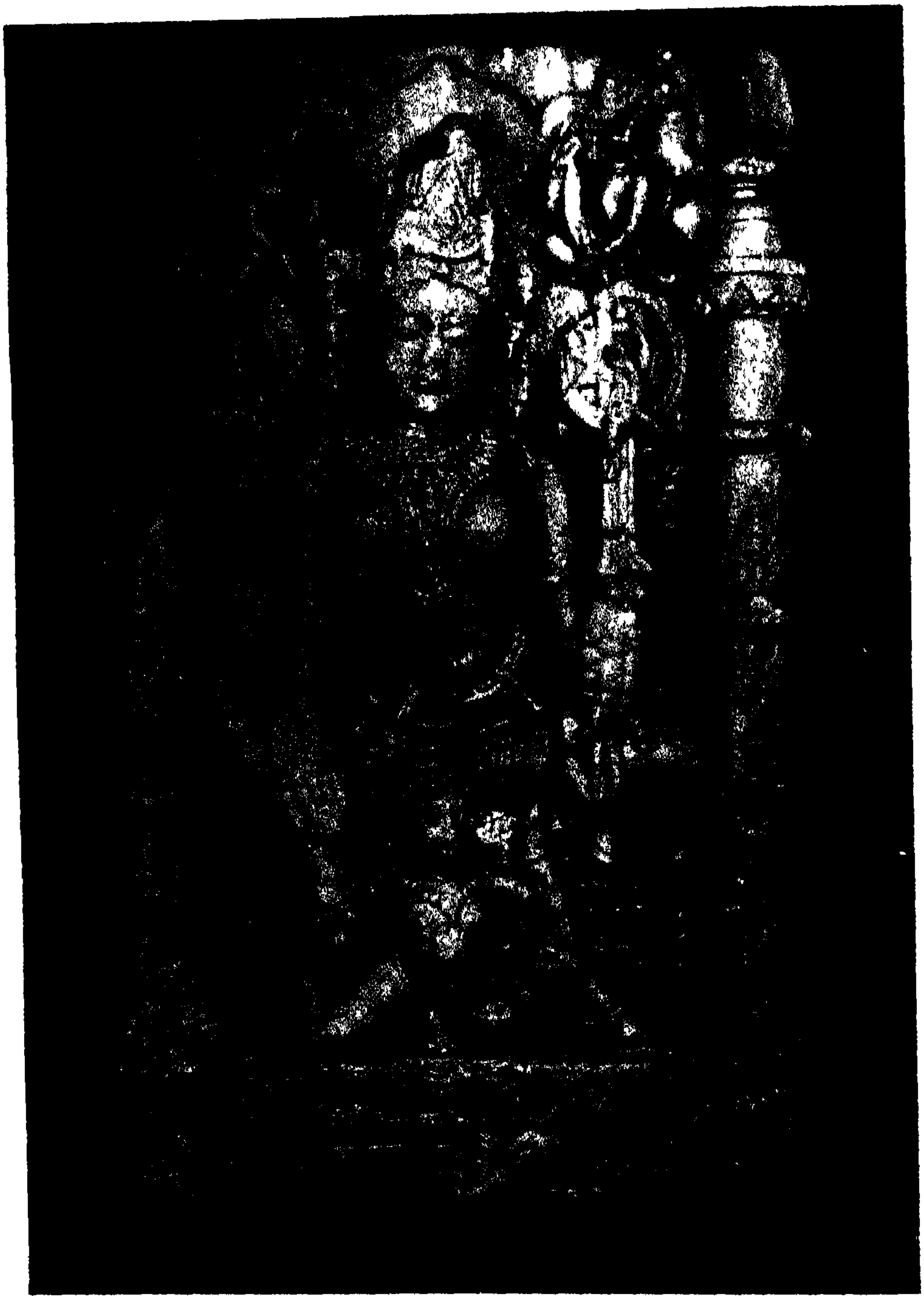
आरग — भाण्ड-देवल-मदिर, गर्भगृह मे तीर्थंकर-मूर्तियां

चित्र 178



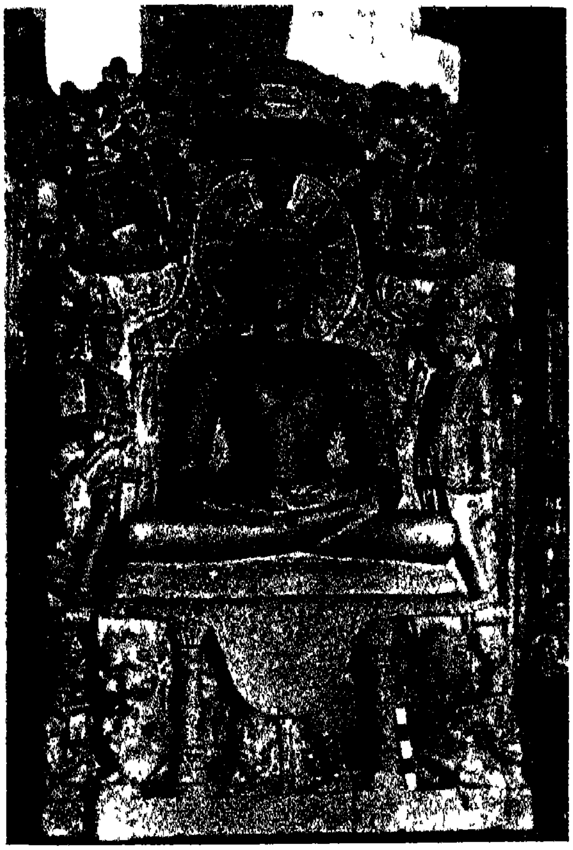
चाँदपुर — नवग्रह-पट्ट

चित्र 179

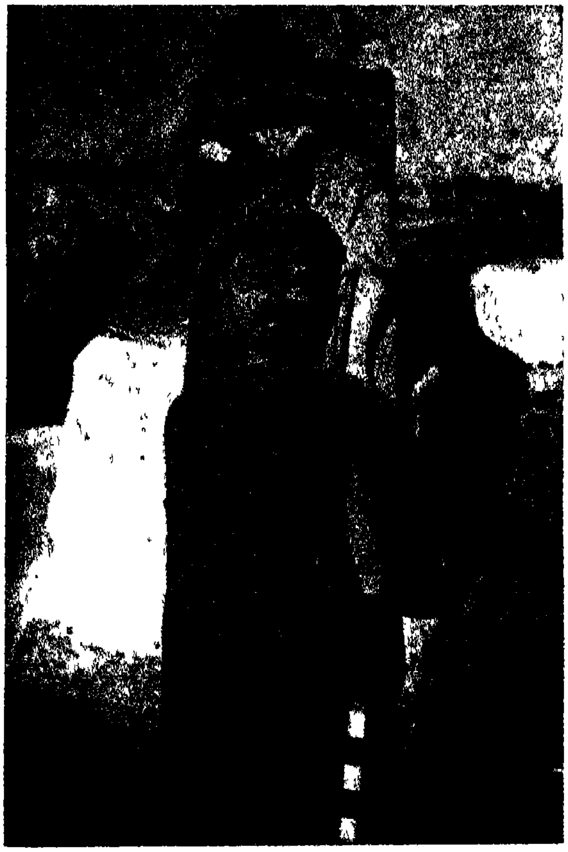


अहार संग्रहालय — यक्षी चक्रेश्वरी

चित्र 180

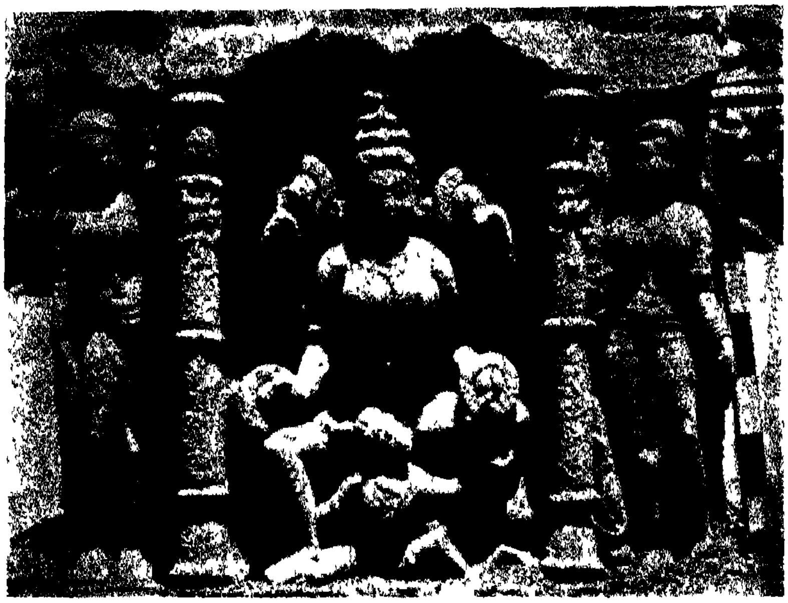


(क) लखनादोन — तीर्थंकर-मूर्ति



(ख) लखनादोन — तीर्थंकर पार्श्वनाथ

चित्र 181



(क) गंधावल – यक्षी चक्रेश्वरी



(ख) मांधाता — पीतल-निर्मित तीर्थंकर मूर्ति का परिकर

चित्र 182

प्रदान करती है। गर्भगृह का एक पंचशाखा द्वार-मार्ग है जिसका अलंकरण बेल-बूटों, गणों तथा मिथुनों द्वारा तो किया ही गया है, साथ ही द्वार-स्तंभों पर सेवकों सहित गंगा और यमुना की आकृतियाँ भी अंकित हैं। द्वार-मार्ग पर दो तोरण-सज्जाएँ हैं जिनमें से एक पर नौ ग्रहों के अतिरिक्त ललाट-बिंब के रूप में आसीन-मुद्रा में एक तीर्थंकर-प्रतिमा तथा सीमान्त आलों में से प्रत्येक में एक खड़ी हुई तीर्थंकर-प्रतिमा अंकित है। ऊपर की तोरण-सज्जा के आलों में पाँच आसीन तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं और छह तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं। द्वार-मार्ग के प्रत्येक पार्श्व में किरीट-मुकुट पहने चार भुजाओंवाला जैन प्रतीहार अंकित है। दायीं ओर वाले प्रतीहार के दो अवशिष्ट हाथो में गदा और पद्म हैं और बायी ओर वाले के हाथों में चक्र, शंख, कमल और गदा है। मंदारक पर एक विद्यादेवी-युगल भी उत्कीर्ण है।

गर्भगृह में काले संगमरमर की बनी पार्श्वनाथ की एक आधुनिक प्रतिमा है जिसकी प्रतिष्ठापना सन् १८६० में उसी प्राचीन और ललित आधार-वेदी पर की गयी थी जिसका निर्माण पाण्डु बलुआ पत्थर आदि उसी प्रकार की सामग्री से हुआ था जिससे मंदिर और उसकी मूर्तियाँ निर्मित हैं। यह वेदी अपने परिकर और प्रभावली सहित पूरी की पूरी सुरक्षित है और यह संकेत देती है कि मूल प्रतिमा एक चतुर्विंशति-पट्ट थी जिसके मूलनायक आदिनाथ थे, जैसा कि उसके समुचित स्थान पर उत्कीर्ण वृषभ-लांछन (चिह्न) से स्पष्ट है।

इस मंदिर के पिछले देवालय, जो इसका पश्चिमी प्रक्षेप है, का मुख पश्चिम की ओर है और उसमें जंघा की मूर्ति-संबंधी वही संयोजना तथा वही वेदी-बंध की सज्जा-पट्टियाँ बाहर की ओर हैं। अंतर केवल इतना ही है कि दोनों चित्र-पट्टिकाओं की ऊँचाई कम है। इस देवालय का केवल गर्भगृह ही बचा है जिसमें प्रवेश के लिए पंचशाखा द्वार-मार्ग था, जिसका अलंकरण द्वार-स्तंभों पर सेवकों सहित गगा और यमुना की आकृतियों के अतिरिक्त बेल-बूटों, गणों तथा मिथुनों द्वारा किया गया था (चित्र १७०)। उसके सरदल पर नौ ग्रहों के अतिरिक्त तीन आले हैं जिनमें से प्रत्येक में चतुर्भुजी सरस्वती की आसनस्थ प्रतिमा है। केंद्रीय और बायी ओर की आकृति का एक हाथ वरद-मुद्रा में है और अन्य हाथों मे कमलनाल, पुस्तक और जलकुभ है। दाहिनी आकृति के ऊपरी दो हाथों में कमलनाल और पुस्तक हैं तथा निचले दो हाथों में वीणा है; पार्श्व के दो चतुर्भुजी जैन प्रतीहारों में से दाहिने का सिर और हाथ नष्ट हो गये हैं; बायें प्रतीहार के दो अवशिष्ट बाये हाथों में पुस्तक और गदा है तथा वह किरीट-मुकुट पहने हुए है।

बाह्य भद्र-आलों में, जंघा की दो प्रमुख पंक्तियों में, तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ या अधिकतर जैन देवियों (यक्षियों या विद्यादेवियों) की मूर्तियाँ, तीसरी पंक्ति में नृत्य-चित्रावली और सबसे ऊपर की पंक्ति में चतुर्भुजी आसनस्थ कुबेर या सर्वानुभूति यक्ष की लघु मूर्तियाँ अंकित थीं। मण्डप के दक्षिणी अग्रभाग के मुख पर दो मुख्य भद्र-आलों में से प्रत्येक में चतुर्भुजी देवी की ललित त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी मूर्ति है, जिसके आसपास पारंपरिक सेवक-वर्ग, भक्त तथा आकाशगामी विद्याधर अंकित हैं। इसके साथ ही स्तंभ के प्रत्येक कोने में खड्गासन-मुद्रा में तीर्थंकरों की चार मूर्तियाँ भी प्रदर्शित हैं।

निचले आले में जो देवी है उसका दाहिना हाथ ही सुरक्षित है। वह वरद-मुद्रा में है और कमलनाल-युक्त है। उसका वाहन नष्ट हो गया है। ऊपर के आले की देवी के तीन अवशिष्ट हाथों में से एक वरद-मुद्रा में है और अन्य में कमलनाल और कमण्डल हैं। इसी प्रकार मण्डप के उत्तरी अग्रभाग के आलों में चतुर्भुजी खड़ी देवियाँ हैं। निचले आले की देवी के ऊपरी दो हाथों में बंद कमल है और अवशिष्ट तीसरे हाथ में शंख है। ऊपरी आले की देवी तीन सिरोंवाली है जिसके चारों हाथ और उनमें प्रदर्शित वस्तुएँ टूट गयीं हैं। गर्भगृह के दक्षिणी अग्रभाग के दो मुख्य भद्र-आलों मे जालीदार वातायन हैं किन्तु नीचे के आले में, जो वेदी-बंध की कलश-सज्जा-पट्टी से बाहर की ओर निकला हुआ है, षष्ठभुजी सरस्वती की ललितासन मूर्ति है जिसके दो हाथों में एक वीणा है और शेष चार हाथों में से एक वरद-मुद्रा मे है तथा अन्य हाथों में नीलकमल, पुस्तक और कमण्डलु हैं। वेदी-बंध के उत्तरी अग्रभाग वाले उसी प्रकार के आले में चतुर्भुजी देवी की ललितासन मूर्ति है जिसके ऊपरी दो अवशिष्ट हाथों में से प्रत्येक में एक कमलनाल है।

यह संदेहास्पद है कि देवालय के पीछे की ओर के दो दक्षिणी भद्र-आलों में अंकित चंद्रप्रभ की कायोत्सर्ग-मुद्रा में सुंदर प्रतिमा तथा एक आसीन तीर्थंकर-प्रतिमा मूल प्रतिमा है या नहीं। शुकनासा को अलंकृत करनेवाली कुछ प्रतिमाएँ, जिनमें यक्षी अंबिका की भी एक सुंदर आकृति है, स्पष्ट ही बाद में जोड़ दी गयी है। जो भी हो, इस यक्षी की एक सुदर मूल मूर्ति मण्डप-शिखर के दक्षिणी अग्रभाग की आधार-वेदी पर स्थित है जो उस कामुक जोड़े से बहुत दूर नही है, जिसकी शैली के केवल दो ही नमूने इस मदिर मे प्राप्त हैं। शिखर के आधार के साथ-साथ बने छोटे आलो में कुछ चित्र-वल्लरियाँ हैं जिनमें एक गुरु अपने शिष्यों को पढ़ाता हुआ चित्रित किया गया है तथा एक कथा-पट्ट है जिसमें हनुमान को अशोक-वाटिका में सीता से भेंट करते हुए अंकित किया गया है।

इस मंदिर के भीतरी भाग में दीवार के साथ रखी चौकियों में से लगभग आधी रिक्त है और शेष चौकियों पर तीर्थकरों की पारंपरिक मूर्तियों के अतिरिक्त सिह पर आरुढ़ एक चतुर्भुजी यक्षी तथा तीर्थंकर के माता-पिता की सुदर प्रतिमाएँ हैं।

आदिनाथ-मंदिर

पार्श्वनाथ-मदिर के ठीक उत्तर में स्थित यह मंदिर (चित्र १७१) खजुराहो स्थित जैन मदिर-समूह में एक महत्त्वपूर्ण मंदिर है। यह निरधार-प्रासाद-शैली का है। अब इसके केवल गर्भगृह और अतराल ही अपनी छतों सहित शेष बचे हैं। उसके मण्डप और अर्ध-मण्डप बिलकुल ही नष्ट हो गये हैं तथा उनके स्थान पर एक प्रवेश-कक्ष बना दिया गया है जो चूने की पलस्तर-युक्त चिनाई से बना है। उसके जो तोरण-युक्त द्वार-मार्ग हैं और गुबदाकार भीतरी छतें हैं वे मूल भवन से बिलकुल मेल नहीं खाते। रूपरेखा और उठान दोनों ही दृष्टि से यह मदिर सप्तरथ-शैली का है और उसके प्रत्येक भद्र से एक अतिरिक्त नासिका या प्रक्षेप दृष्टिगोचर होता है। अपनी मूर्ति-शैली (चित्र १७२) तथा सामान्य रूपरेखा एवं अंकन में यह मंदिर वामन-मंदिर से सबसे अधिक समानता रखता है।

वास्तव में, इस मंदिर और वामन-मंदिर में महत्त्वपूर्ण अंतर केवल जघा की सबसे ऊपर की तीसरी पंक्ति के अलंकरण में है। वामन-मंदिर के आलों का अलंकरण हीरकों द्वारा किया गया है। जो भी हो, वर्तमान में सबसे ऊपर की पंक्ति में आकाशगामी उत्साही विद्याधरों की एक पट्टी अंकित है। ऐसी पट्टी पार्श्वनाथ, जवारी, चतुर्भुज और दूलादेव-मंदिरों में भी पायी जाती है। फिर भी एक सीमा तक यह माना जा सकता है कि निर्माण-तिथि की दृष्टि से यह मंदिर अन्य किसी स्थानीय मंदिर की अपेक्षा वामन-मदिर के अधिक निकट है। क्योंकि इसका शिखर इतना चिपटा और भारी नही है जितना कि वामन-मंदिर का और इसकी निर्मिति अधिक संतुलित है, अतः यह जान पड़ता है कि यह मंदिर कुछ अधिक विकसित है और वामन-मंदिर के पश्चात् बना है।

यह मंदिर एक मीटर ऊँची साधारण आयाम की जगती पर बना है। जगती के मूल गोटे नष्ट हो चुके हैं किन्तु उसके अग्रभाग पूरे के पूरे फिर से बना दिये गये हैं।

अधिष्ठान के गोटे भिट्ट-स्तर पर बने हैं जिनमें निम्नलिखित सम्मिलित हैं : (१) एक सादा स्तर (खर-शिला); (२) हीरकों से अलंकृत एक स्तर जो छोटे अर्ध-स्तंभों से निर्मित है (तुलना कीजिए—दूलादेव-मंदिर के इसी प्रकार के गोटों से); (३) सादा जाड्यकुभ; और (४) एक प्रक्षिप्त मध्यबंध जिसका अलंकरण कमल-पंखुड़ियों से किया गया है। भिट्ट के ऊपर पीठ की सज्जा-पट्टियाँ है जिनमें सम्मिलित है: (१) जाड्यकुभ, (२) कर्णिका, और (३) ग्रास-पट्टिका। ग्रास-पट्टिका वेदी-स्तर को सूचित करती है—यह तथ्य गर्भगृह के पानी के निकास के लिए उसके उत्तरी अग्रभाग में बनायी गयी मकर-प्रणाली से स्पष्ट है। ग्रास-पट्टिका पर वेदी-बध-सज्जा-पट्टियाँ बनी है। इनमे सम्मिलित है. (१) खुर, (२) आलों में हीरकों से अलंकृत कुभ, (३) कलश, (४) कपोत, और (५) प्रक्षिप्त पट्टिका, जिसका अलंकरण हीरकों तथा पाटलाकार अलंकृतियों से एकांतर-क्रम मे किया गया है।

जंघा में मूर्तियों की तीन पंक्तियाँ है। ऊपर की पंक्ति आकार में कुछ छोटी है। नीचे की दो पंक्तियों में देवी-देवताओं का अंकन है जिनमें पारी-पारी से, प्रक्षेपों पर अप्सराओं की तथा भीतर धँसे भागों मे व्यालों की आकृतियाँ है। सबसे ऊपर की पंक्ति में प्रक्षेपों पर विद्याधरों की तथा भीतर धँसे भागों में विद्याधर-मिथुनों की आकृतियाँ अंकित हैं। विद्याधर की आकृतियों मे प्रबल सक्रियता विशेष रूप से परिलक्षित होती है। उन्हें पुष्पमालाएँ ले जाते हुए या संगीत-वाद्य बजाते हुए या शस्त्र चलाते हुए अंकित किया गया है। अंतराल के अग्रभागों तथा गर्भगृह के भद्रों में चार आले दिखाई देते है जिनमें से सबसे निचला आला तलगृह की कुभ-सज्जा-पट्टी पर है और अन्य तीन उसी स्तर पर है जिसपर मूर्तियों से युक्त पट्टियाँ हैं। सबसे ऊपर का आला खजुराहो के मंदिर में पाये जाने वाले छज्जेदार वातायन की पूर्ण प्रतिकृति ही है और उसमें तीन खड़ी हुई आकृतियाँ हैं। नीचे के तीन आलों में जैन मूर्तियाँ अंकित हैं।

पहली और मध्य पंक्तियों के बीच की बांधना की सज्जा-पट्टी ग्रास-पट्टिका को प्रदर्शित करती है जिसके ऊपर एक प्रक्षिप्त पट्टिका है। मध्य और सबसे ऊपर की पंक्तियों के बीच की बान्धना-सज्जा-

पट्टी में ग्रास-पट्टिका है जिसके ऊपर एक प्रक्षिप्त कलश है। सबसे ऊपर की पंक्ति में ऊपर की सज्जा-पट्टियाँ भरणी के समान प्रयुक्त की गयी हैं जिसमें ग्रामलक तथा धारीदार पद्म सम्मिलित हैं। इसके ऊपर कपोत पर सज्जा-पट्टियों की दो पंक्तियाँ हैं जिनमें से ऊपर की पट्टी एक सुस्पष्ट अंतराल द्वारा शिखर से पृथक् की गयी है।

इस मंदिर का शिखर सप्तरथ है। वह षोडश-भद्र है, जो भूमि-ग्रामलकों से प्रकट है। प्रत्येक ग्रामलक के ऊपर कपोत है। कर्ण-रथों में एक खड़ी पट्टी है। इस पूरी पट्टी में चैत्य ग्राले हैं जिनमें से निचले में एक हीरक-गोटा है। सभी रथ-शिखर मुख्य परिधि-रेखा से ग्रागे निकले हुए हैं। मध्यवर्ती एवं पार्श्ववर्ती रथों के ऊपर क्रमशः कीर्तिमुख एव ग्रर्ध-कीर्तिमुख बने हुए हैं। कर्ण-रथों के ऊपर एक लघु स्तूपाकार शिखर हैं जिसमें दो पीढ़े, चंद्रिकाएँ तथा ग्रामलक है। इस परिधि के ऊपर एक बड़े ग्राकार का धारीदार ग्रामलक, दो चंद्रिकाएं, एक छोटा ग्रामलक, चंद्रिका ग्रौर कलश हैं। कलश के ऊपर का ग्रंतिम पुष्पांकन हाल ही में जोड़ा गया जान पड़ता है।

ग्रंतराल की छत तीन ग्रालों की एक शृंखला से ग्राच्छादित दिखाई देती है। इनके ऊपर एक त्रिकोण-शीर्ष (उद्गम) है। इससे ऊपर की ग्रोर तीन क्रमिक स्तरों में शाला-शिखर हैं। हर स्तर के ऊपरी भाग को कमल-पंखुड़ियों से सजाया गया है ग्रौर उसके पार्श्वों को रत्न-पट्ट से। सामने से देखने पर हमें सात ग्रालों की एक सुस्पष्ट पंक्ति दिखाई देती है। बीच के ग्राले में एक खड़ी हुई यक्षी की ग्राकृति है तथा उसके पार्श्व के ग्रालों में सहायक देवी-देवताग्रों की ग्राकृतियाँ हैं। ग्रालों के ऊपर त्रिकोण-शीर्षों की तीन ग्रारोही पंक्तियाँ हैं जिनमें से सर्वोपरि पंक्ति सबसे ग्रधिक चौड़ी है तथा ग्रालों की संपूर्ण पंक्ति के ऊपर उठती जाती है। उसके ग्राधार के पार्श्व में प्रत्येक ग्रोर एक लघु स्तूपाकार शिखर है जिसमें चार पीढ़े, चंद्रिका ग्रौर ग्रामलक हैं। इसे हीरक-गोटों को प्रदर्शित करनेवाले एक ग्राले के ऊपर ले जाया गया है। सबसे ऊपर के त्रिकोण-शीर्ष मे चैत्य-तोरणों की तीन पंक्तियाँ है। नीचे की दो पंक्तियाँ, जिनमें केवल उत्तरी ग्रर्ध-भाग ही शेष बचा है, केवल ग्रर्ध-तोरण ही प्रदर्शित करती हैं। इनमें से प्रत्येक पर तोरण-पाशों में मकर-मुख हैं। इनमें बीच में दो ग्रर्ध-स्तंभ भी हैं। ग्रर्ध-तोरणों की तीसरी पंक्ति के ऊपर एक तोरण है जिसके एक कीर्ति-मुख के मुख से तीन शृंखलाएँ लटकी हुई हैं। उनमें से बीच की शृंखला में एक घण्टिका है जिसके दोनों ग्रोर पार्श्व में कमल-कलिका है। शेष शृंखलाएँ उन मकरों के मुख तक जाती हैं जो ग्रर्ध-तोरणों की ऊपरी पक्ति में ग्रंकित है। सबसे ऊपर के पूर्ण तोरण के दोनों ग्रोर पार्श्व में पिछले पैरों पर खड़ा हुग्रा व्याल भी है, तथा उसपर एक चौकोर शिखांत है जिसके ऊपर एक ऐसे सिंह की ग्राकृति है जो एक हाथी पर झपट रहा है। इस ग्रंकन के साथ ही शुकनासिका समाप्त होती है। सिंह की ग्राकृति एक शिला पर टिकी हुई है जो शिखांत के ऊपर है। ग्रर्ध-तोरण के पार्श्व में भी स्तूपाकार शिखर-शीर्ष है जिसमें धारीदार चंद्रिका, ग्रामलक ग्रौर चंद्रिका है।

गर्भगृह का द्वार-मार्ग सात शाखाग्रोंवाला है। पहली शाखा का ग्रलकरण पत्र-लता द्वारा किया गया है तथा उसके पार्श्व में मंदार-माला है जिसने नीचे जाकर नागाकृतियों का रूप धारण कर लिया

है। आकृतियाँ अब विकृत हो गयी हैं। दूसरी ओर चौथी शाखाओं में गणों को नृत्य करते हुए या संगीत-वाद्य बजाते हुए चित्रित किया गया है। तीसरी शाखा पर, जिसका उपयोग स्तंभ-शाखा के रूप में किया गया है, आठ यक्षियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। ठीक दायें द्वार-पथ में नीचे से ऊपर की ओर निम्नलिखित का अंकन किया गया है : (१) चतुर्भुजी देवी जिसका एक हाथ अभय अभय-मुद्रा में है और अन्य हाथों में कुण्डलित कमलनाल, जलकुंभ है, वाहन नहीं है।(२)चतुर्भुजी देवी जो एक वस्तु(अब लुप्त) स्रुवा, पुस्तक और फल लिये हुए है। नीचे हिरण-जैसे वाहन का अंकन है। (३) चतुर्भुजी देवी जिसका हाथ अभय-मुद्रा में है और जो पाश, कुण्डलित कमलनाल और एक पदार्थ (अब लुप्त) लिये हुए है तथा पक्षी-वाहन पर आरूढ़ है। (४) चतुर्भुजी देवी जिसका हाथ अभय-मुद्रा में है और जो स्रुवा, पुस्तक और जलकुंभ लिये हुए है। उसका वृषभ-वाहन नीचे अंकित है। ठीक बायें द्वार-पथ में नीचे से ऊपर की ओर निम्नलिखित का अकंन किया गया है : (१) चतुर्भुजी देवी जिसके दो अवशिष्ट हाथों में कुण्डलित कमलनाल और शंख हैं, नीचे मकर-वाहन अंकित है। (२) चतुर्भुजी देवी जिसके सभी चिह्न टूट गये हैं किन्तु शुक-वाहन पूरा का पूरा सुरक्षित है। (३) चतुर्भुजी देवी जो तीन अवशिष्ट हाथों में कुंतल कमलनाल, पुस्तक और एक फल लिये हुए है, उसके पशु-वाहन का सिर अब नहीं है। और अंत में,(४)चतुर्भुजी देवी है जिसका हाथ अभय-मुद्रा में है और जो कुतल कमलनाल, पुस्तक और जलकुंभ लिये हुए है; नीचे वृषभ-वाहन का अकन है। पाँचवीं शाखा का अलकरण पारी-पारी से श्रीवत्स के अंकन और पुष्छगुच्छ-रचना द्वारा हुआ है। छठी शाखा का, जो द्वार-मार्ग का प्रवणित वेष्टन है, अलंकरण नीचे अंकित एक व्याल के मुख से निकली एवं स्थूल रूप से उकेरी गयी पत्र-लताओं द्वारा किया गया है। अंतिम या सातवीं शाखा का अलंकरण एक विशेष प्रकार की वर्तुलाकर गुच्छ-रचना द्वारा किया गया है। प्रथम शाखा और पार्श्व की मंदार-माला सरदल तक ले जायी गयी है। द्वार-मार्ग का सरदल स्तभ-शाखाओं पर टिका हुआ है जिनके आलों में पाँच देवियों की प्रतिमाएँ अंकित है। बीच के और अंतिम आलों में आसीन देवियाँ चित्रित है; इनमें से प्रत्येक चतुर्भुज भूत पर अवलंबित है। बीच के आले के पार्श्वों में स्थित आलों में देवियों की खड़ी हुई मूर्तियाँ हैं। बीच के आले में चतुर्भुजी चक्रेश्वरी अंकित है जिसका हाथ अभय-मुद्रा में है और वह गदा, पुस्तक और शंख लिये हुए है। वह गरुड़ पर आसीन है और किरीट-मुकुट पहने हुए है। ठीक दाहिने छोर के आले में अंबिका यक्षी की मूर्ति है जो आम्र-गुच्छ, कुंतल कमलनाल, कुंतल कमल-नाल सहित पुस्तक और एक बालक को लिये हुए है; वह सिंह पर आरूढ़ है। ठीक बायें सिरे के आले में पद्मावती यक्षी है जो सर्प-फणावली के नीचे एक कच्छप पर आसीन है। उसका हाथ अभय-मुद्रा में है और वह पाश, कमल-कलिका और जल-कुंभ लिये हुए है। सरदल के पाँचों आलों के ऊपर उद्गम है। द्वार-मार्ग के आधार पर गंगा और यमुना अंकित हैं जिनके प्रत्येक ओर स्त्री-सेविकाएँ हैं। द्वार-पक्ष पर अंकित सेवक एक दूसरे के सामने अंकित हैं तथा उनके पास जल-कुंभ है। दाहिनी आकृति के पीछे मकर चित्रित है तो बायीं आकृति के पीछे कच्छप। नदी-देवियों और उनकी सेविकाओं की आकृतियाँ बुरी तरह विकृत हो गयी हैं। यही हाल उन चार द्वारपालों का हुआ है जो दोनों ओर दो-दो बने हुए हैं। ये द्वारपाल क्रमशः द्वार-मार्ग के वेष्टन तथा द्वार-मार्ग के पार्श्व के अर्ध-स्तंभों के नीचे बने हुए हैं। देहरी के ऋजुरेखीय केंद्रीय

प्रक्षेप पर एक सुंदर कमल-लता बनी हुई है जिसके पार्श्व में सेविकाएँ अंकित हैं। सेविकाओं के परे परंपरागत चार जल-देवता हैं। उनमें से प्रत्येक के पास जल-कुंभ है और वह करि-मकर पर आसीन है। स्तंभ-शाखाओं के नीचे के आलों मे चतुर्भुजी श्रीदेवी की, तथा पद्मासन में बैठी हुई एवं अपने ऊपरी अवशिष्ट दाहिने हाथ में कमल-कलिका धारण किये हुए चतुर्भुजी लक्ष्मी की आकृति है जिसके आसन के नीचे कच्छप है। सातवी शाखा के नीचे के आलों मे कुबेर की मूर्तियाँ अंकित हे जिनका एक हाथ अभय-मुद्रा में है और अन्य हाथों में वे परशु, कुंतल कमलनाल और एक भग्न वस्तु लिये हुए है। उसके आसन के नीचे तीन घट अंकित हैं जो निधियों के प्रतीक हैं।

गर्भगृह के द्वार-मार्ग के पार्श्ववर्ती अर्ध-स्तंभ चौकोर हे। वे एक ऐसे उपपीठ पर बने हुए हें जिसका अलंकरण वर्तुलाकार गुच्छ-रचना एवं कमल-पंखुड़ियों से किया गया है। इनके ऊपर एक अलंकृत आधार (कुंभिका) है जिसमें खुर, उद्गम से सज्जित कुंभ, कलश और कपोत-युक्त सज्जा-पट्टियाँ हैं। स्तंभावली के निचले भाग में चतुर्भुजी द्वारपाल की मूर्ति है। उसके बीच के भाग का अलंकरण निम्नलिखित से किया गया है : (१) कीर्तिमुख के मुख से निकलनेवाली लहरदार पत्र-लताएं, (२) हीरक-आकृतियाँ, (३) घट-पल्लव। इससे ऊपर एक प्रक्षिप्त पट्टिका है जिसके ऊपर एक उच्चालक खण्ड है जिसमें घट-पल्लव अंकित है। ऊपर के स्तंभ-शीर्ष पर आमलक और पद्म द्वारा अलंकृति की गयी है। स्तभ-शीर्ष पर भूत-टोडे टिके हुए है जिनपर कोनों में भक्ति-विभोर नाग बने हैं। टोडे सरदलों को सहारा देते है जिनके तीन खसकों का अलंकरण निम्नलिखित से किया गया है : (१) सोलह मंगल-प्रतीक जिन्हें गर्भ-धारण के समय महावीर की माता ने स्वप्न में देखा था, (२) वर्तुलाकार गुच्छ-रचना जो पारी-क्रम से हीरक-आकृतियों के साथ बनायी गयी है, और (३) ग्रास-पट्टिका। सरदलों के ऊपर की अधिरचना इस समय उपलब्ध नहीं है और उसका जीर्णो-द्धार हाल ही में चूना-पलस्तर द्वारा किया गया है।

गर्भगृह जिन अर्ध-स्तंभों पर टिका हुआ है उसमें आयताकार सादी स्तंभावली है। जो भी हो, स्तंभावलियों के ऊपरी और निचले भागों में बीच के अर्ध-स्तंभों पर घट-पल्लव अंकित हैं। ये स्तंभावलियाँ सामान्य रूपरेखा के उपपीठ और कुंभिका पर टिकी हुई हैं। इन सभी अर्द्ध-स्तंभों पर स्तभ-शीर्ष है जिनके ऊपर एक पट्टिका है जिसपर बेल-बूटे अंकित हैं। बीच के अर्ध-स्तंभों पर भूत-टोडे हैं। पिछले अर्ध-स्तंभ सादी वक्र-रेखा-युक्त है, जिनके ऊपरी भाग पर वलय है। सरदल सादा है, उसके दो खसके हैं और वह एक कपोत को सहारा देता है जिसपर एक समतल छत है, जिसका अलंकरण एक बड़े कमल-पुष्प द्वारा किया गया है। इस पुष्प की एक चौकोर खण्ड में आवृत उकेरी गयी संकेंद्री पंखुड़ियों की चार पत्तियाँ हे। इस खण्ड के कोने कीर्तिमुखों से अलंकृत हैं। गर्भगृह की पूर्वी भीतरी छत समतल और सादी है।

इस मंदिर में आदिनाथ की प्राचीन प्रतिमा के स्थान पर आदिनाथ की एक नयी मूर्ति प्रति-ष्ठित है। प्राचीन प्रतिमा की केवल चौकी ही शेष रह पायी है। यह मंदिर आदिनाथ का ही था

यह तथ्य इस बात से प्रमाणित होता है कि गर्भगृह के द्वार-मार्ग के सरदल पर यक्षी चक्रेश्वरी की मूर्ति अंकित है।

अंतराल के ऊपर शुकनासिका के उत्तरी और दक्षिणी अग्र-भागों में से प्रत्येक पर तीन-तीन आले बने हैं जिनमें देवी की आकृतियाँ हैं। ये तीन आले और अंतराल के दो आले मिलकर उत्तरी और दक्षिणी दोनों अग्र-भागों के पाँच आलों की एक खड़ी पंक्ति का निर्माण करते हैं। शुकनासिका के पूर्वी या अग्र-भाग पर सात आलों की एक आड़ी पंक्ति है जिनमें देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ हैं।

अधिकांश आलों में यक्षियों की प्रतिमाएँ हैं क्योंकि उन सभी के शीर्ष पर पद्मासन में तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं। सामान्यतया यक्षियों की आठ भुजाएँ अंकित की गयी हैं और उनके साथ ही उनके वाहन भी दर्शाये गये हैं किन्तु उनमें से अधिकांश के हाथ और अन्य लक्षण विकृत हो गये हैं। इन यक्षी-प्रतिमाओं का ठीक ढंग से परिरक्षण नहीं किया गया। यद्यपि उनके वाहन विद्यमान हैं, फिर भी उनकी पहचान कर पाना कठिन है, विशेषकर उस परिस्थिति में जबकि कोई क्रम नहीं अपनाया गया हो।

दिक्पालों तथा उनके अपने वाहनों का अंकन यथोचित स्थान पर प्रथम पंक्ति के कोनों में किया गया है। कुबेर का वाहन नहीं है। निर्ऋति की, जिसे प्रायः नग्न चित्रित किया जाता है, आकृति यहाँ प्रचलित वेशभूषा और अलंकारों से युक्त अन्य देवताओं की भाँति बनायी गयी है; एक श्वान को उसके वाहन के रूप में अंकित किया गया है।

दिक्पालों को अनिवार्य रूप से आच्छादित करनेवाले वृषभ-शीर्ष अष्टवसुओं को वृषभ वाहन से युक्त चित्रित किया गया है। उनके हाथ वरद-मुद्रा में हैं और वे कुंतल कमल-नाल एवं कुंतल कमलनाल सहित जलकुंभ लिये हुए हैं। दूसरे प्रकार के अंकन में एक हाथ वरद-मुद्रा में है तथा अन्य हाथ में परशु, कुंतल कमलनाल और जलकुंभ है।

चंदेलयुगीन कला

खजुराहो के अन्य मंदिरों के समान जैन मंदिरों की मूर्तिकला को पाँच मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में आराध्य मूर्तियाँ हैं जो लगभग चारों ओर कोरकर बनायी गयी हैं। वे रीतिबद्ध हैं और आसीन या समभंग-रूप में खड़ी होती हैं। इनकी प्रभावली विशाल है तथा इनके पीछे सज्जा-पट्ट है जिसका अलंकरण परिकर देवी-देवताओं की आकृतियों के द्वारा किया गया है (चित्र १७३)। क्योंकि ये प्रतिमाएँ धार्मिक ग्रंथों द्वारा प्रतिपादित नियमों, सूत्रों तथा विहित अनुपातों, चिह्नों और लक्षणों का पूर्णरूपेण पालन करते हुए बनायी गयी हैं इसलिए इनका सौंदर्यात्मक पक्ष उपेक्षित-सा रहा है।

दूसरे वर्ग की मूर्तियाँ विद्यादेवियों, शासन-देवताओं (यक्षों तथा यक्षियों), अन्य देवी-देवताओं तथा आवरण-देवताओं की हैं (चित्र १७४ क, ख, और १७५)। वे आलों में अंकित हैं या उनकी आकृतियाँ मंदिर की दीवारों के साथ हैं। वे या तो उकेरकर बनायी गयी हैं या पूर्ण अथवा मध्यम उद्भृति के रूप में हैं। देवताओं, जिनमें दिक्पाल भी हैं, की ये आकृतियाँ कम रीतिबद्ध हैं एवं अधिक स्वतंत्रतापूर्वक बनायी गयी हैं। सामान्यतया वे त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी हैं या ललितासन में आसीन हैं। मानव-आकृतियों से भिन्न रूप में उनकी पहचान उनके विशिष्ट शिरोभूषा (जटा, किरीट या करण्ड-मुकुट) या उनके वाहन या विशेष चिह्नों, जिन्हें वे सामान्यतः अपने दो से अधिक हाथों में धारण करते हैं, से होती है। अधिकतर देवता भी वही वेश धारण किये हुए हैं और वे ही अलंकार पहने हैं जो कि मानव-आकृतियाँ। मानवों से अलग उनकी पहचान उनके वक्षस्थल पर हीरक (यह चिह्न वैसा ही है जैसा कि विष्णु के वक्षस्थल पर कौस्तुभ-मणि और तीर्थंकर की प्रतिमाओं पर श्रीवत्स-लांछन या चिह्न) तथा एक लंबी माला से होती है, जो विष्णु की वैजयंती माला से मिलती-जुलती है। ये चिह्न खजुराहो के देवताओं के परिचय-चिह्न हैं।

तीसरी श्रेणी में वे अप्सराएँ और सुर-सुंदरियाँ आती हैं (चित्र १७६) जिनकी सबसे सुंदर और सर्वाधिक मूर्तियाँ या तो उकेरकर या पूर्ण या मध्यम उद्भृति के रूप में, जंघा पर के छोटे आलों में तथा स्तंभों पर या भीतरी छत के टोडों पर या मंदिर के भीतरी भाग के अर्ध-स्तंभों के बीच के अंतरालों पर बनायी गयी हैं। सुर-सुंदरियों को सर्वत्र सुंदर और पूर्णयौवना अप्सराओं के रूप में अंकित किया गया है। वे सुंदरतम रत्न और वस्त्र धारण किये हुए हैं एवं लुभावने हाव-भाव तथा सौंदर्य से युक्त हैं। अप्सराओं के रूप में उन्हें अंजलि-मुद्रा में या अन्य किसी मुद्रा में दर्शाया गया है, या देवताओं को चढ़ाने के लिए कमल-पुष्प, दर्पण, जलकुंभ, वस्त्रालंकार, आभूषण आदि ले जाते हुए अंकित किया गया है। किन्तु इन मुद्राओं से भी अधिक उन्हें मानवीय चित्त-वृत्तियों, संवेगों तथा क्रिया-कलापों में प्रस्तुत किया गया है और प्रायः उन्हें पारंपरिक नायिकाओं से भिन्न रूप में पहचान पाना कठिन होता है। इस प्रकार की अप्सराएँ वस्त्र उतारती हुई, जमुहाई लेती हुई, पीठ खुजलाती हुई, अपने स्तनों को छूती हुई, अपने गीले बालों से पानी निचोड़ती हुई, काँटा निकालती हुई, बच्चे को खेलाती हुई, तोतों और बंदरों जैसे पालतू प्राणियों से खेलती हुई, पत्र लिखती हुई, वीणा या बंशी बजाती हुई, दीवारों पर चित्र बनाती हुई या अनेक प्रकार से अपने को सजाती हुई (पैरों में आलता या आँखों में काजल आदि लगाती हुई) दर्शायी गयी हैं।

चौथी श्रेणी में वे लौकिक मूर्तियाँ आती हैं जो जीवन के विविध वर्ग से संबंधित हैं। इनमें घरेलू जीवन के दृश्य, जैसे गुरु और शिष्य, नर्तकियाँ और संगीतकार, तथा अत्यल्प मात्रा में कामुक जोड़ों का समूह सम्मिलित है।

पाँचवीं या अंतिम श्रेणी में पशुओं की आकृतियाँ आती हैं। इनमें व्याल (चित्र १७६) सम्मिलित है जो एक वैतालिक और पौराणिक पशु है। वह मुख्य रूप से सींगोंवाला सिंह है, जिसकी पीठ पर एक मानव सवार है एवं एक प्रतिपक्षी योद्धा उसपर पीछे से आक्रमण कर रहा है। इस मूलभूत

प्रकार की अनेक आकृतियाँ आदिनाथ-मंदिर में हैं जिनमें इनके सिर हाथी, मनुष्य, तोता, भालू, आदि के हैं। व्याल की आकृति सामान्यतया जंघा के कटावों में बनायी गयी है किन्तु वह शुकनासिका और भीतरी भाग में भी दृष्टिगोचर होती है। अप्सराओं की भाँति, वह सर्वाधिक विशिष्ट एवं लोकप्रिय मूर्ति-विषय है और उसका बड़ा गहरा प्रतीकार्थ है।

खजुराहो की जैन मूर्तिकला ने प्राचीन परंपरा से बहुत कुछ ग्रहण किया है किन्तु वह मुख्य रूप से मध्ययुगीन है। क्योंकि खजुराहो मध्य-भारत के बीचों-बीच स्थित है, जिसपर पूर्व और पश्चिम की कला का प्रभाव पड़ा है, इस कारण खजुराहो की मूर्ति-कला में पूर्व की संवेदनशीलता तथा पश्चिम की अधीरतापूर्ण किन्तु मृदुलताहीन कला का सुखद संयोजन है। यद्यपि इस कला की तुलना भव्यता, अनुभूति की गहनता एवं कलाकार के आंतरिक अनुभव की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखते हुए गुप्तकालीन कला की उत्कृष्टता से नहीं की जा सकती, तथापि उसमें मानवीय सजीवता का आश्चर्यकारी स्पंदन है। इन मूर्तियों की विशालता एवं स्पंदनशीलता से हम चकित रह जाते हैं। लगता है कि वे दीवार की सतह से पूर्णाकृतियों में या पूर्ण उभार में मूर्ति-सौंदर्य के मनोहर गीत की भाँति हमारे समक्ष उतर आती हैं।

मूर्ति-निर्माण में यहाँ साधारणतः उस गति की कमी है जो पूर्व-मध्य युग की मूर्तियों की विशेषता है। वैसे कल्पक आयाम तो पर्याप्त हैं किन्तु रूढ़िबद्ध हैं, जो यह सूचित करता है कि कल्पक दृष्टि क्षीण हो गयी है। पूर्णतः उकेरी गयी और मूर्ति को रूप देनेवाली कल्पकता का स्थान तीक्ष्ण उपांतों और तीक्ष्ण कोणों ने ले लिया है; एवं अनुप्रस्थों, ऊर्ध्वाधर रेखाओं और कर्णों पर बल दिया गया है। फिर भी यह कला अपने समसामयिक कला-शैलियों से मानवीय मनोभावों और अभिरुचियों के सजीव अंकन में अधिक उत्कृष्ट है। इनकी अभिव्यक्ति प्रायः इंगितों तथा आकुचनों के माध्यम से सूक्ष्म किन्तु उद्देश्यपूर्ण ऐंद्रिक उद्दीपना के द्वारा की गयी है। भाव-विलासपूर्ण सुकुमारता तथा मुक्त कामोद्दीपक हाव-भाव इसका मुख्य स्वर है, और यही बात इस कला को समसामयिक अन्य कला-शैलियों से पृथक् करती है।

परमार प्रदेश — ऊन

मालवा के मध्य भाग में स्थित ऊन, जो पश्चिम निमाड़ जिले में है, स्थापत्य की परमार-शैली का एक प्रसिद्ध केंद्र है। बारहवीं शताब्दी में इस नगर में कुमारपाल-चरण की एक सुंदर चालुक्य-शैली में जैन मंदिर का निर्माण किया गया था। यह मंदिर, जो स्थानीय रूप से चौबारा-डेरा-२ के रूप में प्रसिद्ध है, नगर के उत्तरी छोर पर एक प्राकृतिक पहाड़ी पर स्थित है। मंदिर का मुख उत्तर की ओर है और उसकी संयोजना में गर्भगृह, अंतराल, गूढ़-मण्डप, जो पार्श्विक अर्ध-मण्डपों से युक्त है, त्रिक्-मण्डप और मुख-चतुष्की सम्मिलित हैं। गूढ़-मण्डप में चार द्वार-मार्ग हैं जिनमें से दो पार्श्विक द्वार-मार्ग एक-एक अर्ध-मण्डप में खुलते हैं।

जगती की सज्जा-पट्टियाँ अब नष्ट हो चुकी हैं। उपपीठ में दो अलंकृत सज्जा-पट्टियाँ, जो दो सादी पट्टियों पर टिकी है, सम्मिलित हैं और सामान्य पीठ को आधार प्रदान करती हैं। इस पीठ में जाड्यकुंभ, कर्णिका और ग्रास-पट्टी की सज्जा-पट्टियाँ हे जिनके ऊपर गजथर और नरथर बने हुए हैं। नरथर में अनेक प्रकार की कथाएँ चित्रित हैं जो पौराणिक एवं लौकिक हैं। इन कथाओं में समुद्र-मंथन, युद्ध, नृत्य-संगीत एवं कामुक-युगलों के दृश्य हे। नरथर जगती के स्तर को सूचित करता है तथा वह वेदी-बंध की अलंकृत सज्जा-पट्टियों को आधार प्रदान करता है, जिनके ऊपर मंचिका, जंघा, उद्गम, भरणी, कपोत और कूट-छाद्य निर्मित हैं। ये सब चौलुक्य-शैली के कुमारपाल-चरण की विशेषताएँ हे। वेदी-बध की कुंभ-सज्जा-पट्टी का अलंकरण आलों द्वारा किया गया है, जिनमें जैन यक्षियों तथा विद्यादेवियों की आकृतियाँ हे।

गर्भगृह के ऊपर का शिखर, जो कूट-छाद्य के ऊपर बना हुआ था, अब नष्ट हो चुका है किन्तु उसके खण्डित अवशेषों से यह स्पष्ट है कि वह बारहवी शताब्दी की चौलुक्य-शैली का था।

गर्भगृह की योजना पंचरथ है। उसके केंद्रीय रथ के तीन मुख हैं तथा शेष के केवल दो ही। जंघा-प्रक्षेपों के सभी मुखों का अलकरण आकृतियों द्वारा किया गया था। केंद्रीय प्रक्षेप के दोनों ओर स्पष्टतः एक-एक आला है जिसमें किसी समय जैन देवताओं की मूर्तियाँ थी, पर जो अब उपलब्ध नही हैं। कोने के रथों में दिक्पालों की मूर्तियाँ अंकित हैं। अन्य शेष रथों का अलंकरण जैन देवताओं या अप्सराओं की मूर्तियों द्वारा किया गया है। अप्सराओं में मरोड़ और आकुंचन देखने को मिलते हे जो बारहवी शताब्दी की अपनी विशेषता है।

मंदिर में प्रवेश तीन अर्ध-मण्डपों से होकर है। सभी अर्ध-मण्डप एक जैसे थे और वे चार अलंकृत स्तंभों पर टिके हुए थे। इनकी छत पर नाभिच्छंद-प्रकार का क्षिप्त-वितान था। मंदिर में प्रवेश के लिए उत्तरी मण्डप ही प्रमुख मार्ग था।

त्रिक-मण्डप मे छह स्तंभ और इतने ही अर्ध-स्तंभ हैं। चार स्तंभ अर्ध-मण्डप के स्तंभों-जैसे हैं। त्रिक-मण्डप के शेष दो स्तंभों का अलंकरण ऊपरी अष्टकोणीय खण्ड के मूर्तियुक्त आलों द्वारा किया गया है जो गुजरात के कुछ विकसित मंदिरों की विशेषता है।

गूढ-मण्डप बहुत बड़ा अष्टकोणीय है। यह आठ स्तंभों पर टिका हुआ है। इन स्तंभों पर वर्तुलाकार भीतरी छत, क्षिप्त-वितान है जो सभा-मार्ग-प्रकार का है और एक स्पष्ट पद्मशिला में परिणत होता है। भीतरी छत के निचले भाग से सोलह भूत प्रक्षिप्त हैं, जिनसे संभवतः उन सोलह विद्यादेवियों को आधार मिलता रहा होगा जो अब उपलब्ध नहीं हैं।

गूढ़-मण्डप के चारों द्वार-मार्ग पंचशाखा-प्रकार के है। इनपर पत्र-लता, स्तंभ-शाखा, हीरक और पाटल-रचना तथा पद्म-पत्र-लता उत्कीर्ण हैं। तोरण-सज्जा में पाँच आले हैं जिनमें जैन यक्षियों की

आकृतियाँ हैं। गर्भगृह का द्वार-मार्ग गूढ़-मण्डप के द्वार-मार्ग से अंकन में विशेष रूप से पूर्णत: मिलता-जुलता है। गर्भगृह छोटा एवं सादा है जिसका नाप २.४४ मीटर-वर्ग है। उसपर एक कदलिका-युक्त भीतरी सादी छत है। विक्रम संवत् १२४२ (११८५ ई०) की शांतिनाथ की प्रतिमा, जो गर्भगृह में प्रतिष्ठित मूलनायक की प्रतिमा थी, अब इदौर संग्रहालय में है। गर्भगृह में अब केवल उसकी चौकी ही अवशिष्ट है।

एक दूसरा जैन मंदिर जिसे स्थानीय रूप से ग्वालेश्वर कहा जाता है, ऊपर वर्णित चौबारा डेरा-२ मंदिर से अपनी योजना में लगभग समान ही है। इस मंदिर का यथेष्ट जीर्णोद्धार किया गया है और यहाँ अब भी पूजा होती है। उसका नागर-शिखर कुछ सुरक्षित है तथा अब भी देखा जा सकता है।

शैली की दृष्टि से ऊन स्थित दोनों ही जैन मंदिर बारहवीं शताब्दी के हैं। जहाँ एक ओर चौबारा डेरा-२ कुमारपाल-चरण की चौलुक्य-शैली का है वहीं दूसरी ओर ग्वालेश्वर-मंदिर में स्थापत्य की परमार तथा चौलुक्य दोनों ही शैलियों का मिश्रण है।

कलचुरि क्षेत्र—आरंग

चंदेलों तथा परमारों की ही भाँति, कलचुरि या चेदि भी ब्राह्मण्य संप्रदायों के अनुयायी थे। फिर भी, वे जैन धर्म को उदार सरक्षण प्रदान करते थे क्योंकि उनकी प्रजा का एक प्रभावशाली वर्ग जैन धर्मावलंबी था। मध्य भारत के अन्य प्रदेशों की भाँति, महाकोसल में भी जैन मूर्तियों एव मंदिरों के विस्तृत अवशेष पाये जाते हैं जो कला और स्थापत्य की चेदि-शैली की उत्कृष्टता के समभागी हैं। जबलपुर जिले में दसवीं से बारहवीं शताब्दियों की अनेक तीर्थंकर-प्रतिमाएं पायी गयी हैं। तेवर (त्रिपुरी) का स्थल, जो चेदि-राजधानी था, कुछ उत्कृष्ट तीर्थंकर-प्रतिमाओं के लिए विशेष रूप से विख्यात है। शहडोल जिले के सोहागपुर में या उसके आसपास जैन मंदिर विद्यमान थे—इस तथ्य की पुष्टि सोहागपुर[1] स्थित ठाकुर के महल में संगृहीत अनेक जैन मूर्तियों से होती है जिनमें शासन-देवताओं की मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं। महाकोसल के सिरपुर, मलहार, धनपुर, रतनपुर और पदमपुर से भी तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

रायपुर जिले में स्थित आरंग जैन कला और स्थापत्य का एक प्रसिद्ध केंद्र था। वहाँ लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों की अनेक जैन प्रतिमाएँ बिखरी मिली हैं और भग्नावस्था में एक जैन मंदिर भी मिला है जो कि भाण्ड-देवल के नाम से विख्यात है (चित्र १७७)। इसकी तिथि ग्यारहवीं शताब्दी निर्धारित की जा सकती है। यह मंदिर भूमिज-देवालय का सर्वाधिक पूर्वीय उदाहरण है तथा

1 बैनर्जी (आर डी) हैहयज् ऑफ़ त्रिपुरी एण्ड देयर मौन्युमेण्ट्स, मेमायर्स ऑफ़ दि आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, 23. 1931. कलकत्ता. पृ 100 तथा चित्र 41.

प्रादेशिक कलचुरि-शैली में स्थापत्य के भूमिज-प्रकार को रूप देने के लिए महत्त्वपूर्ण है। मंदिर का मुख पश्चिम की ओर है और अब उसका केवल गर्भगृह ही सुरक्षित बचा है जिसके आगे संकीर्ण अंतराल है। अब उसके मण्डप या मुख-मण्डप के अवशेष नहीं बचे हैं। योजना में गर्भगृह तारकाकृति है। उसके छह भद्र (खसके) हैं, जो कुछ अपवाद जैसा है। उसपर तीन आड़ी पंक्तियोंवाला पाँच तलों का भूमिज-शिखर है। गर्भगृह एक ऊँचे पीठ पर स्थित है तथा उसमें गजथर, अश्वथर और नरथर दृष्टिगोचर होते हैं जिनके ऊपर जाड्यकुंभ, कर्णिका एवं ग्रास-पट्टी की सज्जा-पट्टियाँ हैं। पीठ से ऊपर के अधिष्ठान में सामान्य गोटे हैं किन्तु उन्हें बेल-बूटों तथा ज्यामितीय अंकनों से अत्यधिक अलंकृत किया गया है। कलश-गोटे का अलंकरण जैन देवी-देवताओं की आकृतियों से युक्त आलों द्वारा किया गया है। ऊपर की जंघा का विशेष अलकरण किया गया है और उसपर प्रक्षेपों तथा भीतर धँसे अंतरालों में मूर्तियों की दो पंक्तियाँ उत्कीर्ण है। प्रक्षेपों में देवी-देवताओं और अप्सराओं की आकृतियाँ है। अंतरालों में कामुक जोड़ों, व्यालों, अप्सराओं तथा विविध कथा-वस्तुओं का चित्रण है। जंघा के छहों अतरालों के मुख अग्र-भागों को, जो यथेष्ट चौड़े हैं, आलों से आच्छादित किया गया है जिनमें आसीन जैन दिव्य पुरुष अंकित हैं। इनमें नीचे की पंक्ति में कुछ यक्षियाँ या विद्यादेवियाँ अकित हैं तो ऊपर की पंक्ति में कुछ यक्ष। शिखर की सज्जा कुछ आलों द्वारा की गयी है जिनमें निचले भाग में आसीन यक्षियों या विद्यादेवियों की आकृतियाँ हैं और ऊपर के भाग में अलंकृतियों की दो तीन पंक्तियाँ हैं जिनमें तीर्थंकर-आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं। गर्भगृह कुछ निम्न स्तर पर है और उसमें शांतिनाथ, कुंथुनाथ तथा अरनाथ की काले पत्थर की तीन दिगंबर जैन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। उन्हें उनके अपने चिह्नों से पहचाना जा सकता है (चित्र १७८)। ग्यारहवी शताब्दी की कलचुरि-शैली की सर्वोत्तम परंपरा में उत्कीर्ण उन सजीव मूर्तियों की तुलना में, जो मदिर पर दिखाई देती हैं, तीर्थंकरों की ये प्रतिष्ठित मूर्तियाँ कठोर और निष्प्राण जान पड़ती हैं तथा स्पष्टत: ये एक या दो शताब्दी पश्चात् निर्मित की गयी है।

कृष्णदेव[1]

1 इस अध्याय में लेखक ने जैन स्मारकों के केवल तीन ही समूहों—खजुराहो, ऊन और आरंग—को अपने लेख का विषय बनाया है, यद्यपि उनसे यह अनुरोध किया गया था कि विवेच्य अवधि में वे पूरे मध्य भारत का अपने लेख मे समावेश करें।

दुर्भाग्य से उन्हे इस कमी को पूरा करने के लिए और अधिक समय दे सकना संभव नहीं हुआ, जैसा कि वे चाहते थे (उन्हे बहुत दिनों पूर्व सूचना दी गयी थी)। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह सर्वेक्षण बहुत-कुछ अधूरा रह गया है और इस क्षेत्र में उनके विस्तृत ज्ञान के लाभ से हम वंचित रह गये हैं।

यह ठीक है कि उक्त प्रदेश और अवधि के इस समय उपलब्ध जैन मंदिर संख्या में अधिक नहीं हैं, फिर भी उक्त प्रदेश और अवधि की अनेक जैन मूर्तियाँ समूह-रूप में या अलग-अलग सर्वत्र बिखरी पड़ी है। इन मूर्तियों

से यह तो अवश्य ही सूचित होता है कि वे जहाँ पायी गयी हैं वहाँ प्राप्ति-काल से भी पहले से वे विद्यमान रही है। इस प्रकार के अधिक महत्त्वपूर्ण केंद्र इतने अधिक है कि उनका विस्तार से वर्णन नहीं किया जा सकता। जो भी हो, कच्छपघात क्षेत्र में शिवपुरी का उल्लेख किया जा सकता है। वहाँ से प्राप्त मूर्तियों को एक संग्रहालय में एकत्र किया गया है, उसकी चर्चा तीसरे भाग में की जायेगी। उत्तर में ललितपुर जिले में चाँदपुर है जहाँ बहुत-सी मूर्तियाँ प्राप्त हैं; जिनमें से एक, नवग्रह-शिला, का चित्र यहाँ दिया गया है (चित्र 179)। टीकमगढ़ जिले में अहार में संगृहीत चक्रेश्वरी देवी की एक मूर्ति उसी क्षेत्र से प्राप्त अपने प्रकार की एक अनोखी मध्ययुगीन निधि है।

जिन मूर्तियों पर तिथि का निर्देश है उनमें जबलपुर जिले के बहुरी-बंद नामक स्थान की लगभग पाँच मीटर ऊँची तीर्थंकर शांतिनाथ की एक कायोत्सर्ग विशाल प्रतिमा है। यह मूर्ति कलचुरि शासक *गयाकर्ण* के शासनकाल की है और उसपर मंदिर में उसकी प्रतिष्ठा की तिथि का उल्लेख है। इस अवसर का उपयोग कलचुरि क्षेत्र के सिवानी जिले के लखनादोन नामक स्थान से प्राप्त तीर्थंकरों की दो मूर्तियों के चित्र (चित्र 181 क और ख) प्रकाशित करने के लिए किया जा रहा है। पश्चिम में कुछ और दूरी पर परमार प्रदेश में स्थित देवास जिले के गंधावल नामक स्थान से अन्य जैन प्रतिमाओं के साथ प्राप्त चक्रेश्वरी-मूर्ति का चित्र भी यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है (चित्र 182 क) यद्यपि वह कुछ काल पहले की हो सकती है; देखिए प्रथम भाग में पृष्ठ 177 एवं चित्र 98 ख।

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, केंद्रीय मण्डल, भोपाल के उपनिरीक्षक पुरातत्त्वविद् श्री बी० एल० नागार्च ने संपादक का ध्यान पूर्वी निमाड़ जिले के माधाता नामक स्थान से प्राप्त 14 सेण्टीमीटर ऊँची और हाल ही में प्राप्त एक पीतल की मूर्ति (चित्र 182 ख) की ओर आकर्षित किया है। एक आसनस्थ तीर्थंकर की केंद्रीय आकृति कोटर में नहीं है; अन्यथा विद्याधरों, एक यक्ष, एक पुरुष चमरधारी और श्रद्धालु नर-नारी से युक्त यह एक संपूर्ण मूर्ति है। उसके पृष्ठभाग पर विक्रम संवत् 1241 (1184 ई०) का एक अभिलेख है—संपादक.]

अध्याय 23

पश्चिम भारत

चौलुक्य-मंदिर[1]

चौलुक्य (सोलंकी) स्थापत्य उत्तर भारत को सबसे समृद्ध ऐसी प्रादेशिक शैली का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी अपनी स्पष्ट विशेषताएँ हैं। चौलुक्य वंश के शक्तिशाली शासकों के समृद्धिपूर्ण शासनकाल में पश्चिमी भारत में, मंदिर-निर्माण में सबसे अधिक प्रगति हुई क्योंकि इस चौलुक्य-शैली को इन शासकों का आश्रय प्राप्त था।

चौलुक्य-शैली के मंदिर में वे सभी आवश्यक अंग पाये जाते है जो किसी उत्तर-भारतीय मंदिर में देखने को मिलते हैं। उसके विन्यास में गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और मुख-मण्डप होते हैं जो बाहर और भीतर एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। इनकी सामने की दीवारों का तारतम्य अनेक ऐसे खाँचों या कटावों द्वारा ही टूटता है जो क्रम से बाहर निकले हुए या अंदर धँसे हुए होते हैं। इनके फलस्वरूप एक ऐसा चित्र-विचित्र रूपांकन हमारे सामने आता है जिसमें प्रकाश और छाया का अंतर दर्शाया गया है। कुछ बड़े मंदिरों में, उसी रेखा में, एक ऐसा सभा-मण्डप भी और जोड़ दिया गया होता है जिसके सम्मुख भाग में तोरण का निर्माण किया गया हो। ऐसे मंदिरों की संख्या बहुत कम है जिनमें सभा-मण्डप के एक से अधिक तल्ले हों। जहाँ तक रूप-योजना का प्रश्न है, चौलुक्य-शैली के मंदिर में पीठ, वेदी-बंध और जंघा—जिन्हें सामूहिक रूप से मण्डोवर, वरण्डिका और शिखर कहा जाता है—जैसे सभी सामान्य भाग पाये जाते हैं और ये सभी भाग, जिनमें सज्जा-वस्तुएँ तथा सजावटी अलंकरण सम्मिलित हैं, परंपरा द्वारा एक निश्चित क्रम में निर्मित किये गये होते हैं। इस शैली के एक विशिष्ट मंदिर में जाड्यकुंभ, कर्णिका और ग्रास-पट्टी के पीठ की सज्जा-वस्तुएँ ऐसे गजथर और नरथर द्वारा महत्त्वाभिलाषी संकल्पनाओं में आच्छादित हैं जिनके बीच अश्वथर का निर्माण किया गया होता है। पारंपरिक बेदी-बंध-सज्जा के ऊपर जंघा होती है जिसका अलंकरण बाहर निकली हुई देवी-देवताओं और अप्सराओं तथा भीतर की ओर बनायी गयी अप्सराओं, व्यालों या तपस्वियों की मूर्तियों के द्वारा किया गया है। जंघा की आच्छादनकारी सज्जा-वस्तुएँ एव अलकरण तथा वरण्डिका जिसमें उद्गम, भरणी, कपोत और पुष्प-कण्ठ सम्मिलित हैं, एक निश्चित नमूने के अनुरूप हैं। एक सुस्पष्ट कूट-

1 इस निबन्ध को लिखने में लेखक को श्री एम. ए. ढाकी से उदार सहायता प्राप्त हुई है.

छाद्य वरण्डिका को उस शिखर से पृथक् करती है जो अंकन में राजस्थानी मंदिरों की भाँति होता है। एक सुनिर्मित मदिर के मण्डप पर छत की एक ऐसी विभेदक रचना दिखाई देती है जिसे संवरण कहा जाता है और जिसकी स्तूपाकार रचना में कर्णवत् छोटी-छोटी छते होती हैं जिनके ऊपर घण्टे बने होते हैं।

चौलुक्य-मंदिर की भीतरी व्यवस्था में भी कुछ अपनी विशेषताएँ दिखाई देती हैं। उनके मण्डपों की बनावट परिस्तंभीय है और उनके स्तंभों पर एक निश्चित क्रमानुसार आकृतियों तथा अन्य सज्जा-रचना द्वारा विशेष अलंकरण किया गया है। मण्डपों में स्तंभों का एक अष्टकोणीय विन्यास दिखाई देता है और इनसे बड़ी सकलपनाओं में प्रमुख स्तंभों के आर-पार अलंकृत तोरणों की योजना की गयी है। मण्डप की गुंबदाकार छत का आधार ऐसी तोरण-सज्जा का एक अष्टकोणीय ढाँचा है जो स्तंभों पर टिकी है और जिसके कम होते जानेवाले सकेंद्रिक वलय अंत में जाकर एक अति सुंदर केंद्रीय लोलक (पद्मशिला) का निर्माण करते हैं।

मण्डप के वक्रभाग और मुख-मण्डप की सज्जा अलंकृत वेदिकाओं से की गयी है। इस प्रकार बाह्य सज्जा की दृष्टि से चौलुक्य-मंदिर सामान्यतः उत्तरी प्रदेशों के मंदिरों के समान है किन्तु अपने भीतरी भाग के प्रचुर अलंकरण और अत्यंत सुंदर बनावट में वे अद्वितीय हैं।

विकसित चौलुक्य-शैली के जैन मंदिर में एक गर्भगृह, पार्श्विक वक्रभाग-युक्त, एक गूढ़-मण्डप, छह या नौ चौकियोंवाला एक स्तंभ-युक्त मुख-मण्डप तथा सामने की ओर एक परिस्तंभीय नृत्य-मण्डप होते हैं। ये सब एक चतुष्कोण में होते हैं जिसके आसपास देवकुलिकाएं होती हैं, जिनके सामने भ्रमती के एक या कभी-कभी दो खण्डक होते हैं। स्तंभ-युक्त मुख-मण्डप का छह या नौ खण्डकों में विस्तार तथा उसके आसपास भ्रमती-युक्त देवकुलिकाओं का सम्मिलित किया जाना—ये दोनों ही परिकल्पनाएँ चौलुक्य-निर्माण-शैली में जैन धर्मावलंबियों का विशेष योगदान हैं।

इस बात के साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं कि गुजरात में आठवीं शताब्दी से ही जैन मंदिरों का निर्माण होता रहा है। कहा जाता है कि वनराज चापोत्कट ने वनराज-विहार नामक पंचसार-पार्श्वनाथ-मंदिर और उसके मंत्री निन्नय ने, जो विमल का पूर्वज था, एक ऋषभनाथ-मदिर पाटन अन्हिलवाड़ में विद्याधर गच्छ के लिए ७४२ ई० के कुछ ही समय बाद बनवाये थे। जो भी हो, इन मंदिरों के अवशेष नहीं मिलते।

पश्चिमी भारत में इस समय जो सबसे प्राचीन जैन मंदिर है, वह है दण्डनायक विमल द्वारा १०३२ ई० में आबू[1] पर बनवाया गया आदिनाथ का संगमरमर का प्रसिद्ध मंदिर, जो विमल-वसही के नाम से प्रसिद्ध है (चित्र १८३ से १८८)। यह एक संयोग की बात है कि वह चौलुक्य-शैली के प्राचीन

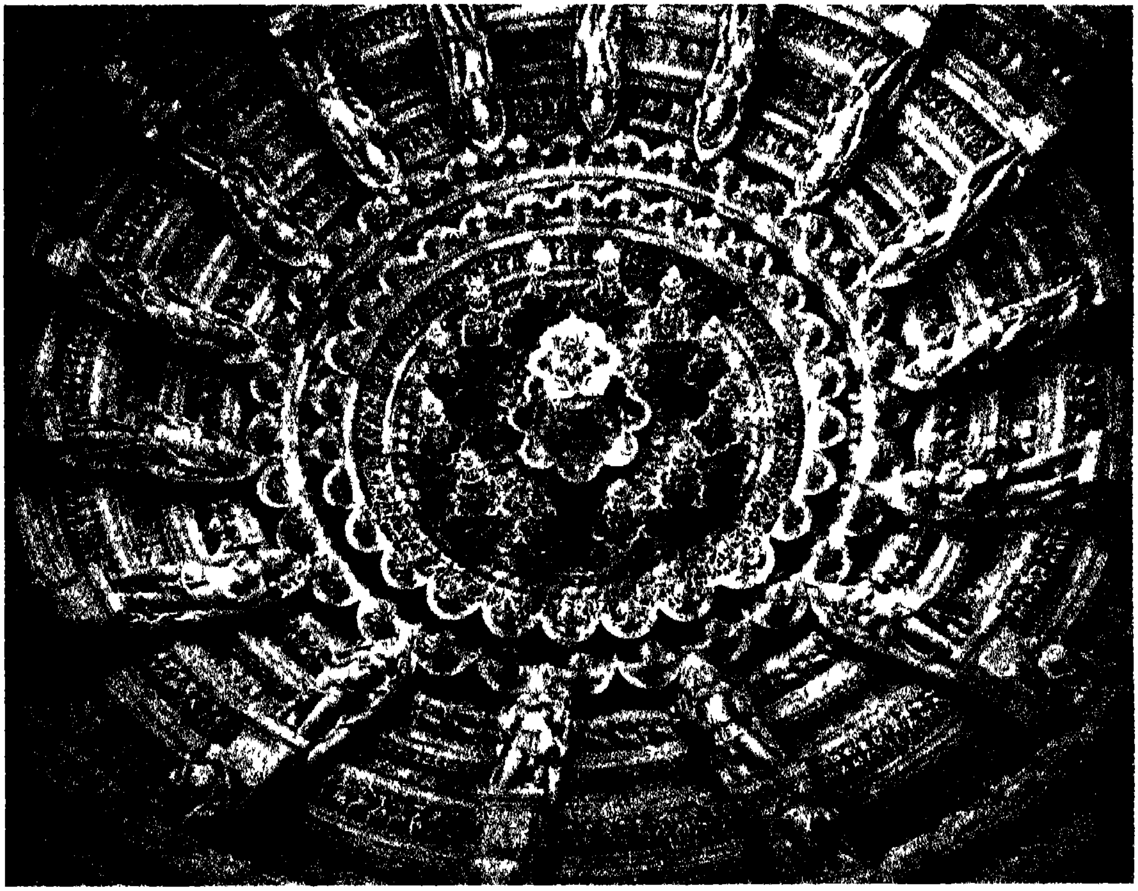
1 प्रशासन की दृष्टि से यद्यपि माउण्ट आबू अब राजस्थान में है तथापि मंदिर-स्थापत्य की दृष्टि से वह गुजरात का ही भाग है.

नमूनों में से एक है। केवल उसके गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और त्रिक-मण्डप (जिसे लोग नवचौकी कहते हैं) ही मूल भाग हैं। उसके शेष भाग बारहवीं शताब्दी में जोड़े गये हैं। उसके त्रिक-मण्डप का अन्यंत सुदर अलंकरण किया गया है। इस मण्डप के स्तंभ मोढेरा स्थित सूर्य-मंदिर से बहुत मिलते है। यही स्थिति उसकी क्षिप्त-प्रकार की एक छत की है। उसके दो खट्टक गुजरात में अपने ढंग के सबसे प्राचीन खट्टक हैं।

इसी शैली का एक और जैन मंदिर महावीर का सगमरमर-निर्मित मंदिर है जो १०६२ ई० में कुंभरिया (प्राचीन आरासण) में बनाया गया था जहाँ एक शैव मंदिर के अतिरिक्त चार अन्य जैन मंदिर भी विद्यमान हैं। एक विस्तृत जगती पर निर्मित इस मंदिर में हैं—गर्भगृह, गूढ़-मण्डप, त्रिक-मण्डप, रंग-मण्डप जिसके दोनों ओर आठ देवकुलिकाएँ हैं और जिसके सामने तीन देवलियाँ तथा एक वलाणक है। ये सब एक प्राकार के भीतर हैं। जगती के पूर्वी सिरे पर एक छोटे आकार के समवसरण की रचना है जिसपर सवरण-छत है। गर्भगृह के ऊपर इक्कीस अण्डकों का एक सुदर शिखर है। गूढ़-मण्डप संवरण-छत से युक्त है जो साण्डेर के शैव मंदिर से मिलती-जुलती है। मंदिर का भीतरी भाग बहुत सुदर ढंग से अलकृत है और अनुपात तथा संकल्पना-एकलन में आबू के विमल-मदिर से भी बढ़-चढ़कर है। त्रिक-मण्डप अपने अनुपात और सूक्ष्म सौदर्य के कारण बेजोड़ है। उस की दो केंद्रीय छते तो स्थापत्य की अनुपम कृतियाँ हे।

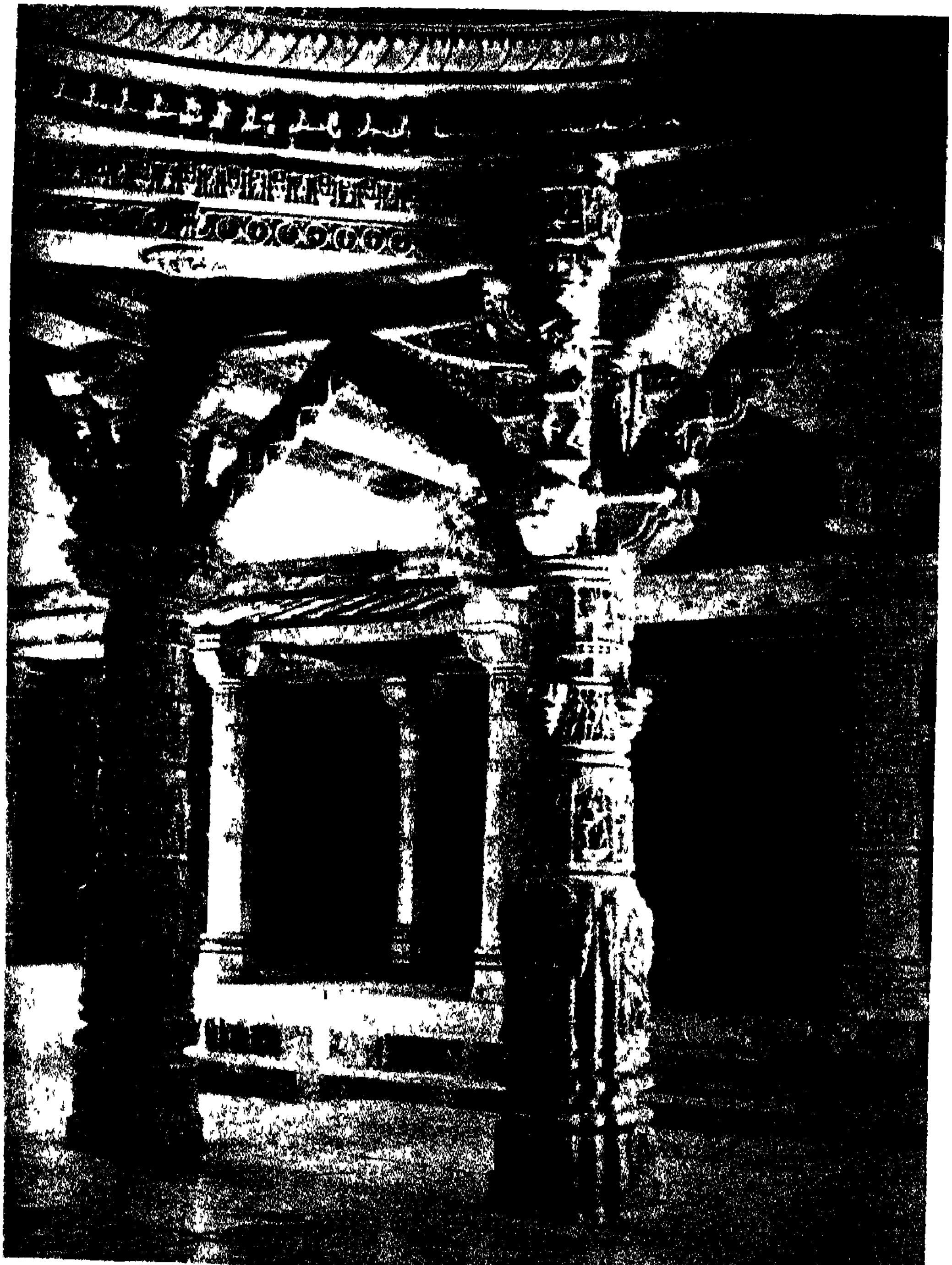
कुंभरिया स्थित शातिनाथ-मंदिर, जिसे लगभग १०८२ ई० का कहा जा सकता है, के विन्यास और रचना में कुछ फेर-बदल के साथ महावीर-मंदिर का अनुकरण किया गया है। यह एक संपूर्ण चतुर्विशति जिनालय है जिसमें पूर्व और पश्चिम, दोनों दिशाओं में आठ देवकुलिकाएँ हैं तथा रंग-मण्डप के प्रवेश-स्थल के दोनों ओर चार देवलियाँ हे। महावीर-मंदिर से इसमें अतर यह है कि उक्त मंदिर में त्रिक में तीन चतुष्कियाँ और एक प्राग्ग्रीव है जबकि इस मंदिर के त्रिक में छह चतुष्कियाँ हैं और इसके खट्टकों का बहुत सुदर अलंकरण किया गया है। जगती के दक्षिण-पश्चिमी कोने में एक छोटा पूजास्थल है जिसमें चतुर्मुख नदीश्वर-द्वीप की रचना है। गूढ़-मण्डप में महावीर के मदिर की अपेक्षा सादी संवरणा है और उसमें अवशेषी फाँसना के चिह्न भी नहीं हैं।

उक्त मंदिर से परवर्ती काल का कुंभरिया स्थित पार्श्वनाथ-मंदिर है जो कि सिद्धराज जय-सिंह (१०९४-११४४ ई०) के शासनकाल का है। यह महावीर और शांतिनाथ-मदिरों की अपेक्षा कुछ बड़ा है। इसका मुख भी उत्तर की ओर है तथा उसमें रंग-मण्डप के पूर्व और पश्चिम में नौ देवकुलिकाएं हे तथा इसी प्रकार प्रवेश-द्वार के दोनों ओर तीन देवकुलिकाएँ हैं। इस मदिर में सोपान-मार्ग के ऊपर एक नाल-मण्डप है, जो बाद में जोड़ा गया है। इसमें रंग-मण्डप और त्रिक-मण्डप तथा बीच की दो देवकुलिकाओं के सामने के स्तंभों को बड़ी उत्तमतापूर्वक अलंकृत किया गया है। त्रिक-मण्डप का विन्यास महावीर-मदिर जैसा ही है किन्तु उसके दो स्तंभ एक अति सुंदर तोरण को आधार देते हैं। इस मंदिर के सबसे प्राचीन शिलालेख के आधार पर इस मदिर का काल ११०५ ई० निर्धारित किया जा सकता है।



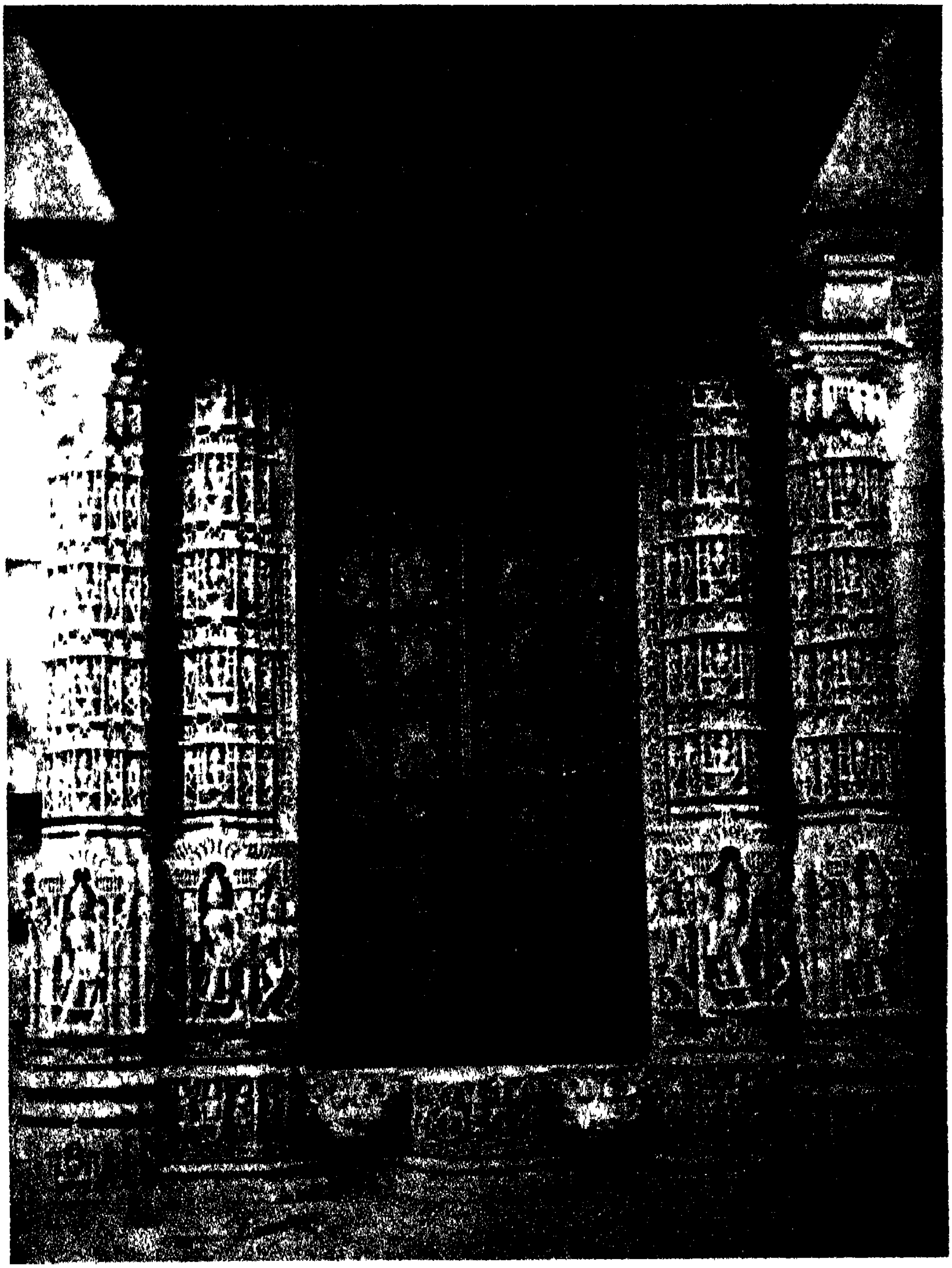
माउण्ट आबू -- विमल-वसही मंदिर रंग-मण्डप की छत

चित्र 183



माउण्ट आबू — विमल-वसही मंदिर, रंगमण्डप के स्तंभों पर तोरण

चित्र 184



माउण्ट ग्राबू — विमल-वसही मदिर का एक प्रवेशद्वार

चित्र 185



(क) माउण्ट आबू — विमल-वसही मंदिर, मुखमण्डप की छत में कालिया-दमन

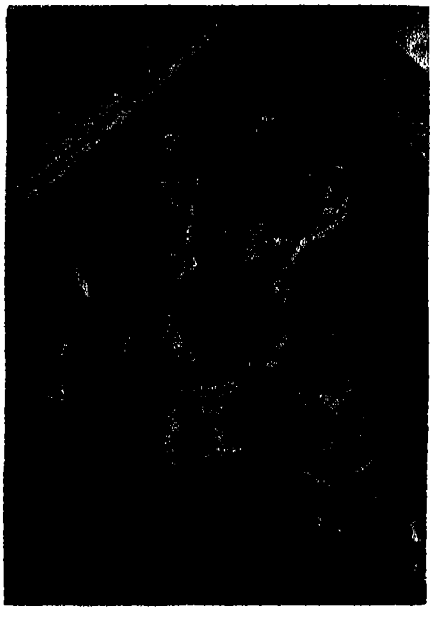


(ख) माउण्ट आबू विमल-वसही मंदिर, मुखमण्डप की छत में नरसिंह

चित्र 186



(क) माउण्ट आबू — विमल-वसही मंदिर, मण्डप की स्तूपी पर यक्षी अंबिका



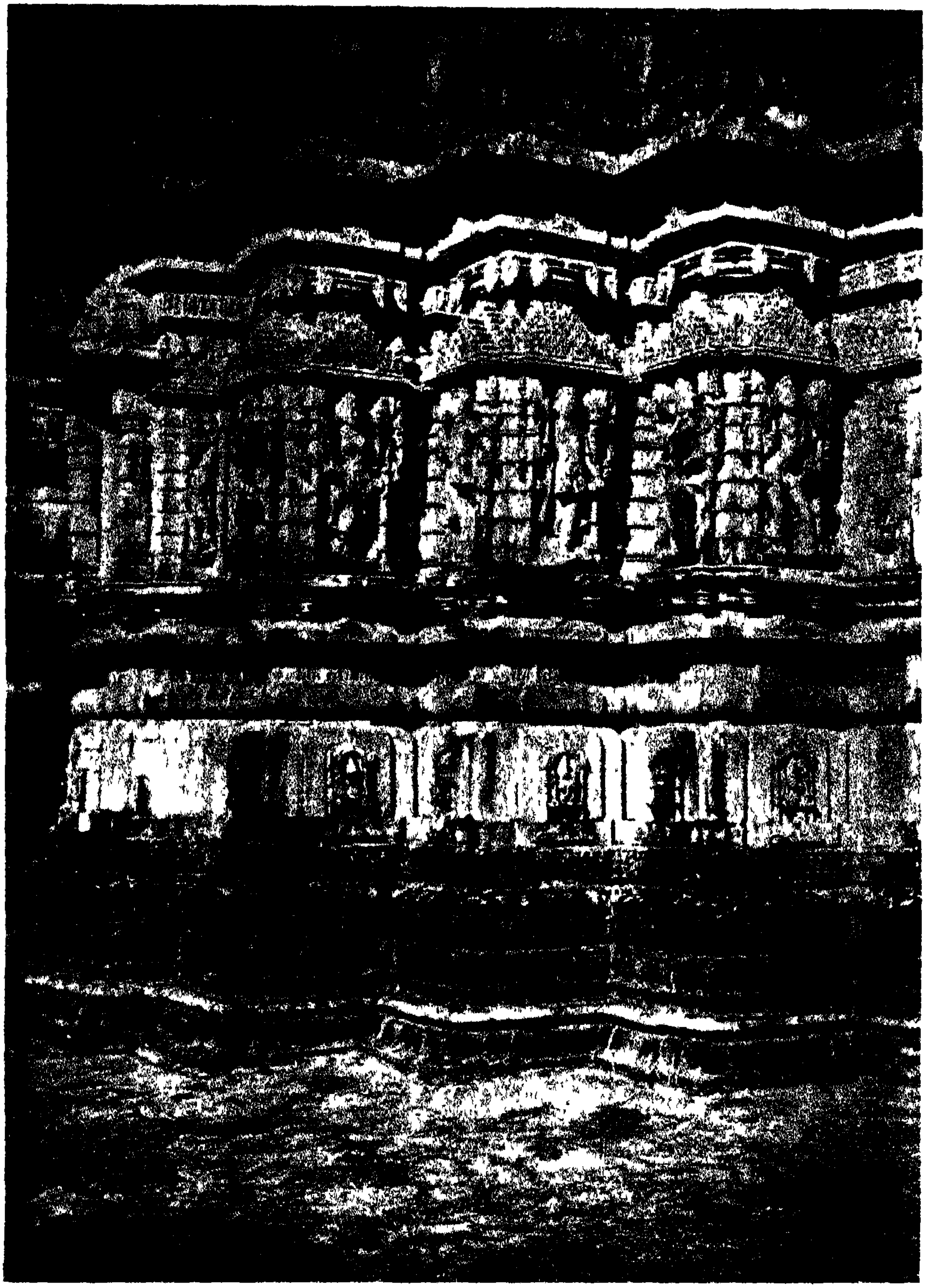
(ख) माउण्ट आबू — विमल-वसही मंदिर, रंगमण्डप की स्तूपी पर यक्षी मूर्ति

चित्र 187



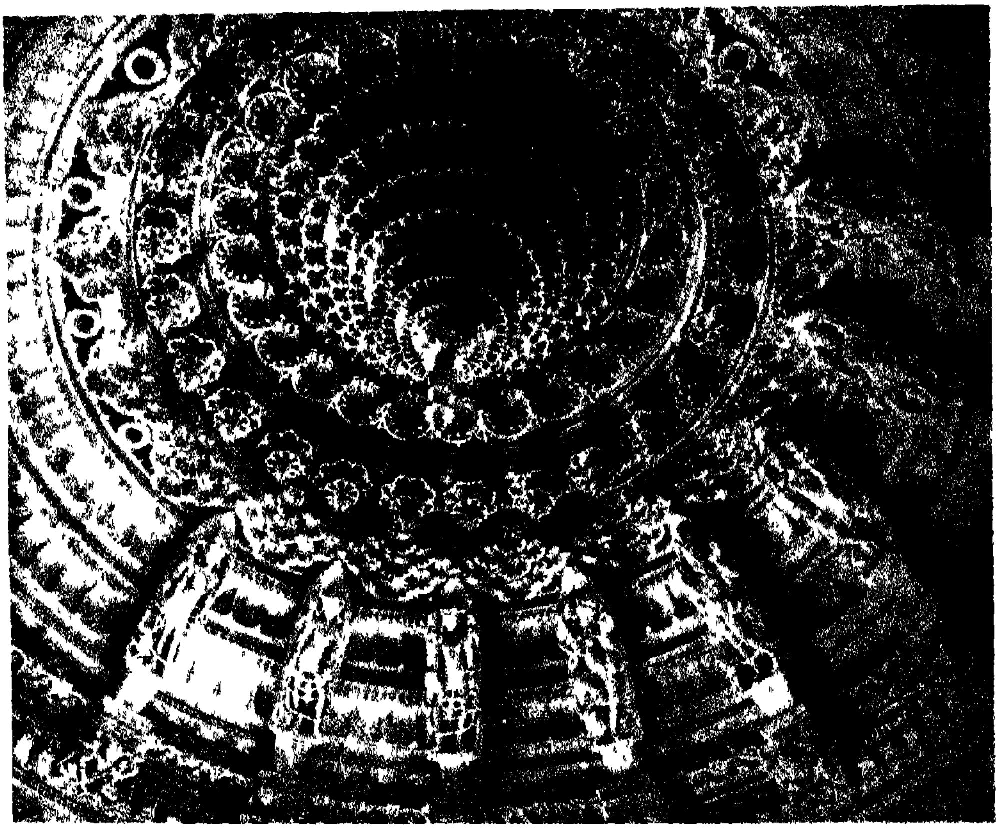
माउण्ट आबू — विमल-वसही मंदिर, मुखमण्डप

चित्र 188

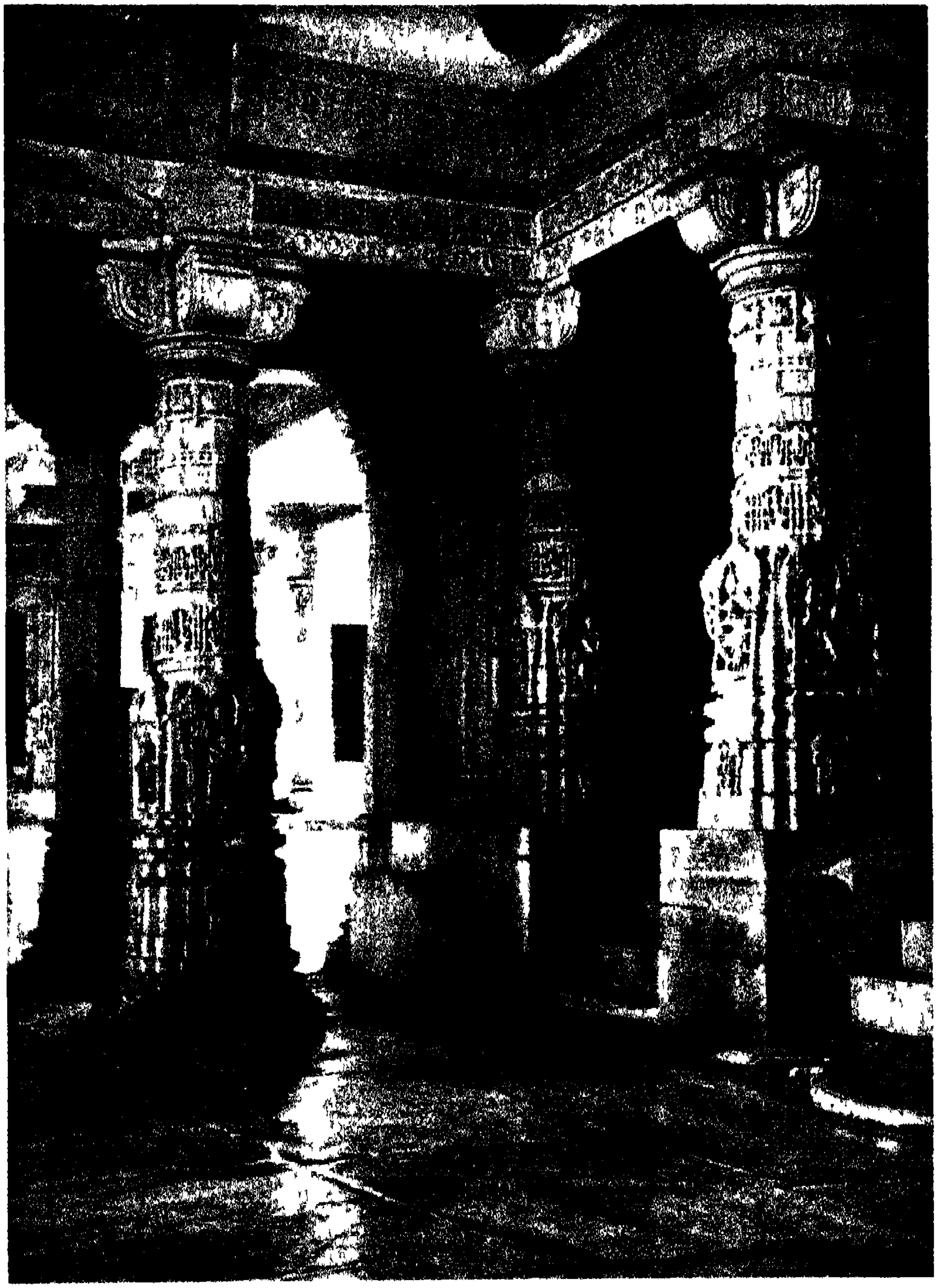


कुंभारिया — नेमिनाथ-मंदिर, बहिर्भाग का आंशिक दृश्य

चित्र 189

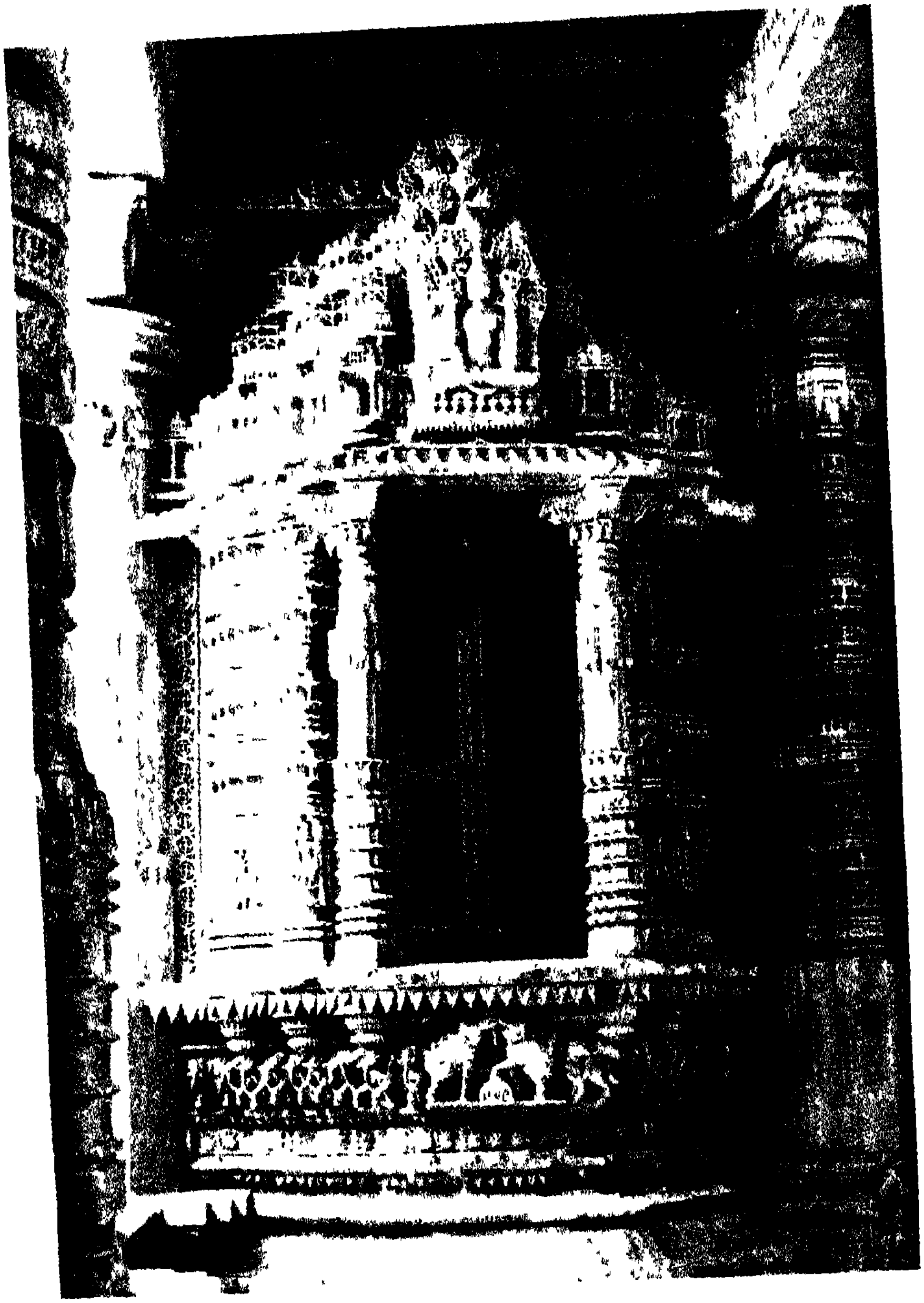


माउण्ट आबू — लूण-वसही मंदिर, रंगमण्डप की छत



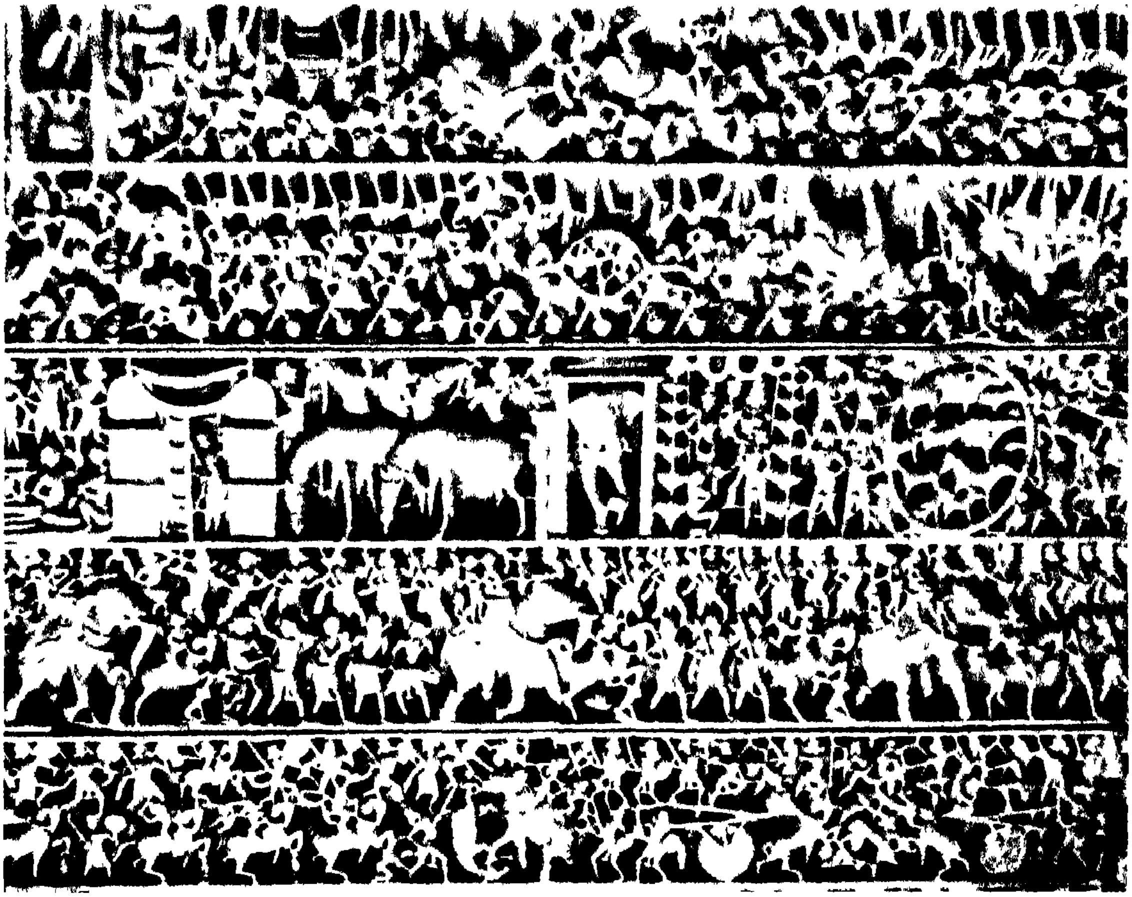
माउण्ट आबू — लूण-वसही मंदिर, नव-चौकी के स्तंभ

चित्र 191



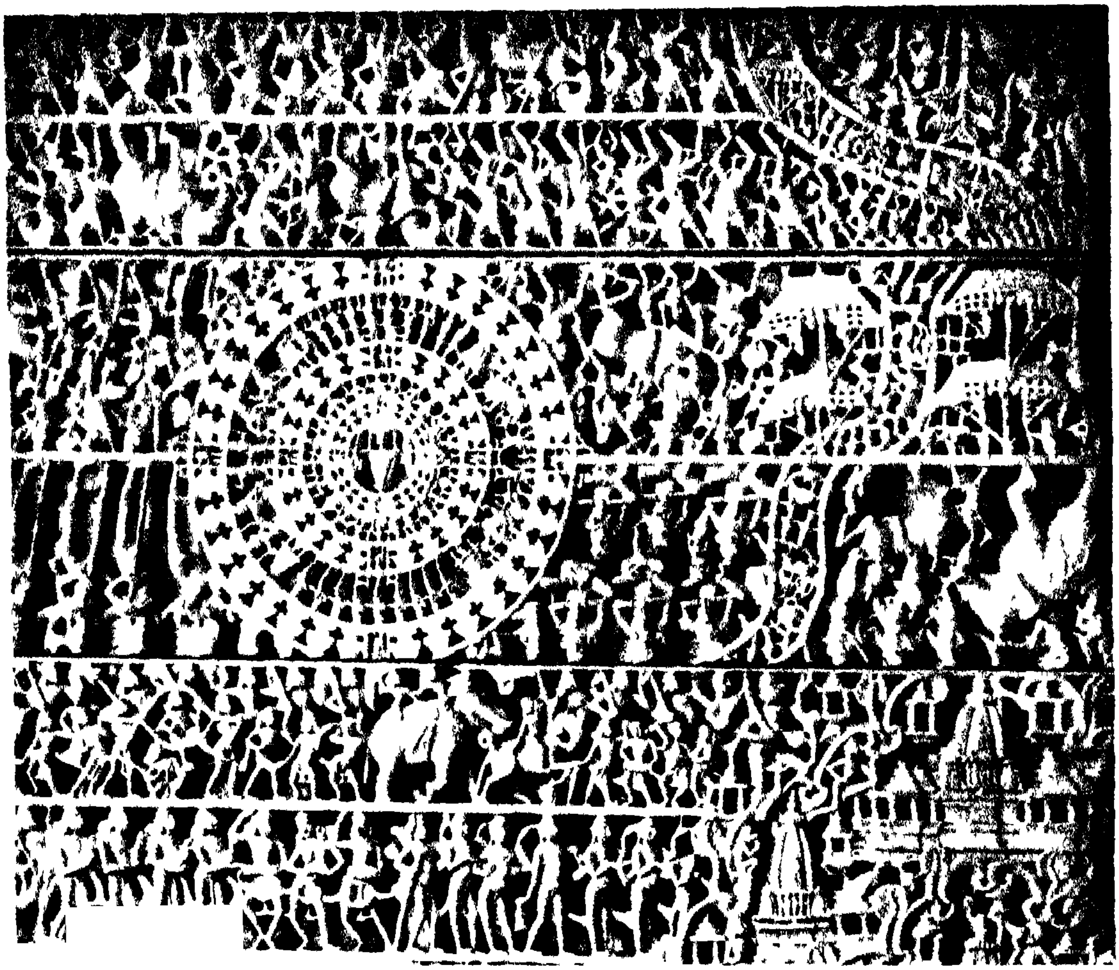
माउण्ट आबू — लूण-वसही मंदिर, छज्जा

चित्र 192



माउण्ट आबू — लूण-वसही मंदिर, वीथि की छत पर अरिष्टनेमि के जीवन के दृश्यांकन

चित्र 193



माउण्ट आबू — लूण-वसही मंदिर, वीथि की छत पर समवसरण, द्वारिका तथा गिरनार तीर्थ के दृश्यांकन

चित्र 194

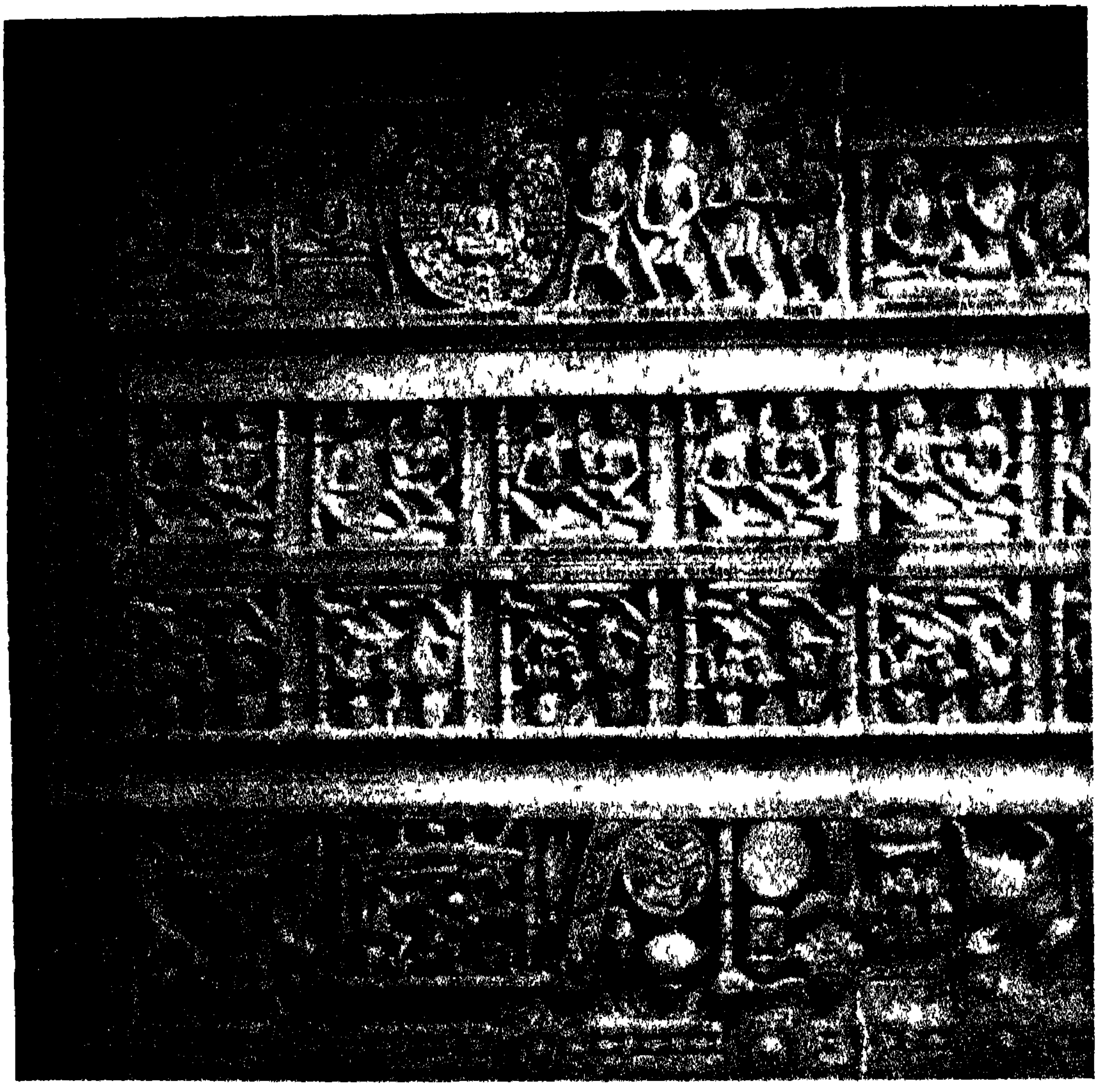


(क) माउण्ट आबू -- विमल-वसही मंदिर, सभा-मण्डप की छत पर विद्यादेवी मानवी



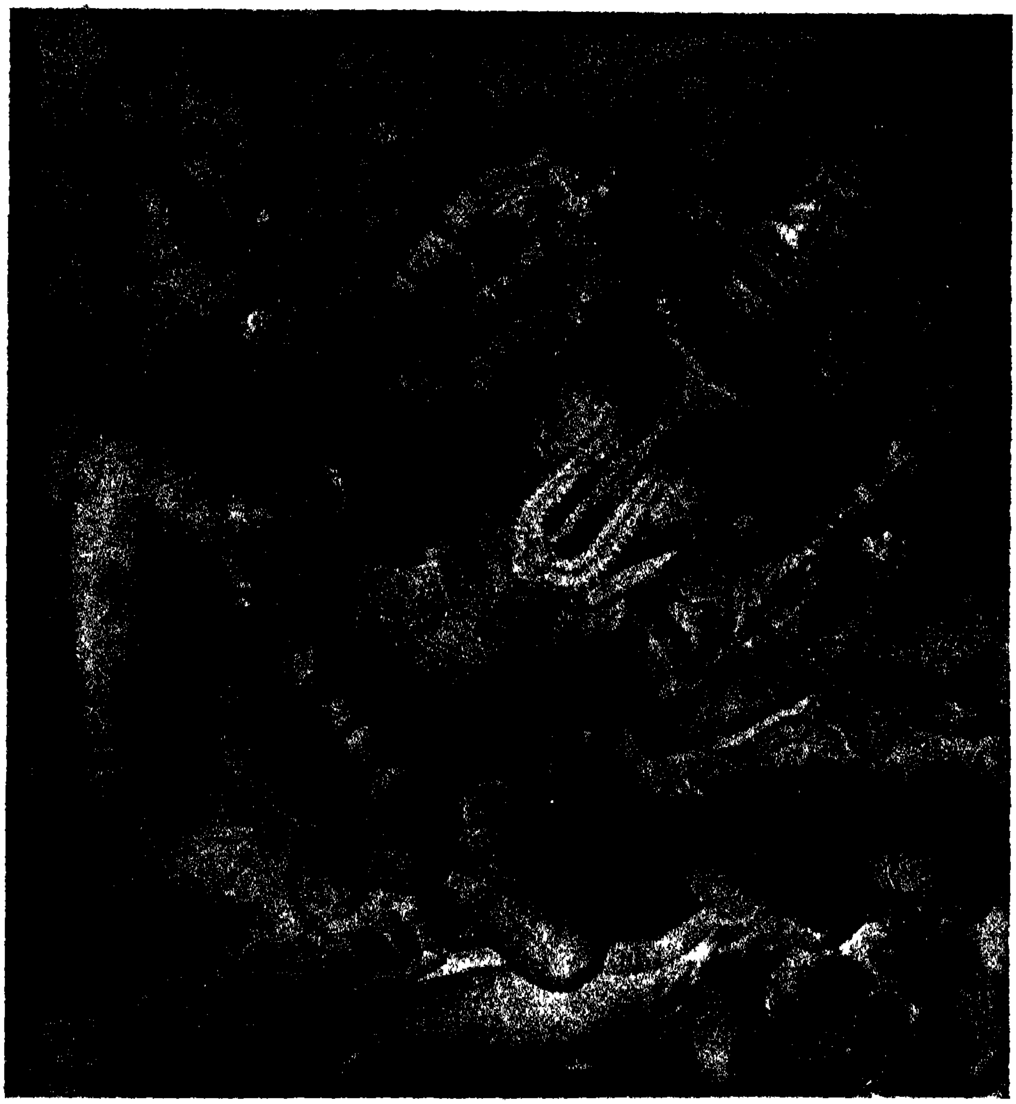
(ख) माउण्ट आबू — विमल-वसही मंदिर, सभा-मण्डप की छत पर विद्यादेवी महामानसी

चित्र 195



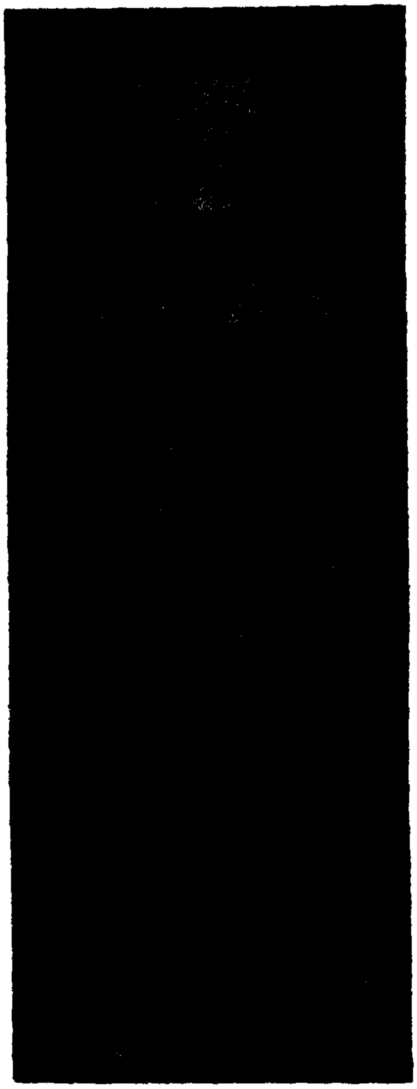
कुंभारिया महावीर-मंदिर, तीर्थंकरों के माता-पिता और पार्श्वनाथ के जीवन-दृश्य

चित्र 196



माउण्ट आबू — विमल-वसही मंदिर, एक छत पर महाविद्या वज्रांकुशी का अंकन

चित्र 197

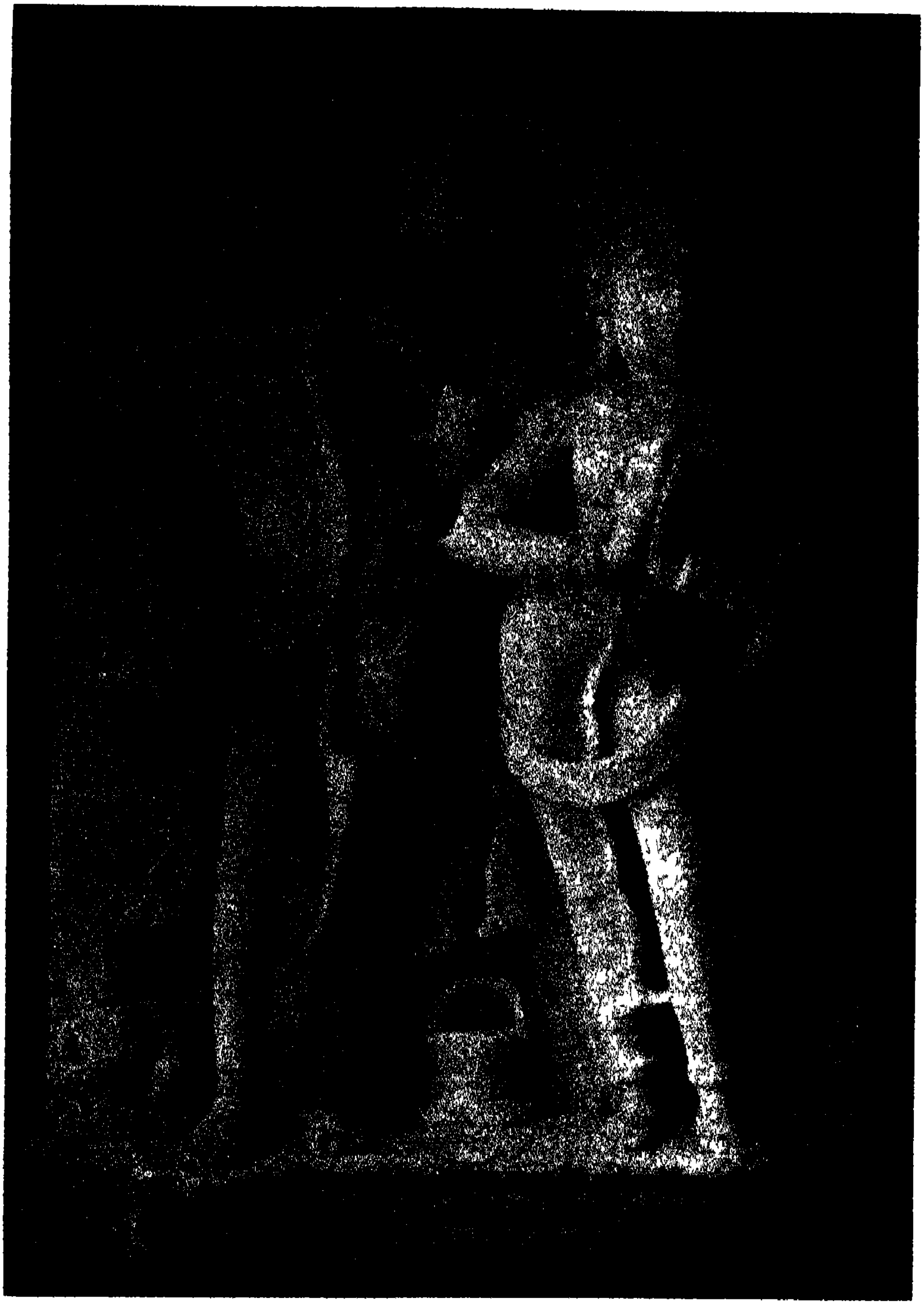


(क) माउण्ट आबू — विमल-वसही मंदिर, अप्सरा मूर्ति



(ख) बरावन — तीर्थंकर मूर्ति (प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय)

चित्र 198



सभाल — एक दानी-दम्पति

चित्र 199



वरावन — साढदेव

चित्र 200



माउण्ट आबू -- लूण-वसही मंदिर, हस्तिशाला मे वस्तुपाल और उसकी पत्नियां

चित्र 201



वाव — तीर्थंकर की कांस्य-मूर्ति

चित्र 202

सन् १११६ में दण्डनायक कर्पार्द्दिन ने पाटन में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया। उसके मंत्री उदयन ने सीमंधर का एक मंदिर धोलका में बनवाया था जिसकी प्रतिष्ठा वादिदेव-सूरि ने की थी। उदयन ने खंभात में उदयन-विहार का भी निर्माण कराया था। श्रेष्ठी धवल ने भी धोलका में ११३७ ईसवी में मुनि-सुव्रत-मंदिर बनवाया था।

हेमचंद्र के द्वयाश्रय-काव्य में यह वर्णित है कि सिद्धराज नरेश ने सिद्धपुर में महावीर के एक मंदिर का निर्माण कराया था जिसका उल्लेख सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल-प्रतिबोध में सिद्ध-विहार के रूप में हुआ है। सन् ११४२ में वादिदेव-सूरि द्वारा प्रतिष्ठित यह मंदिर एक चतुर्मुख मंदिर था जो राय-विहार के नाम से भी प्रसिद्ध था तथा वही आगे चलकर रणकपुर के प्रसिद्ध धरणी-विहार के लिए अनुकरण की वस्तु बना।

सिद्धराज के शासनकाल के उत्तरार्ध में निर्मिल कुंभरिया स्थित नेमिनाथ-मंदिर में पूर्णत: अलंकृत तलघर और जंघा हैं (चित्र १८६)। त्रिक-मण्डप, जिसमें दस चतुष्कियाँ और तीन सोपान-क्रम हैं, आबू के नमूनों से मिलता-जुलता है। रंग-मण्डप में दो तल्ले हैं और उसके अनुपात आकर्षक हैं। रंग-मण्डप, त्रिक-मण्डप और नाल-मण्डप के स्तंभ बहुत अलकृत हैं और वे आबू स्थित विमल-वसही के रंग-मण्डप के स्तंभों-जैसे हैं।

सिद्धराज के शासनकाल के उत्तरार्ध में निर्मित सेजकपुर स्थित एक छोटा-सा जैन मंदिर, जिसमें गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और त्रिक-मण्डप थे, एक अलंकृत और सुंदर अनुपात में निर्मित भवन था किन्तु हाल ही के वर्षों में वह लगभग ध्वस्त हो गया है।

दण्डनायक सज्जन द्वारा बनाया गया गिरनार पर्वत पर स्थित नेमिनाथ-मंदिर भी इसी काल का एक सांधार-प्रासाद है जिसमें छज्जा-युक्त जालीदार खिड़कियाँ हैं। उसके तलघर में कुछ ही सज्जा-वस्तुएं हैं और मंदिर के आकार को देखते हुए उसकी जंघा भी बहुत छोटी है। गूढ़-मण्डप देवालय से थोड़ा बड़ा है किन्तु देवालय का पलस्तर बहुत निम्न कोटि का है, उसके त्रिक-मण्डप के स्थान से आगे चलकर एक मण्डप बनाया गया है, जिसके द्वार-मार्ग छोटे हैं।

सिद्धराज का उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (११४४-७४ ई०) मंदिर-निर्माता के रूप में सिद्धराज से भी आगे निकल गया। उसने अनेक जैन और ब्राह्मण्य मंदिरों का निर्माण कराया। कहा जाता है कि उसने अपने विगत जीवन में मांसाहारी रहने, जिसमें प्राणियों का वध भी होता था, के पश्चात्ताप के रूप में बत्तीस जैन मंदिरों का निर्माण करवाया था। पाटन में उसने पार्श्वनाथ-अधिष्ठित, चौबीस देवकुलिकाओं से युक्त कुमार-विहार का निर्माण कराया। उसने गिरनार, शत्रुंजय, प्रभास, आबू और खंभात-जैसे पवित्र स्थानों तथा थरड़, ईदर, जालौर, दीव तथा मंगरोल-जैसे नगरों में कुमार-बिहार बनवाये। उसने ११६० ई० में अपने पिता त्रिभुवनपाल की स्मृति में त्रिभुवन-विहार का निर्माण कराया और उसमें नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित करायी, जिसमें बहत्तर देवकुलिकाएँ

और एक त्रि-विहार था। अपने गुरु हेमचंद्र के जन्मस्थान धंधुका में उसने ११६३ ई० में झोलिका-विहार का निर्माण कराया।

उक्त राजा के जैन मंत्रियों ने जो मंदिर बनवाये, उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—आबू पर्वत पर विमल-वसही के सामने पृथ्वीपाल द्वारा निर्मित मण्डप तथा पाटन का वनराज-विहार एवं कवि श्रीपाल के पुत्र सिद्धपाल द्वारा पाटन में निर्मित सिद्धपाल-वसती। मंत्री अमरभट्ट ने ११६६ ई० में भड़ौंच के प्राचीन शकुनिका-विहार के स्थान पर एक सुंदर नया मंदिर बनवा दिया जिस प्रकार उसके भाई वाग्भट्ट ने ११५५-५७ ई० में शत्रुंजय स्थित एक प्राचीन आदिनाथ-मंदिर के स्थान पर नया मंदिर बनवाया था।

कुमारपाल के शासनकाल के जैन भवनों में सबसे गौरवपूर्ण स्थान उस नृत्य-मण्डप को प्राप्त है जिसे मंत्री पृथ्वीपाल ने लगभग ११५० ई० में आबू पर्वत पर स्थित विमल-वसही में जोड़ा था। मण्डप को जोड़नेवाले गलियारे की कुछ छतें तो सचमुच ही स्थापत्य की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं। मण्डप के बीच की छत, जिसका व्यास ७ मीटर से कुछ अधिक है, गुजरात में इस तरह की बड़ी छतों में सबसे बड़ी है किन्तु उसका मध्य लोलक (पद्मशिला) अनुपात में कुछ छोटा है; यद्यपि कलाकारिता और सौंदर्य में अप्रतिम है। इसी प्रकार, इस भव्य छत को अवलंब देनेवाले अत्यधिक अलंकृत स्तंभ ½ से १ मीटर तक छोटे हैं, जिसके कारण इस सुंदर छत का समग्र प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता।

वैसे तो कुमारपाल द्वारा निर्मित अधिकांश मंदिर या तो नष्ट हो गये या क्षतिग्रस्त हो गये हैं, किन्तु फिर भी उसके द्वारा निर्मित सबसे बड़ा भवन अर्थात् तारंग का ११६५ ई० में बनाया गया अजितनाथ-मंदिर आज भी विद्यमान है। वह सांधार-प्रकार का एक मेरु-प्रासाद है, जिसमें प्रदक्षिणा-पथ-युक्त एक गर्भगृह और छज्जा-युक्त जालीदार तीन खिड़कियाँ हैं, किन्तु उसके पहले गूढ-मण्डप बना हुआ है। इस विशाल मण्डप के केंद्रीय अष्टकोण के स्तंभ ऊँचे हैं और अलंकृत छत को अवलंब देते हैं। इस छत का व्यास लगभग ८ मीटर है और उसके बीच में एक विशाल लोलक है। इतना बड़ा आकार होने पर भी, यह भवन शोभाहीन लगता है। वह अनाकर्षक है, क्योंकि उसका अनुपात ठीक नहीं है, और उसके विभिन्न भागों में असंतुलन है। उसका तलघर उसकी कुल ऊँचाई को देखते हुए बहुत छोटा है, जबकि उसके सभी स्तंभ, विशेष रूप से उसके विशाल मण्डप के स्तंभ, ऊँचे और सादे है। इस कारण उसका ढाँचा अनाकर्षक हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसके भद्र-छज्जे यथेष्ट चौड़े हैं, जबकि उसकी संवरण-छत के घण्टे ठीक अनुपात में न होने के कारण छोटे लगते हैं।

घुमली का पार्श्वनाथ-मंदिर, जिसका अब केवल मण्डप ही शेष रह गया है, शैली की दृष्टि से इसी स्थान के अधिक विख्यात नवलखा-मंदिर-जैसा है और उक्त मंदिर की ही भाँति बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग का है।

सन् १२२० के आसपास, राजनीतिक सत्ता वस्तुत: चौलुक्यों से बघेलों के हाथों में चली गयी। बघेलों के मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल भारतीय कला के इतिहास में महानतम निर्माता थे। इन दो प्रसिद्ध बंधुओं ने पचास से भी अधिक मंदिरों का निर्माण कराया और उनके द्वारा जीर्णोद्धार कराये गये या नवीन रूप प्रदान किये गये मंदिरों की संख्या तो आश्चर्यजनक है। वस्तुपाल ने गिरनार पर्वत पर वस्तुपाल-विहार और पार्श्वनाथ-मंदिर, शत्रुंजय पर इंद्र-मण्डप और छह अन्य मंदिर, ढोलका में आदिनाथ-मंदिर और प्रभास में अष्टापद-प्रासाद का निर्माण कराया था। उसके भाई तेजपाल ने पाटन और जूनागढ़ में आसराज-विहार, ढोलका में नेमिनाथ-मंदिर, प्रभास में आदिनाथ-मंदिर तथा अपनी माता के पुण्यार्जन के लिए खंभात और दमोह में भव्य मंदिरों का निर्माण कराया। आबू पर्वत पर प्रसिद्ध नेमिनाथ-मंदिर बनवाने के अतिरिक्त उसने थरड़, कर्णावती, गोधरा, पावागढ़ तथा नवसारी में मंदिर बनवाये। किन्तु इन महान् निर्माताओं के बहुत कम मंदिर इस समय बचे रह गये हैं। गिरनार स्थित वस्तुपाल-विहार (१२३१ ई०) का पार्श्विक गूढ़-मण्डप, जिसमें सम्मेदशिखर और अष्टापद की रचना है, विन्यास और बाहरी सज्जा की दृष्टि से सचमुच ही भव्य है; यद्यपि उसकी अनेक छतें नष्ट हो चुकी हैं और मण्डपों की भीतरी छतों का पंद्रहवीं शताब्दी में जीर्णोद्धार हुआ है।

सन् १२३१ में आबू पर्वत पर तेजपाल द्वारा बनवाया गया नेमिनाथ का संगमरमर का प्रसिद्ध मंदिर, जो लूण-वसही (चित्र १६०—१६४) के नाम से अधिक विख्यात है, वस्तुत: अधिक सुरक्षित रह सका है। विमल-वसही के समान उसके गर्भगृह और गूढ़-मण्डप सादे हैं और उन पर फांसना-छतें हैं। नृत्य-मण्डप की सर्पाकार वंदनमालिकाएँ तथा अत्यंत मनोरम पद्मशिला से युक्त उसकी छत सर्वाधिक प्रभावकारी है। त्रिक के दोनों खट्टक भी भव्य हैं तथा अलंकरण की उत्कृष्टता जताते हैं।

सन् १२३१ में ही निर्मित कुंभरिया स्थित संभवनाथ-मंदिर अपेक्षाकृत साधारण है तथा उसमें परिवेष्टनकारी देवकुलिकाएँ नहीं हैं। इस मंदिर में एक गर्भगृह, पार्श्विक प्रवेशमार्ग-युक्त गूढ़-मण्डप, और एक सभा-मण्डप एक प्राकार में हैं। उसके शिखर पर जालियों का अलंकरण तथा गूढ़-मण्डप—जिस पर आबू स्थित तेजपाल-मंदिर-जैसे शिखरों और मण्डपों के रूपांकन हैं—का द्वार-मार्ग उसके समय और शैली का आभास दे देते हैं।

सरोत्रा स्थित संगमरमर का जैन मंदिर जिसमें गर्भगृह, गूढ़-मण्डप तथा बावन देव-कुलिकाएँ हैं, तेरहवीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग के एक सुनियोजित जैन मंदिर का सर्वोत्तम उदाहरण है।

तेजपाल और वस्तुपाल द्वारा डाली गयी परोपकारपूर्ण परंपराओं को अगली पीढ़ी में भद्रावती के जगदूशा तथा माण्डु के पेठड ने बनाये रखा। अनेक जैन और ब्राह्मण्य मंदिरों को

नवीन रूप प्रदान करने के अतिरिक्त, जगडूशा ने ये मंदिर बनवाये : ढांका में एक मंदिर ऋषभनाथ का, चौबीस देवकुलिकाओं युक्त एक मंदिर वढवन में, शत्रुंजय पर एक मंदिर, और बावन देवकुलिकाओं से युक्त एक मंदिर सेवड़ी (१२५०-७० ई०) में।

माण्डु के पेठड को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने महत्त्वपूर्ण जैन केंद्रों में, जिनमें शत्रुंजय, प्रभास, ढोलका और सलक्षणपुर भी सम्मिलित हैं, सन् १२६४ के आसपास चौरासी जैन मंदिरों का निर्माण कराया था।

जैन समाज ने चौलुक्य कला और स्थापत्य की उन्नति में जो योगदान किया उसकी अतिरंजना नहीं की जा सकती। इस समय जो चौलुक्यकालीन मंदिर विद्यमान हैं उनमें से लगभग चालीस प्रतिशत जैन धर्मावलंबियों के हैं और उनमें भी स्थापत्य की दृष्टि से विशाल आकार के कम से कम साठ प्रतिशत मंदिर जैन संरक्षण के परिणाम हैं। पश्चिम भारत में साहित्य और संस्कृति का सामान्य रूप से और निर्माण-कला का विशेष रूप से जो प्रचुर विकास हुआ उसका अधिकांश श्रेय जैन मुनियों के निःस्वार्थ एवं प्रेरक नेतृत्व और जैन व्यवसायियों तथा उन दानवीरों के उदार संरक्षण को है जिनमें वस्तुपाल, तेजपाल, जगडूशा तथा पेठड-जैसे प्रसिद्ध पुरुषों की गणना होती है। राजनीतिक स्वाधीनता नहीं रह जाने और उसके परिणामस्वरूप राज्य का संरक्षण नहीं मिल पाने पर भी यदि चौलुक्य-कला और स्थापत्य का ह्रास नहीं हुआ तो इसका अधिकांश श्रेय उस जैन समाज को मिलना चाहिए जिसने इस ज्योति को प्रज्ज्वलित रखा और उदारतापूर्वक मूर्तिकारों, चित्रकारों तथा वास्तुकारों को संरक्षण प्रदान किया एवं उन्हें भव्य और पवित्र निर्माण-कार्यों में लगाये रखा। ऐसे निर्माण-कार्यों में से एक उदाहरण रणकपुर[1] स्थित वह धरणी-विहार है जिसका निर्माण बाद में १४३९ ई० में हुआ था और जो चौलुक्य-निर्माण-शैली की श्रेष्ठता और उत्कृष्टता का एक तरह से सार ही है।

कृष्णदेव

1 [देखिए अध्याय 28—संपादक।]

2 [सन् 1000 से 1300 ई० (अध्याय 22) की अवधि में मध्य भारत की स्थिति के अनुरूप ही, लेखक ने इस अध्याय में अपने विषय को चौलुक्य-शैली के मंदिरों तक ही सीमित रखा है। मारवाड़ क्षेत्र के जैन मंदिरों के लिए देखिए—एम. ए. ढाकी, 'अर्ली जैन टेम्पल्स इन वेस्टर्न इण्डिया', गोल्डेन जुबिली वॉल्यूम, श्री महावीर जैन विद्यालय, खण्ड 1, बंबई, 1968, जिसमें निम्नलिखित मंदिरों का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है; ओसिया-घनेराओ (दोनों के लिए देखिए अध्याय 17) और बमंन स्थित महावीर-मंदिर, पालि का नवलखा पार्श्वनाथ-मंदिर, सेवड़ी स्थित महावीर का मंदिर, नदलाइ का आदिनाथ-मंदिर, सादड़ी का पार्श्वनाथ-मंदिर तथा नादौल—प्राचीन नद्दुल, जहां चाहमान-वंश की एक शाखा की राजधानी थी—का मंदिर-समूह : इन सभी को ढाकी ने मारु-गुर्जर शैली का बताया है। इनमें से कुछ मंदिरों एवं कुछ अन्य मंदिरों का संक्षिप्त विवरण प्रोग्रेस रिपोर्ट्स ऑफ़ दि आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, 1908-09, तथा उससे आगे की रिपोर्टों में भी दिया गया है—संपादक.]

मूर्तिकला

जैन मूर्तिकला के विकास-क्रम में चौलुक्य-युग सर्वाधिक उन्नति का युग है। जैन संरक्षण में कला और स्थापत्य की कुछ सर्वोत्कृष्ट एवं अनुपम कृतियों के निर्माण के लिए भी वह प्रसिद्ध है।

उक्त युग से पहले, छठी शताब्दी के लगभग मध्य भाग से, तीर्थंकर-प्रतिमा के पादपीठ पर या उसके पास एक शासनदेवता-युगल (यक्ष और यक्षिणी) का अंकन प्रारंभ हो गया था। इस युगल में दो भुजाओंवाला कुबेर-जैसा यक्ष होता था जिसे सर्वानुभूति या सर्वाह्ण कहा जाता था। उसके हाथों में एक बिजौरा तथा रुपयों की थैली अंकित की जाती थी। दो हाथोंवाली यक्षिणी अंबिका के दाहिने हाथ में सामान्यतः आम्रगुच्छ होता था और वह अपने बायें हाथ से अपनी बायीं गोद के एक शिशु को सँभाले हुए होती थी। यह युगल सभी चौबीसों तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के साथ अंकित किया जाता था। आगे चलकर, संभवतः दसवीं शताब्दी के अंत में, पश्चिम भारत के जैन मंदिरों में प्रत्येक तीर्थंकर के अलग-अलग शासनदेवता अंकित किये जाने लगे, जिनकी सूची त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित, निर्वाण-कलिका, अभिधान-चिंतामणि आदि में उपलब्ध होती है। किन्तु पूर्वोक्त युगल का चित्रण भी बहुत समय तक होता रहा जैसा कि आबू पर्वत पर स्थित विमल-वसही की कुछ देवकुलिकाओं तथा कुंभरिया स्थित मंदिरों से स्पष्ट है। पूर्वकाल की दो भुजाओंवाली अंबिका के दो हाथ और अंकित किये गये जिसमें उसे आम्रगुच्छ लिये हुए दर्शाया गया। जो भी हो इसमें अधिक महत्त्व की बात यह है कि मंदिरों की दीवारों पर दिक्पाल की आकृतियों के अंकन का चलन अधिक हो गया और ब्राह्मण्य प्रभाव के फलस्वरूप विमल-वसही की भ्रमती की छतों पर सप्तमातृका-आकृतियों का अंकन प्रारंभ हुआ। मंदिर के इन भागों का समय बारहवीं शताब्दी और कुछ का तेरहवीं शताब्दी भी है।

स्तंभों तथा मुख्य देवालय के गर्भगृहों के द्वारों की चौखटों और भ्रमतियों की देवकुलिकाओं या कोष्ठों का अलंकरण यक्षिणियों, विद्यादेवियों आदि के अंकन द्वारा किया गया। विद्यादेवियों के अंकन का चलन अब भी अधिक था किन्तु बड़े-बड़े मंदिरों को छोड़कर अन्य मंदिरों में उनका अकन इस अवधि के अंत में कम हो गया। सौभाग्य से, सोलह महादेवियों का पूरा समूह (तुलना कीजिए—मानवी और महामानसी, चित्र १६५ क और ख) अब हमें विमल-वसही के रंग-मण्डप में प्राप्त है जिसका कुमारपाल के मंत्री पृथ्वीपाल ने कुमारपाल के शासन के पूर्वभाग में पूर्ण जीर्णोद्धार कराया था। इनके अतिरिक्त, इस मण्डप में ब्रह्म-शांति यक्ष और शूलपाणि (कपर्दिन ?) की मूर्तियाँ हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये ब्राह्मण्य मूल की हैं। ये मूर्तियाँ जैन देवकुल में ब्राह्मण्य देवी-देवताओं को गौण स्थिति में अंकित करने के प्रयत्न हैं। जैन पुराण साहित्य की वृद्धि हो रही थी और परिवर्तित जैन परिस्थितियों में ब्राह्मण्य आख्यानों का प्रारंभ किया गया था। इस प्रकार के उदाहरण हैं—आबू पर्वत पर विमलशाह और वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा निर्मित मंदिरों की भ्रमतियों की छतों पर हिरण्यकश्यप का वध करते हुए नृसिंह की मूर्ति तथा कृष्ण के जीवन की झाँकियाँ (चित्र १८६ क और ख)।

उपर्युक्त से भी महत्त्वपूर्ण हैं––छत पर विभिन्न तीर्थंकरों के जीवनों के विस्तारपूर्वक उत्कीर्ण दृश्य (चित्र १९३)जो उक्त दोनों मंदिरों में, तथा लगभग १०३२ ई० में निर्मित कुंभरिया स्थित महावीर-मंदिर में अंकित किये गये हैं। इस मदिर की एक छत पर चौबीस तीर्थंकरों में से प्रत्येक के माता-पिता की आकृतियोंवाले लंबे पट भी हैं जिनमें उनके नाम भी उत्कीर्ण किये गये हैं(चित्र १९६)। कुंभरिया-मंदिर में एक पट में भूतकाल के तीर्थंकरों तथा भविष्य के आरों का भी अंकन किया गया है। वस्तुपाल और तेजपाल द्वारा आबू पर्वत पर निर्मित मंदिर में बहत्तर तीर्थंकरों के अंकन से युक्त एक पट सुरक्षित है। अश्वावबोध की कथा तथा शकुनिका-विहार का उद्भृति के रूप में उरेखन करने योग्य पाषाणखण्ड आबू तथा कुंभरिया में पाये जाते हैं। इस प्रकार जैन जातकों तथा अन्य जैन कथाओं की उद्भृतियों के अंकन का चलन इस युग में बहुत हुआ। देवताओं, मनुष्यों, स्त्रियों, पशुओं, वृक्षों आदि का संगमरमर की लघु मूर्तियों के रूप में अंकन-युक्त कुंभरिया-मंदिर के ये पट (चित्र १८९) श्रेष्ठ कला-कृतियाँ हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में इस प्रदेश के कलाकार कोमल संगमरमर को सूक्ष्मता से तराशने में बड़े प्रवीण थे, जैसा कि विमल और लूण-वसहियों के सभा-मण्डपों के गुंबदों तथा चौलुक्य-युग के जैन और अ-जैन देवालयों के अन्य अनेक वितानों पर की गयी अत्यंत सुंदर कारीगरी से स्पष्ट है।

बारहवीं और परवर्ती शताब्दियों की आकृति-कला (मूर्तिकला), जिसमें सूक्ष्म अलंकरण की प्रचुरता है, नयनाभिराम तो है किन्तु वह धीरे-धीरे अपना प्रकृतवाद, शोभा और सौंदर्य खोती जा रही थी। जो भी हो, कुमारपाल के युग की मानव-आकृतियाँ जहाँ हृष्टपुष्ट, बलिष्ठ तथा निश्चल हैं (तुलना कीजिए – विमल-वसही की भ्रमती में वज्रांकुशी महाविद्या, चित्र १९७), वहीं दूसरी ओर वस्तुपाल तथा तेजपाल के युग की आकृतियाँ एक सीमा तक रूप की शोभा और कोमलता दर्शाती हैं। विशेषकर स्त्री-आकृतियों तथा मानव-मुखाकृतियों के अकन में। विमल-वसही की छत पर अंकित आकृति––शायद वह अंबिका की है—कला का एक सुदर उदाहरण है (चित्र १८७ क)। वृक्षों का अंकन भी ध्यान देने योग्य है।

विमलशाह के युग की मूर्तिकला उच्चकोटि की कारीगरी प्रदर्शित करती है। आबू पर विमल ने जो निर्माण कराया था, उसका इस समय यद्यपि बहुत कम भाग शेष बचा है तथापि कुंभरिया स्थित महावीर-मंदिर की कला—सौभाग्य से वह अधिक अच्छी तरह सुरक्षित रह सकी है—अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में, आबू और कुंभरिया में काम करनेवाले कलाकारों के सामने अपने केंद्रों के लिए उस चंद्रावती नगर की मूर्तिकला विषयक परंपराएँ थीं, जो आबू से लगभग ८ किलोमीटर दूर था और अब खण्डहरों के रूप में है। चंद्रावती की जैन मूर्तिकला की एक श्रेष्ठतम कृति, जो बारहवी शताब्दी के लगभग की है, इस समय सौभाग्य से ज्यूरिख के राइट्सबर्ग संग्रहालय में सुरक्षित है। विमल-युग की तथा विमलशाह की हस्तिशाला से प्राप्त एक सुंदर नायिका या अप्सरा की मूर्ति का चित्र यहाँ दिया गया है (चित्र १९८ क)।

इस युग की कला का एक महत्त्वपूर्ण नमूना, जो सिंध के थार पार कर ज़िले के वरावन नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, अब बंबई के प्रिंस आफ़ वेल्स संग्रहालय में सुरक्षित है। खड़ी हुई

मुद्रा में तीर्थंकर की यह मूर्ति (चित्र १९८ ख) प्रत्येक ओर चार देवियों के अतिरिक्त पूरे परिकर को दर्शाती है। शायद वे विभिन्न विद्यादेवियाँ हैं।

समस्त भारत से मध्य युग के विभिन्न जैन मंदिरों से प्राप्त दान-दाताओं एवं मुनियों की आकृतियों की मूर्तियों का अध्ययन बहुत उपेक्षित रहा है। गुजरात के मंदिरों में इस प्रकार की बहुत-सी मूर्तियाँ हैं। यद्यपि वे कुछ-कुछ परंपरागत शैली का अनुकरण करती जान पड़ती हैं तथापि उनके तुलनात्मक अध्ययन से यह जान पड़ता है कि वे आकृति-अंकन के, विशेषकर चौलुक्य-काल के, सुंदर प्रयास हैं। चित्र १९९ में एक दानी दंपति—भाण्डागारिक धांधु और उसकी पत्नी शिवदेवी तथा उनके साथ दो पुत्रों की लघु आकृतियों की मूर्तियाँ खंभात के एक जैन मंदिर में संवत् १२६० (१२०३ ई०) में स्थापित की गयी थीं। शाढ्यदेव की एक मूर्ति (चित्र २००) संवत् १२४२ (११८५ ई०) में बनायी गयी थी। वरावन से प्राप्त यह मूर्ति प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, बंबई में सुरक्षित है। चित्र २०१ में मंत्री वस्तुपाल को उसकी पत्नियों सहित दिखाया गया है। यह मूर्ति लूण-वसही की है।

चौलुक्य-काल में धातु की मूर्तियों की ढलाई यथेष्ट आगे बढ़ चुकी थी, जैसा कि गुजरात और राजस्थान के विभिन्न मंदिरों से बहुत अधिक संख्या में प्राप्त धातु-निर्मित जैन प्रतिमाओं से स्पष्ट है। इस युग की कला का सबसे उत्तम नमूना, जो ११८८ ई० का है, पूरे परिकर से युक्त शांतिनाथ की सुंदर कांस्य प्रतिमा है जो इस समय विक्टोरिया ऐण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम, लंदन में सुरक्षित है। संभवतः तीन तीर्थंकरों वाली एक बहुत बड़ी कांस्य-प्रतिमा का एक भाग, जो इस समय उत्तर-पश्चिम गुजरात के वाव नामक स्थान पर सुरक्षित है, खड़ी हुई मुद्रा में तीर्थंकर की चमरधारी सहित वह सुंदर मूर्ति है जो चित्र-संख्या २०२ के रूप में इस ग्रंथ में दी गयी है।

उमाकांत प्रेमानंद शाह

अध्याय 24

दक्षिणापथ और दक्षिण भारत

दक्षिणापथ की स्थापत्य-शैलियाँ

ईसवी सन् की प्रथम सहस्राब्दी का अंत मात्र एक युगांत नहीं था, उससे कहीं अधिक वह वस्तुत: देश के मौलिक चिंतन में एक प्रखर परिवर्तन का काल था, संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में। सामाजिक रूपांतरण का भी यह ऐसा समय था जब क्षेत्रीय शासकों का नेतृत्व अलग-अलग निरपेक्ष इकाई न रहकर, अपनी प्रतिरक्षा में सतत सचेष्ट रहने लगा और विधर्मियों तथा मूर्तिभजकों से टक्कर लेने के लिए प्रतिस्पर्धी और आक्रामक हो गया था। ये शासक जानते थे कि ब्राह्मण्य विचार-धारा और कला की रक्षा का भार उनपर है। दक्षिणापथ ने जैसे अचानक ही अपने वातावरण में परिवर्तन कर डाला, और कल्याणी के चालुक्यों को उनके उदीयमान प्रभाव ने पूर्वी से पश्चिमी घाटों तक पहुँचा दिया जहाँ उन्हें एक ओर कवडि-द्वीप के शिलाहारों और गोवा तथा हंगल के कदंबों से और दूसरी ओर सेउण-यादवों, कलचुरियों और काकतीयों से पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ था। उल्लेख-नीय समृद्धि के अनंतर उन्हें आक्रमणकारी खिलजियों और तुगलकों के इस्लामी साम्राज्य के उमड़ते ज्वार के सामने झुकना पड़ा, और तब दक्षिणापथ में कृष्णा-तुंगभद्रा-घाटी के उत्तर में बहमनी सुलतानों ने चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में मुस्लिम राज्य को प्राय: स्थायी बना दिया।

कल्याणी के चालुक्य कला और साहित्य के सर्वोच्च संरक्षक थे। जैन धर्म तो उनके शासनकाल में उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। लक्कुण्डी, श्रवणबेलगोला, लक्ष्मेश्वर, पटदकल आदि जैन धर्म से संबद्ध कला के विशाल केंद्र बन गये। अजित-पुराण, गदा-युद्धम् के लेखक रण्ण आदि दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के काव्यकारों ने चालुक्यों की सभा-गोष्ठियों की प्रशंसा की है। लक्कुण्डी के एक १००७ ई० के अभिलेख में[1] गुर्जर देश पर इरिवबेडंग की विजय का वृत्तांत है जिसमें दानचिंतामणि अत्तियब्बे द्वारा स्थानीय ब्रह्म-जिनालय के लिए किये गये दानों के विस्तृत विवरण हैं। प्रसिद्ध है कि इस महिला ने उस राज्य में पंद्रह सौ जैन मंदिरों का निर्माण कराया। इस महिला के विषय में जो विवरण है वह कवि रण्ण की साहित्यिक कृतियों द्वारा समर्थित है। धारवाड़ जिले के मुगड में

1 साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस, 11, 1; पृ 32-43.

सोमेश्वर-प्रथम के राज्यकाल का १०४५ ई०[1] की तिथि-अंकित एक और महत्त्वपूर्ण अभिलेख है जिसमें वृत्तांत है कि चावुण्ड गावुण्ड ने मुगड में स्वयं निर्माणित संयुक्त-रत्नाकर-चैत्यालय के दर्शनार्थियों के भोजन के हेतु भूमियों का दान किया।

इस काल के, विशेषत: उत्तरकालीन चालुक्य, होयसल, यादव और काकतीय राजवंशों के, शासकों ने स्थापत्य की 'उत्तरी' और 'दक्षिणी' शैलियों को किसी सीमा तक अन्त:समन्वित किया; होयसल और किसी सीमा तक काकतीय शासकों ने यह अधिक अच्छा समझा कि समूचे मदिर में गर्भ-गृह और शिखर में तो 'दक्षिणी' शैली ही अपनायी जाये पर अन्य तत्त्व ऐसे भी मिश्रित होने दिये जायें जिनकी पहचान 'उत्तरी' शैली के रूप में हो। इसके उदाहरण हैं जगती-पीठ, चतुष्की-अलिंद के साथ नवरंग या सभा-मण्डप की विन्यास-रेखा, मूल गर्भालय के अधिष्ठान के सयुक्त रथ-घटक, प्रस्तार की पट्टियों और अंतराल की प्रणालियों की इसलिए ऊर्ध्वमुखी निर्मिति जिससे संपूर्ण प्रस्तार 'दक्षिणी' विमान-शृंग की अपेक्षा 'उत्तरी' शिखर अधिक प्रतीत हो। विवेच्य काल में भी जैनों ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया किन्तु उन्होंने प्रस्तार के बाह्य अलंकरण को इतना कम कर दिया कि वास्तु-विद्या की दो प्रमुख शैलियों को स्वेच्छाचार से बिलीन कर देने के दोष के भागी वह अधिक नही बने। प्रस्तार का बाह्य भाग प्राय: अत्यंत समतल है, केवल बधन-घटक पर हीरक-दाम का अंकन हुआ है या फिर कर्ण और भद्र के अनुरथों में विमान-आकृतियाँ अंकित हैं। ध्वज-स्तंभों के, और प्राय: बलि-पीठों के भी, अलंकरण अत्यंत आकर्षक बन पड़े हैं; उनके साथ परंपरागत लघु-मण्डप भी होता है और ऊपर भी ब्रह्मदेव की मूर्ति होती है।

दक्षिणापथ के उत्तरी और दक्षिणी भागों को भौगोलिक दृष्टि से एकाकार कर चुकने के बाद उत्तरकालीन चालुक्यों ने यादवों, कलचुरियों आदि के साथ घनिष्ठ सबंध होने तथा सिंहासन में उलट-फेर के कारण 'उत्तरी' और 'दक्षिणी' दोनों शैलियों को अपनाया, यद्यपि दक्षिण और दक्षिणापथ के क्षेत्र में वे केवल 'दक्षिणी' शैली को ही अपनाये रहे। काकतीय शासक अधिकाशत: कल्याणी के चालुक्यों के अधीनस्थ और उनसे संबद्ध रहे। उनके अधीन रहकर, काकतीय वंश के संस्थापक प्रोल-प्रथम ने हनमकोण्डा-वारंगल क्षेत्र निस्संदेह जागीर के रूप में प्राप्त किया और वह मुख्य रूप से आंध्रप्रदेश के पूर्वी अर्धभाग पर शासन करता रहा।

सेउण-यादव वश का राज्य आरंभ में नासिक जिले में था, बाद में उन्होंने अपनी राजधानी जैतुगि के शासनकाल में ११९६ ई० में देवगिरि (औरंगाबाद के समीप आधुनिक दौलताबाद) में स्थानांतरित कर ली। सिंहण सर्वाधिक प्रतापी शासक था, जो १२०० ई० में सिंहासन पर बैठा था। बाद के राजाओं में महादेव (१२६१-७० ई०) उल्लेखनीय है। अनुश्रुति है कि उसका मत्री हेमाद्रि खण्डेश क्षेत्र में हेमादपंथी-शैली के मंदिरों के निर्माण से संबद्ध था। यह शैली वास्तव में भूमिज-शैली है जो परमारों तथा अन्य शासकों की देन है। यादव शासकों को मध्यदेश में शरण लेना अनिवार्य कर दिया

1 वही, पृ 68.

गया जहाँ उन्होंने स्वेच्छया भूमिज-शैली को अपनाया, जो ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में एक व्यापक क्षेत्र में प्रचलित हुई।

इसलिए क्षेत्रीय और सांस्कृतिक प्रतिबद्धताओं के अंतर्गत दक्षिणापथ में हुए निर्माण-कार्य में एक मिश्रित 'उत्तरी' शैली अथवा प्रच्छन्न 'दक्षिणी' शैली किसी सीमा तक प्रचलित हुई। केवल उत्तरकालीन विजयनगर-शैली इसका अपवाद रही जो अपनी शैली में निर्मित सभी स्थानों के मंदिरों में शुद्ध 'दक्षिणी' स्थापत्य-परंपराओं को प्रतिबिंबित करती रही, और जिसने किसी सीमा तक उस कदंब-नागर उपशैली अर्थात् फांसना-शैली को प्रोत्साहित किया जो अपने 'दक्षिणी' शैली के शिखर-आकार को बनाये रखने के कारण समुद्रतटीय कोंकण-कनारा क्षेत्र में लोकप्रिय और प्रभावशाली थी। इस फांसना-शैली में बहिर्भाग समतल ही हुआ करता था किन्तु तलभित्ति पर पट्टिकाएँ होती थीं और अधिष्ठान में कदाचित् जगती-पीठ की अपेक्षा उपपीठ को स्थान मिलता था।

यह सर्वविदित है कि जैन मंदिर-निर्माण की प्रक्रिया विकास के प्रायः उन्हीं सोपानों से अग्रसर हुई जिनसे ब्राह्मण्य प्रक्रिया। तथापि, जैन स्थापत्य अपनी स्वतंत्रता बनाये रहा क्योंकि उसने कुछ ऐसी मूर्तिशास्त्रीय विशेषताओं का आश्रय लिया जिनसे उसे एक स्वतंत्र रूपाकार प्राप्त हुआ। उदाहरणार्थ, इन विशेषताओं की झलक ऐहोल के मेगुटी-मंदिर में और श्रवणबेलगोला की चामुण्डराय-बस्ती में विशेष रूप से निर्मित अतिरिक्त उप-गर्भालय के निर्माण में तो मिलती ही है, एलीफैण्टा की मुख्य और एलोरा की धूमरलेण नामक ब्राह्मण्य गुफाओं की भांति चार द्वारों-सहित चौमुख के निर्माण में भी मिलती है, जिनका आरंभिक रूप एलोरा की इंद्रसभा-गुफा के मुख-मण्डप[1] में दृष्टिगत होता है। ये चौमुख मंदिर कार्कल, जेरसोप्पा और अन्य स्थानों की चतुर्मुख-बस्तियों की भाँति मुख्य गर्भालय की परंपरा को स्थापित करते हैं। इस परंपरा के मंदिरों की विन्यास-रेखा में एक त्रिकूट-बस्ती या पंचकूट-बस्ती का भी प्रावधान होता है जिसमें मुख्य, अर्थात् तीर्थंकरों की मूर्तियाँ और उपमुख्य, अर्थात् गोम्मट के नाम से सुपरिचित बाहुबली आदि की मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं।

इन मंदिरों की दूसरी विशेषता यह है कि जगती के अंतर्गत मंदिर के बहिर्भाग को या उसकी समूची बाह्य संयोजना को ही आडंबरपूर्ण अलंकरण से मुक्त रखा गया किन्तु अंतर्भाग में आवश्यकता से अधिक अलंकरण और मूर्त्यंकन की उपेक्षा नहीं की गयी।

उत्तरकालीन चालुक्यों द्वारा निर्मित स्मारक

कल्याणी के चालुक्यों ने अनेक सुंदर जैन मंदिरों का निर्माण कराया जिनमें से मुख्य हैं— धारवाड़ ज़िले में लक्कुण्डी का ब्रह्म-जिनालय, बीजापुर ज़िले में ऐहोल का चारण्टी मठ और धारवाड़

1 [देखिए प्रथम भाग में पृ 200, चित्र 125—संपादक].

जिले में ही लक्ष्मेश्वर का शंख-जिनालय। लक्कुण्डी के ब्रह्म-जिनालय का इतिहास और अभिलेखों की दृष्टि से उसका महत्त्व पहले बताया जा चुका है। यह मंदिर (चित्र २०३ क) एक उत्तरकालीन होयसल मंदिर की भांति स्तर-युक्त पाषाण से निर्मित है और स्थापत्य के विकास में राष्ट्रकूटों और आरंभिक पश्चिमी चालुक्यों की कलाओं में कड़ी का काम करता है। उसकी विन्यास-रेखा में अनेक रथों की संयोजना है जिनमें से भद्र-रथ अब भी सुरक्षित है। वहाँ तक आते-आते अनुरथ वर्तुल और शंखाकार हो गये हैं, इससे संयोजना में एक स्निग्ध वर्तुलाकार की सृष्टि हुई है। स्पष्ट है कि होयसल स्थापत्य में तारक जगती का विकास इसी वर्तुलाकार से हुआ जो एक पूरी शताब्दी तक चलता रहा। उसकी भित्तियों पर प्रस्तुत देवकुलिकाओं में से मध्यवर्ती भद्र-प्रकार की है और उसमें त्रिकोण-तोरण की संयोजना है किन्तु भित्तियों के पार्श्व स्तंभाधारित हैं और उनके पंजरों पर ऊपर विमानों की लघु अनुकृतियाँ निर्मित हैं। मुख्य गर्भालय के शिखर का आकार और अंग-संयोजना राष्ट्रकूट-शिखर के समान है, उसकी परिधि ऊपर की ओर क्रमशः कम होती जाती है और मूल शिखर तक पहुँचते-पहुंचते चतुरस्र आकार ले लेती है। उस पर वहाँ शुकनासी की प्रस्तुति है जिसमें मूलतः एक लघु गर्भालय रहा होगा यद्यपि वह अब दीवार से बंद कर दिया गया है। इस मंदिर के रग-मण्डप के बाहर काले पालिशदार पाषाण से बना शृंगारचौरी-मण्डप है जो उत्तरकालीन संवर्धन माना जाना चाहिए (चित्र २०३ ख)। तीन ओर से जुड़े हुए इन दोनों मण्डपों के मध्य की स्तंभ-पंक्ति सीमा-रेखा बनाती है।

इस काल की शैली का एक विशेष उदाहरण ऐहोल का चारण्टी-मठ नामक मदिर-समूह है। यह कम से कम १११९ ई० से पहले की है जो त्रिभुवनमल्लदेव विक्रमादित्य-षष्ठ के शासन का चौवालीसवाँ वर्ष था। वहां एक ऐसा अभिलेख है जो निश्चित रूप से किसी मंदिर के निर्माण के सबंध में उत्कीर्ण नही किया गया। उसमें वृत्तांत है कि अय्यवोल के पाँच सौ स्वामियो के शेट्टी केशवय्य ने उक्त सवत् में जीर्णोद्धार और संवर्धन किये और स्थायी दान की व्यवस्था की। इस समूह के मुख्य मंदिर के पास का चारण्टी मठ कदाचित् ऐसा ही एक संवर्धन है; उसमे अर्ध-मण्डप, सभा-मण्डप और मुख-मण्डप हैं और उसका शिखर 'दक्षिणी' विमान-प्रकार का है। जैन स्थापत्य मे विशेष रूप से प्रचलित उपरि-गर्भालय में एक मूल-गर्भालय और एक मुख-मण्डप है। बाह्य-भित्तियों पर अभिप्रायों की सामान्य सयोजना के आधार पर यह मंदिर ग्यारहवी शती का माना जा सकता है।

पूर्व मे स्थित यह एक आकर्षक मंदिर है। इसमें गर्भगृहों की दोहरी संयोजना है पर मुख-मण्डप एक ही है और भीतर की इनकी विभाजक भित्तियाँ परस्पर अलग-अलग हैं। द्वार-पक्ष पर भव्य अलंकरण-कला इस मंदिर की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है; मुख-मण्डप की बौछारियाँ और कपोतिकाएँ भी विशेष रूप से अलंकृत हैं और उनके कोणों पर जो कोडुंगइ-तोरणाकृतियाँ और तिर्यक् लता-वल्लरियाँ अंकित हैं वे और भी आकर्षक बन पड़ी हैं। मुख-मण्डप के दोनों सम्मुख-द्वारों के तोरणों पर चौबीसों तीर्थंकरों की दो पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। परिधि-भित्ति पर कपोतिका के ऊपर

लघु-विमानों के अभिप्राय पंक्तिबद्ध हैं। इसके तारकाकार विन्यास पर निर्मित शिखर होयसल-शैली का प्रयोग भी हुआ है और दक्षिणी मैसूर में प्रचलित शैली भी अपनायी गयी है। किन्तु लंबे वरिमानों अर्थात् पंजर के स्तंभ-शीर्षों पर चलने वाली पट्टिकाओं में लक्कुण्डी, डोम्बल, गडग आदि में प्रचलित उसी शती की उत्तरकालीन चालुक्य-शैलियाँ अपनायी गयी हैं।

दक्षिण भारत में जैन धर्म का जो रूप पश्चिमी कर्नाटक में ईसवी सन् के आरंभ से ही प्रचलित रहा उसके अंतर्गत लक्ष्मेश्वर एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण जैन केंद्र था। वहाँ दो मंदिर हैं, एक प्रसिद्ध शंख-जिनालय और दूसरा आदिनाथ-बस्ती। दूसरा मंदिर उत्तरकालीन चालुक्य-शैली का एक हीन उदाहरण है; इसमें अनुरथों की संयोजना द्वारा अधिष्ठान-विन्यास की एक साधारण प्रस्तुति है। उसमें एक बहुत विस्तृत भद्र जो अब भी बच रहा है, एक योजनाबद्ध वरिमान, अनुरथ और कर्ण-युक्त शीर्ष बनाये गये है जो अधिष्ठान के अग्रभागों के वर्तुलाकारों की भाँति क्रमशः उत्क्षिप्त होते गये हैं; साथ ही, प्रस्तार में एक मध्यवर्ती देवकोष्ठ-सदृश अंतराल भी बनाया गया है जिसके दोनों ओर विमान-पंजर भी हैं। विमानाकृति ने मध्यवर्ती देवकुलिका के तोरण के ऊपर की चूलिका का रूप ले लिया है; इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी आकृति में जो विकास हुआ वह उस विकास से अधिक व्यापक है जो उसी स्थान के सोमेश्वर-मंदिर में है। इस प्रकार इस मंदिर को बारहवीं शती के उत्तरार्ध के मध्य का माना जा सकता है। मंदिर के गर्भगृह की योजना अक्षाकार है, उसमें खड्गासन आदिनाथ विराजमान हैं, और उनके दोनों ओर एक-एक त्रिकूट-शैली के पार्श्व-गर्भालय हैं। इनमें से जो पूर्व की ओर है उसमें पार्श्वनाथ, और जो पश्चिम की ओर है उसमें खड्गासन-मुद्रा में तीर्थंकर स्थापित हैं, जैसा कि अधिकतर पूर्वाभिमुख मंदिरों में होता है।

शंख-बस्ती अपने खण्डहर-रूप में भी एक विशालाकार भवन है जिसके अंतर्भाग में एक गर्भगृह, विस्तृत अर्ध-मण्डप, उससे भी लंबा-चौड़ा महा-मण्डप और रंग-मण्डप हैं। रंग-मण्डप के दक्षिण, उत्तर और पश्चिम में एक-एक प्रवेश-द्वार है और दक्षिण-पश्चिम में एक पूर्वाभिमुख लघु चौमुख का निर्माण किया गया है। चौमुख के चारों ओर तीन-तीन मूर्तियाँ उत्कीर्ण है जिनके अतिरिक्त एक के ऊपर एक, दस-दस की पंक्तियों में भी, तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, पर वे सभी लघु आकार की है। इससे स्पष्ट होता है कि यह चौबीसी मंदिर के अंतर्गत एक चौमुख है। भित्तियों पर के शिल्पांकन और गर्भालय के स्तंभों से आरंभिक मध्य-काल की 'दक्षिणी' शैली का आभास मिलता है क्योंकि उसमें फलक, आकर्षक वर्तुलाकार स्तंभ-शीर्ष, गजदंत और कपोत की संयोजना है। कपोतिका से ऊपर निर्मित महाप्रस्तार पीठ-देउल-प्रकार का है, या इसे एक प्रकार की पीठिकाओं और अंतरालों वाला कदंब-नागर-प्रकार भी कह सकते हैं जो पंचरथ-शैली के अंतर्गत आता है; इसकी तल-पीठिकाओं के प्रत्येक तल पर निर्मित आलों में विभिन्न आसनों में तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इस चौमुख मंदिराकृति पर एक चतुष्कोणीय शिखराकृति का अंकन है।

मंदिर के बाह्य भाग की संयोजना अधिष्ठान पर हुई है जिसमें विशाल दोहरा उपान है, पद्म है, एक सोपानयुक्त जगती-पीठ है, एक और पद्म है, कणि (कर्णिका), कपोत और व्यालवरि भी हैं। व्यालों का अंकन अत्यंत जीवंत बन पड़ा है। उनके साथ-साथ वेदी की संयोजना भी है जिसके राजसेनक भाग पर, प्रत्येक युगल भित्ति-स्तंभ के मध्य, मिथुनों और संगीत और नृत्य-मण्डलियों के अंकन हैं। मण्डप-पार्श्वों पर वेदी और कक्षासन से कपोतिका तक ऊंची एक जालीदार भित्ति का निर्माण हुआ है।

मण्डप के प्रवेश का द्वार-पक्ष पंचशाखा-प्रकार का है, जिसका अलंकरण पर्याप्त लंबमान उत्तरांग की कपोतिका से हुआ है; साथ ही ललाट-बिम्ब से, जिस पर यक्षों और यक्षियों से परिवृत आसनस्थ तीर्थंकरों का अंकन है। मुख्य विमान और अर्ध-मण्डप नामक विभागों के पीठ पर व्यालवरि की संयोजना नहीं है जो केवल महा-मण्डप और तीन अग्र-मण्डपों से संयुक्त रंग-मण्डप के पीठ में है। इससे इस मंदिर के वर्तमान विन्यास से भी यही ज्ञात होता है कि उसमें दो बार संवर्धन हुआ है। गर्भगृह और अर्ध-मण्डप की भित्तियों का अलंकरण भी साधारण है, उसमें इकहरे भित्ति-स्तंभ हैं जिनके शीर्ष पर विमानाकृतियों की सयोजना है; विमानाकृतियों के भद्र-विभाग के मकर-तोरण के नीचे एक देवकुलिका है, भद्र-विभाग के ऊपर एक बाह्य तोरणाकृति है जिसकी चूलिका पर एक विमान-अभिप्राय का त्रिकोण-तोरण है। इस मंदिर का बाह्य भाग समय-समय पर अत्यधिक और अव्यवस्थित रूप से परिवर्तित किया जाता रहा है। आरंभिक चालुक्य-शैली मे एक विशेष काल में निर्मित आसीन यक्षी-मूर्तियाँ सौभाग्यवश सुरक्षित रह गयी है, जो दक्षिण-पूर्व कोण पर स्थित हैं। मंदिर के सामने के भाग में एक मान-स्तंभ है। निर्मम विध्वंस और नाम-मात्र की पूजा के होते हुए भी यह भव्य मंदिर छठी शती से तेरहवीं शती तक के अपने अतीत की यशोगाथा कह रहा है।]

होयसलों द्वारा निर्मित स्मारक

होयसल स्थापत्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि अपने मोहक सौंदर्य, वैविध्य और चरम भव्यता पर स्वयं ही मन्त्र-मुग्ध हुई उनकी कला में एक मिश्रण भी है— विमान-शैली का, जिसमें वह आमूल-चूल डूबी है; और 'उत्तरी' रेख-नागर-प्रासाद-शैली का, जिसके बहुत से तत्त्वों को उसने स्वेच्छया और कल्पना-विभोर होकर स्वीकार कर लिया। संदेह नहीं कि उत्तरकालीन चालुक्यों के राज्यक्षेत्र में उस पर सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा और राजनीतिक भी। परिणाम यह हुआ कि अपने समय में प्रचलित विभिन्न कला-शैलियों को अंशतः आत्मसात् करके वह एक कला-समष्टि के रूप में प्रकट हुई। इन विभिन्न कला-शैलियों के अंश थे—चोल और पाण्ड्य-कलाओं का व्यावहारिक सम्मिश्रण, गंगों और नोलम्बों की कला-चारुता, कदंबों और आलूपों के कलाकारों की सिद्धहस्तता और मूर्ति-निर्माण के प्रति उत्साह। तात्पर्य यह कि होयसलों के स्थापत्य का उद्गम मैसूर के इस दक्षिणी भाग

में कल्याणी के चालुक्यों की शैली के सम्मिश्रण से हुआ; शिल्पांकन में जो अपमिश्रण हुआ उसमे स्थापत्य की मर्यादाओं के निर्वाह का योग भी रहा। माध्यम अर्थात् पाषाण आदि सामग्री के चुनाव में भी उन्होंने दोहरी नीति का परिचय दिया, अपने मुख्य स्मारकों में और विशेषत: अपने साम्राज्य के उत्तरी भाग में उन्होंने हलके हरे रंग के कोमल स्तर वाले पाषाण का उपयोग किया, जहाँ यह उपलब्ध है; और तमिलनाडु की सीमाओं को छूते दक्षिणी भागों में कठोर उत्तम ग्रेनाइट पाषाण का उपयोग किया। इन दो प्रकार की सामग्रियों के उपयोग के परिणामस्वरूप शैली पर भी प्रभाव पड़ा। उसकी अलंकरणों की व्यापकता, उसके आयामों और यहाँ तक कि उसकी मौलिक परिकल्पना में भी अंतर पड़ा।

होयसलों द्वारा निर्मित मंदिर नितांत आडंबरहीन और विशद रूप से संयोजित हैं। उनका निर्माण उस समय हुआ जब यह महान् राजवंश निरंतर निर्माण-कार्य में दत्तचित्त था और इस कार्य को रानी शांतला देवी का विशेष राजाश्रय भी प्राप्त रहा; जो जैन धर्म को उस समय भी समृद्ध करती रही जब उसके पति राजा विष्णुवर्धन ने रामानुज के प्रभाव में आकर वैष्णव धर्म अपना लिया। उनके मंदिरों में साधारणत: तारकाकार विन्यास-रेखा, जगती-पीठ और यहाँ तक कि 'उत्तरी' शिखर-संयोजना के अनुकरण को स्थान नहीं दिया गया। अंतर्भाग के शिल्पांकन बहिर्भाग के शिल्पांकनों से कठोर किन्तु समृद्ध हैं; वे स्तंभों, वितानों आदि पर कुशलतापूर्वक बड़ी संख्या में उत्कीर्ण किये गये हैं। अनुष्ठान के लिए निर्मित देवकुलिकाओं और गर्भालियों में भी उनका अंकन हुआ, जिनकी एक विशेषता तो है दर्पण की भाँति चमकते हुए पालिशवाला उनका तल; और दूसरी विशेषता अलंकरणों में संयम की मर्यादा है। ये विशेषताएँ उत्तरकालीन चालुक्यों द्वारा सुदूर उत्तर में निर्मित मंदिरों में भी अपनायी गयीं। मुख्य मूर्ति के कई प्रकार थे, उनके संहनन भी विविध थे, इन दोनों विशेषताओं के क्षेत्र की व्यापकता वास्तव में उन गौण मूर्तियों पर निर्भर थी जिनकी स्थापना अनुष्ठान संबंधी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अंतर्भाग में उप-गर्भालियों में और बहिर्भाग में मण्डपों में की जाती थी। मंदिरों में और बहुत-सी विविधताएँ रहीं किन्तु उनकी छत एक पीठिका-बध के रूप में समतल ही बनती रही, यद्यपि उसके अर्ध-मण्डप ने अपने मूल रूप को बनाये रखकर भी शुकनासा को अपनाने का उपक्रम किया।

होयसलों के शासनकाल में हासन जिले के श्रवणबेलगोला में अनेक लघु और विशाल मंदिरों का निर्माण होता रहा। एक मंदिर वहाँ तेरीन-बस्ती कहा जाता है क्योंकि उसके समीप ही एक मंदिर-यान का निर्माण हुआ है। वह वास्तव में बाहुबली-वसदि है, उसमें उनकी मूर्ति स्थापित है। गर्भगृह दक्षिण और उत्तर में खुला है। यान-सदृश वास्तु को वहाँ मण्डप कहते हैं, उसके चारों ओर बावन तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है। इस प्रकार के मण्डप के कई रूप जैन कला में प्रचलित हैं, जैसे नंदीश्वर, मेरु, जिनमें से यह मण्डप पहले प्रकार का है। उसपर उत्कीर्ण १११७ ई० के तिथ्यंकित अभिलेख में वृत्तांत है कि राजा विष्णुवर्धन

के राज-सार्थवाह् पोयसल शेट्टी और नेमि शेट्टी की माता शांति कब्बे और मचिकब्बे ने इस मण्डप का निर्माण कराया। शासन-बस्ती में गर्भगृह के सम्मुख अर्ध-मण्डप और नवरंग की संयोजना है। उसमें आदिनाथ की एक मीटर ऊँची मूर्ति स्थापित है, उसके परिकर में चमरधारी और यक्ष गोमुख और यक्षी चक्रेश्वरी अंकित हैं। इस मंदिर का निर्माण गंगराय ने १११७ ई० के आस-पास कराया और उसका नाम इंद्र-कुलगृह रखा। उसका यह नाम एक अभिलेख के कारण रखा गया जो वहाँ प्रवेश-द्वार के पास ही उत्कीर्ण है। ६.७×५.८ मीटर के एक लघु मंदिर मज्जगण्ण-बस्ती में गर्भगृह, अर्ध-मण्डप और नवरंग हैं और उसमें एक मीटर ऊँची अनंतनाथ की मूर्ति है। इस मंदिर की बाह्य भित्ति समतल है, केवल एक पुष्प-वल्लरी-युक्त बंधन-पट्टिका से उसका अलंकरण हुआ है। सवति-गध-वारण-बस्ती का यह नाम शांतला देवी की एक उपाधि के कारण रखा गया। २१ १०, मीटर के इस विशाल मंदिर में गर्भगृह, अर्ध-मण्डप और नवरंग हैं और उसके गर्भगृह में शांतिनाथ की १.५ मीटर ऊँची मूर्ति और सभा-मण्डप में यक्ष और यक्षी की मूर्तियाँ स्थापित हैं। प्रवेश-द्वार के समीप और पादपीठों पर उत्कीर्ण अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस मंदिर का निर्माण ११२३ ई० में शांतला देवी ने कराया।

दो सोपान-वीथिकाओं से संबद्ध होने के कारण एरडुकत्ते-बस्ती के नाम से प्रसिद्ध मंदिर में गर्भगृह में स्थापित आदिनाथ की मूर्ति के पादपीठ पर एक अभिलेख उत्कीर्ण था जिसमें वृत्तांत है कि इस मंदिर का निर्माण १११८ ई० में सेनापति गंगराय की पत्नी लक्ष्मी ने कराया। कृष्ण वर्ण के पाषाण से निर्मित होने के कारण कत्तले-बस्ती के नाम से प्रसिद्ध यह मंदिर चंद्रगिरि पहाड़ी पर सबसे बड़ा मंदिर है; ३८ मीटर लंबे और १२ मीटर चौड़े इस मंदिर में सांधार-गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, नवरंग, मुख-मण्डप और मुख-चतुष्की हैं। इसे पद्मावती-बस्ती भी कहते हैं। आजकल इसका शिखर नहीं है। यह आदिनाथ को समर्पित है। इसके पाद-पीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसका निर्माण पूर्वोक्त गगराय ने अपनी माता पोच्छिब्बे के कल्याण के लिए १११८ ई० में कराया था। पार्श्वनाथ-बस्ती (चित्र २०४) मे भी सब विभाग है—गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, नवरग, मुख-मण्डप और मुख-चतुष्की; इसमें ४.५ मीटर ऊँची मूर्ति है और यह चंद्रगिरि का सबसे ऊँचा मंदिर है। नवरग में उत्कीर्ण एक अभिलेख में जैन आचार्य मल्लिषेण मलधारी की मृत्यु का उल्लेख तो है किन्तु इस मंदिर के निर्माण-काल की सूचना नहीं है।

श्रवणबेलगोला के भण्डारी-बस्ती और अक्कण्ण-बस्ती नामक दो अन्य मंदिर भी उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहला इस क्षेत्र में सबसे बड़ा है, यह ८१ मीटर लंबा और २३ मीटर चौड़ा है और इसमें लगभग एक-एक मीटर ऊँची चौबीसों तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं और तीन प्रवेश-द्वार हैं जिनसे यह मंदिर-समूह कई भागों में दिखता है। मध्यवर्ती द्वार पर सुदर शिल्पांकन है और उसके ठीक सामने की मूर्ति बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की है। नवरग का

मध्यवर्ती अंकन स्तंभों पर आधारित है और उस पर तीन मीटर-वर्ग की एक शिला रखी गयी है । उसके अभिलेख में वृत्तांत है कि इस मंदिर का निर्माण नरसिंह-प्रथम (११४१-७३ ई०) के कोषाध्यक्ष हुल्ले ने ११५६ ई० में कराया था और कहा गया है कि इस मंदिर के लिए इस राजा ने भव्य-चूड़ामणि नाम दिया था और उसके संरक्षण के लिए सवनेरु नामक ग्राम का दान किया था। श्रवणबेलगोला में होयसल-शैली का एकमात्र यथार्थ प्रतिनिधि अक्कण्ण-बस्ती (चित्र २०५ क) है, जबकि अन्य प्राय: सभी गंग-शैली के हैं । इसमें भी गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, नवरंग, मुख-चतुष्की, पार्श्व-भित्तियाँ और कक्षासन हैं । गर्भगृह में १.५ मीटर ऊँची पार्श्वनाथ की मूर्ति है । अर्ध-मण्डप में पार्श्वनाथ के यक्ष और यक्षी की मूर्तियाँ हैं । स्तंभों पर भव्य शिल्पांकन है और रंग-मण्डप की छत का अलंकरण आकर्षक बन पड़ा है । बाह्य भित्ति समतल है, केवल उसके भित्ति-स्तंभों और स्तंभ-पंजरों की चूलिका पर लघु शिखर-अभिप्राय हैं । इसका शिखर भी बहुत समतल है; यद्यपि यह बहुतल-अर्पित शिखर है तथापि चतुष्कोणीय शिखर और स्तूपी के साथ यह होयसल-शैली की विशेषता लिये हुए है । इस मंदिर का निर्माण ११८१ ई० में चंद्रमौलि की पत्नी जैन महिला अचियक्क ने कराया था, वह बल्लाल-द्वितीय का एक ब्राह्मण मंत्री था । इससे व्यक्त होता है कि शासकीय अधिकारियों की पत्नियों द्वारा अपने पतियों के धर्म से भिन्न धर्म के लिए भी बिना किसी मतभेद के संरक्षण दिया जाना कितनी साधारण बात थी ।

हासन जिले के अन्य मंदिरों में से अग्रलिखित का उल्लेख किया जा सकता है । बस्ति-हल्ली का पार्श्वनाथ-मंदिर होयसल-शैली का है जिसके सभा-मण्डप में उत्तम पालिशवाले कृष्ण पाषाण से निर्मित चौदह स्तंभ हैं । प्रवेश-द्वार के दोनों ओर एक-एक उत्कीर्ण गज स्थापित हैं । उसके समीप स्थित और उससे छोटा, किन्तु कदाचित् उससे प्राचीन, आदिनाथ-बस्ती दक्षिण की विमान-शैली में है, और उसी के समीप स्थित शांतिनाथ-बस्ती होयसल-शैली में है । वहाँ एक मान-स्तंभ है जिसके शीर्ष पर एक सुसज्जित अश्व पूर्व की ओर उछाल भरता हुआ निर्मित है । मर्कुली की पंचकूट-बस्ती बल्लाल-द्वितीय के समय की है जिसका निर्माण उसके एक मंत्री बुच्चिमय्य ने ११७३ ई० में कराया था । उसमें आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, पुष्पदत और सुपार्श्वनाथ की मूर्तियाँ स्थापित हैं । उसमें द्वादशभुजी यक्षी चक्रेश्वरी की मूर्ति भी है । यह आरंभिक होयसल-शैली में है । हलेबिड में एक ही प्राचीर में तीन विशाल मंदिर हैं । सबसे पश्चिम में पार्श्वनाथ-मंदिर है जिसके सभा-मण्डप में ४.३ मीटर ऊंची एक उत्तम कृष्ण पाषाण की मूर्ति है । इसके दोनों ओर तीन-तीन और प्रवेश-द्वार पर दो यानी कुल आठ देवकोष्ठ हैं । नवरंग में दाहिनी ओर सर्वाह्ण यक्ष की एक सुगठित आसनस्थ मूर्ति और बायीं ओर कूष्माण्डिनी यक्षी की मूर्ति है । इस समूह के मध्य में स्थित और सबसे छोटे मंदिर के मूलनायक आदिनाथ हैं जिनके एक ओर गोमुख और दूसरी ओर चक्रेश्वरी का अंकन हुआ है । नवरंग में सरस्वती की एक आसीन मूर्ति है । पूर्व में स्थित शांतिनाथ-मंदिर में कोई शिल्पांकन नहीं है किन्तु उसके प्रवेश-द्वार चार मीटर ऊँचे हैं । उसमें

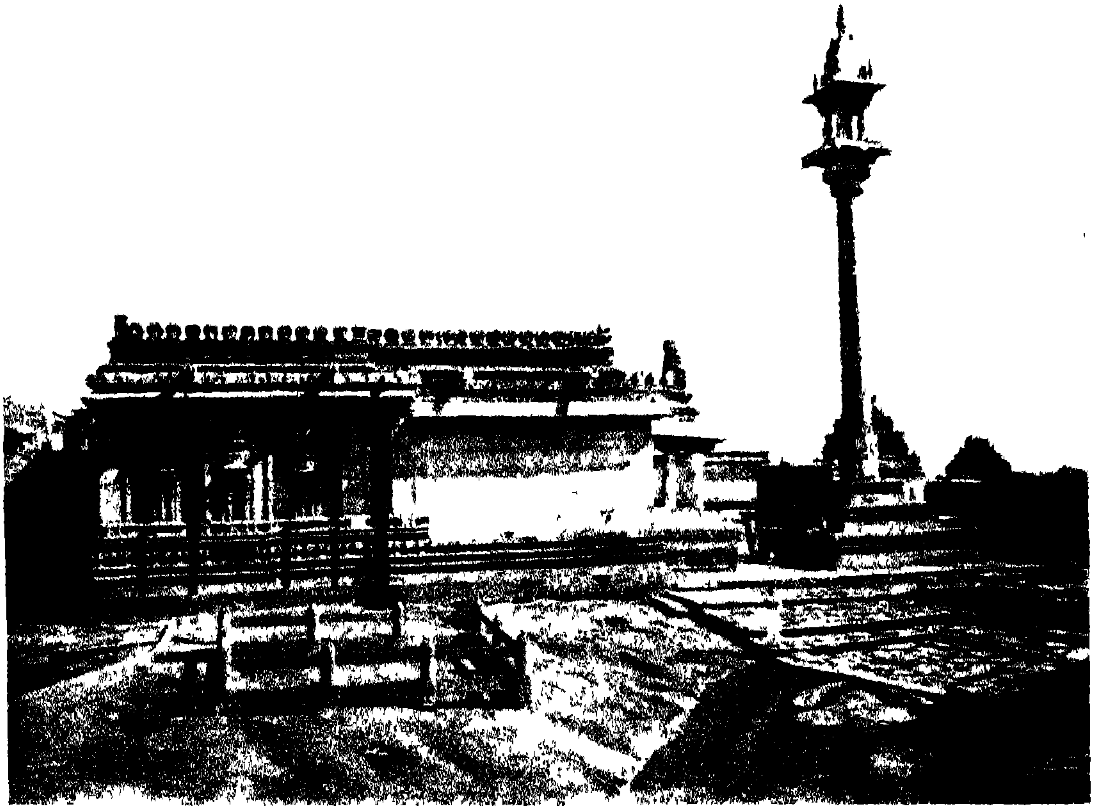


(क) लक्कुण्डी — ब्रह्म-जिनालय



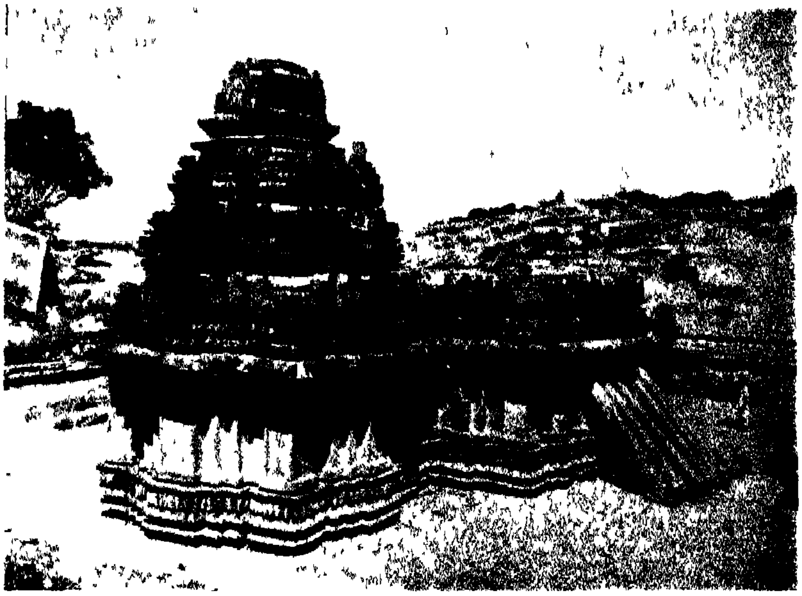
(ख) लक्कुण्डी — ब्रह्म-जिनालय, परवर्ती मण्डप

चित्र 203

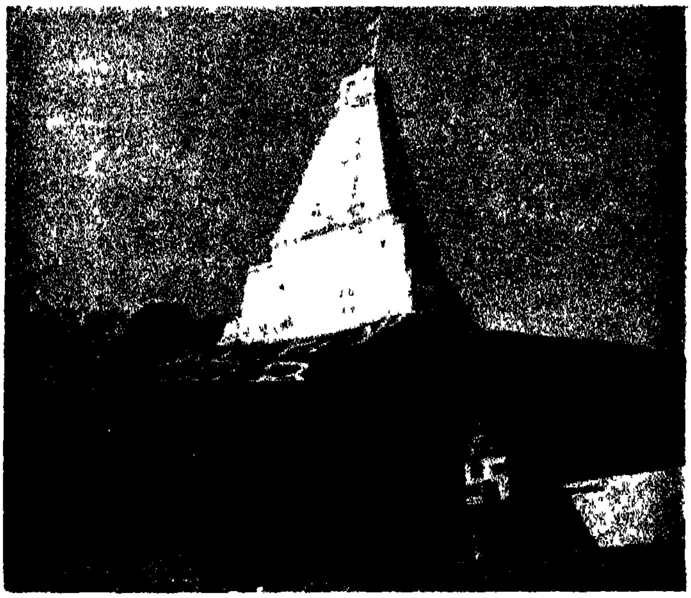


श्रवणबेलगोला — पार्श्वनाथ-बस्ती

चित्र 204



(क) श्रवणबेलगोला — अकण्ण-बस्ती

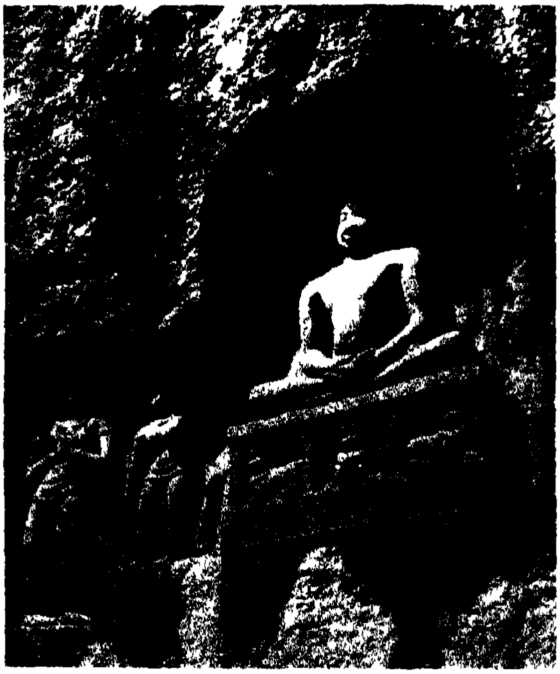


(ख) हनुमकोण्डा — कदलालय-बस्ती

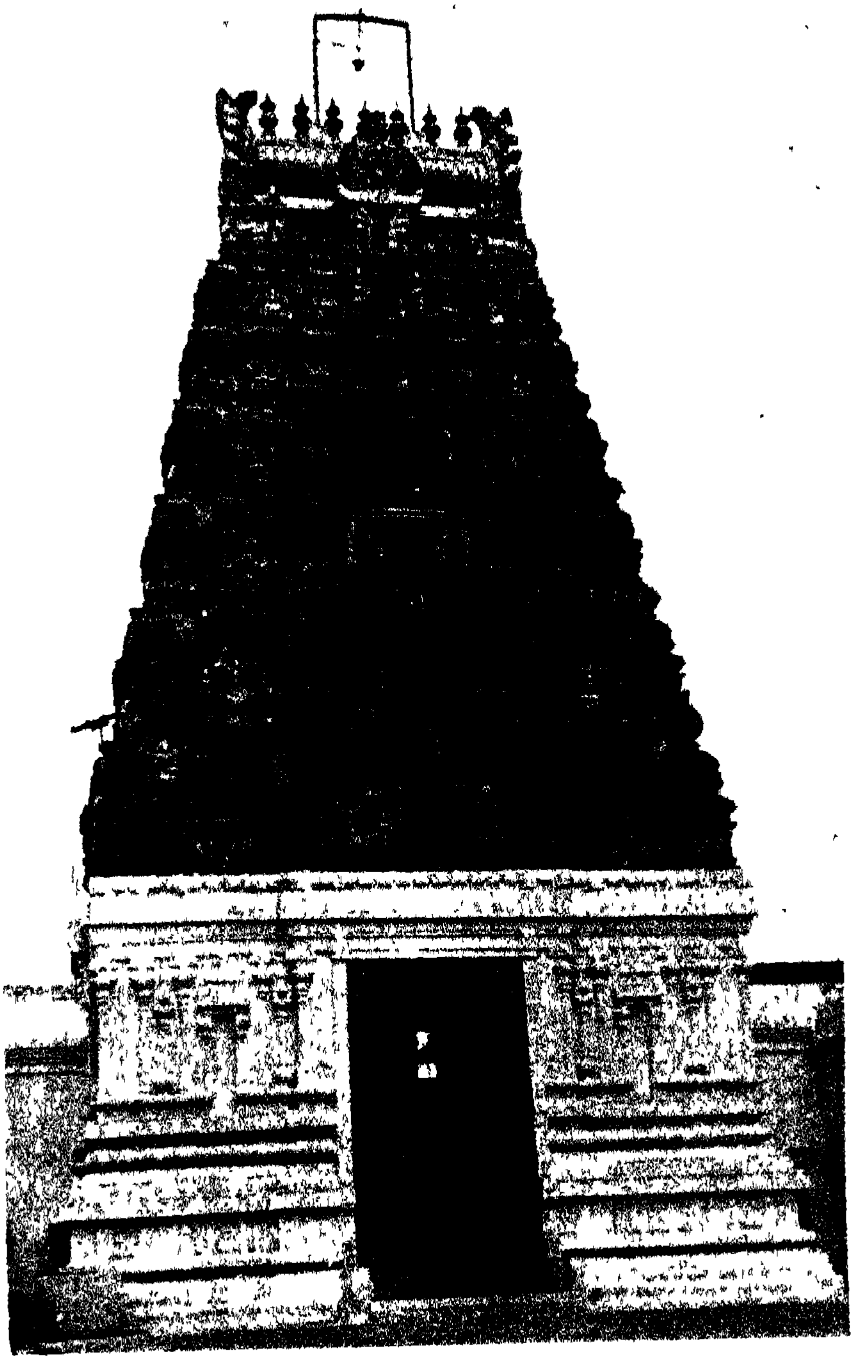
चित्र 205



(क) हनुमकोण्डा — तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शैलोत्कीर्ण मूर्ति

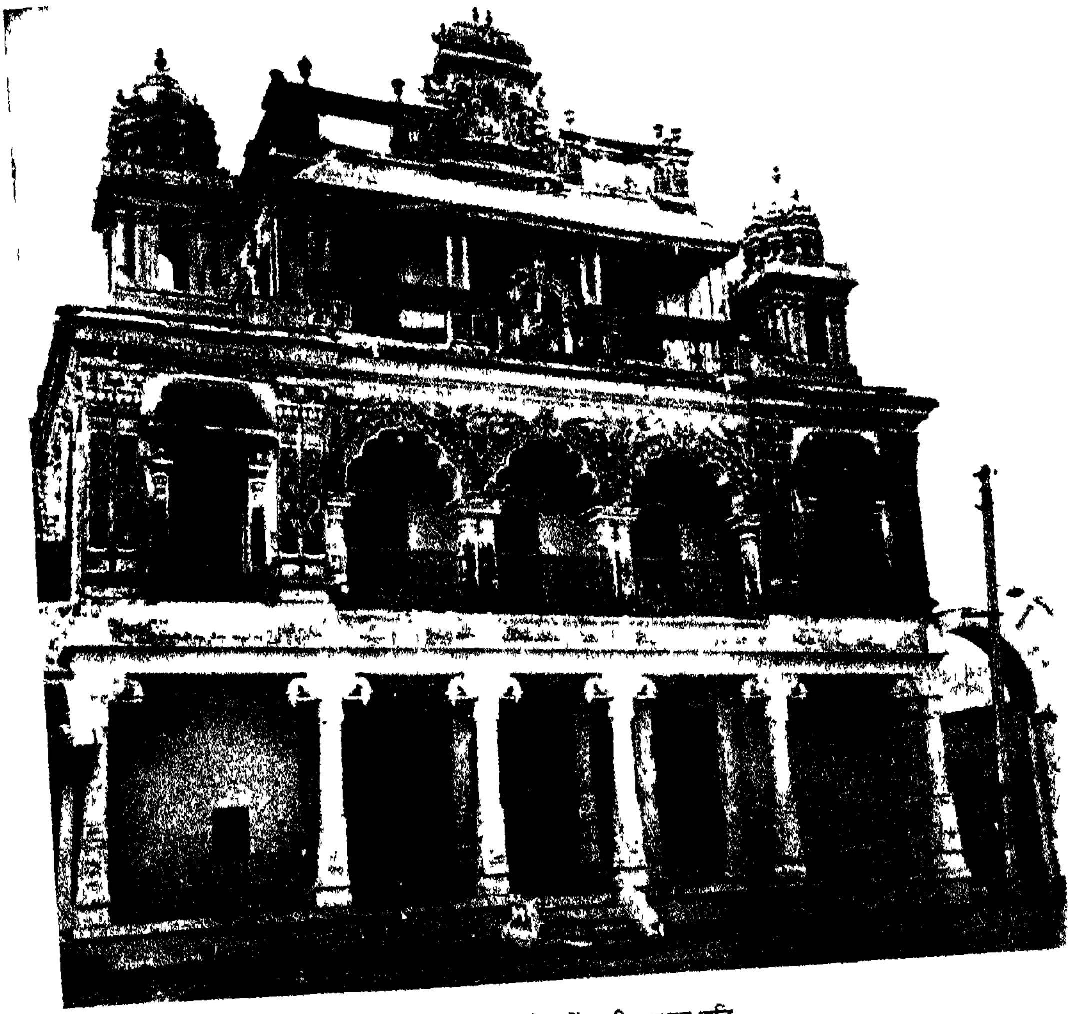


(ख) हनुमकोण्डा — अनुचर-सहित तीर्थंकर की शैलोत्कीर्ण मूर्ति



सित्तामूर — मंदिर का गोपुर

चित्र 207



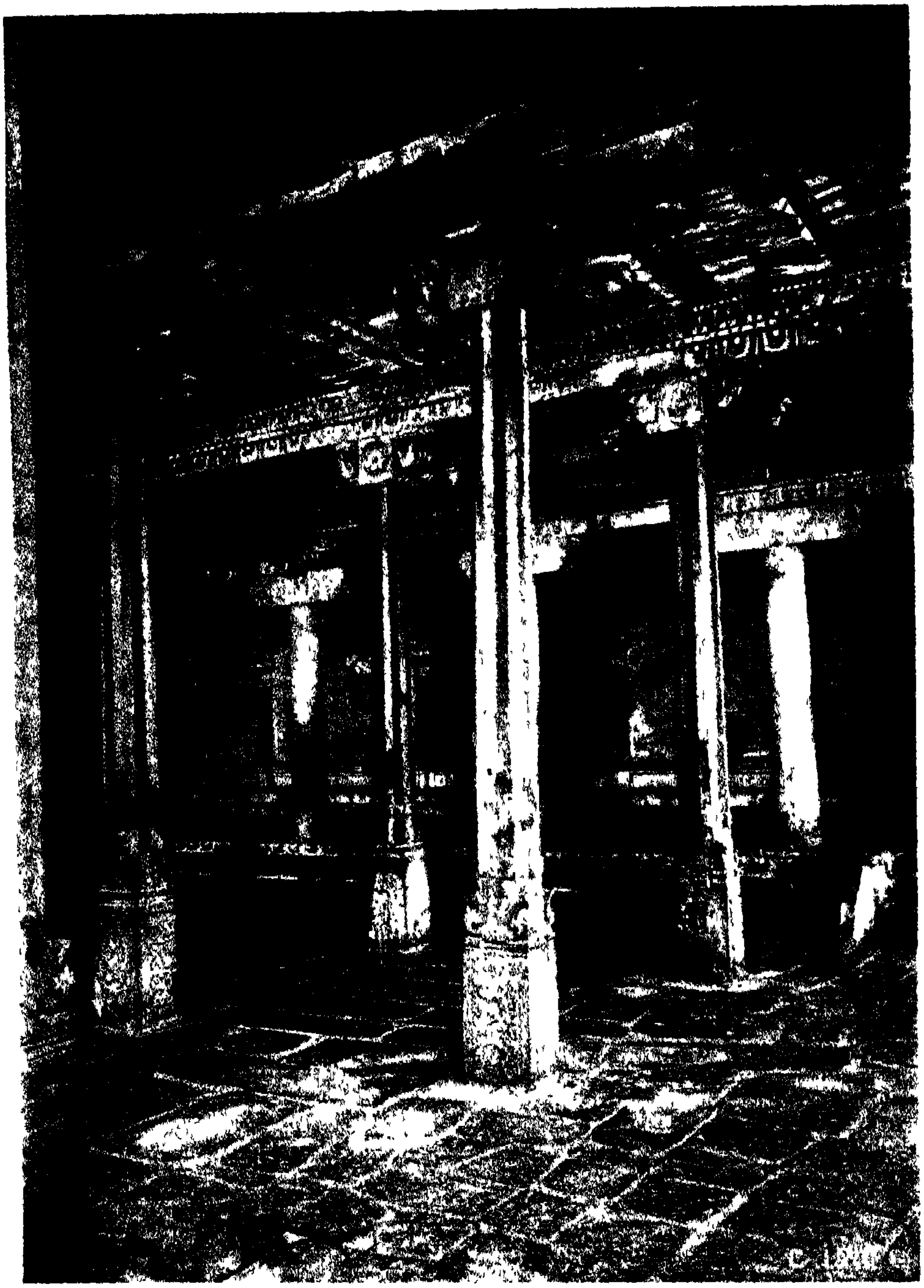
सित्तामूर — मंदिर में नवीन वास्तु-कृति

चित्र 208



तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् — मंदिर

चित्र 209



तिरुप्परत्तिककुण्रम् — वर्धमान-मंदिर, संगीत-मण्डप

चित्र 210

स्थापित शांतिनाथ की मूर्ति भी कुछ अधिक ही ऊँची है, उसके साथ किम्पुरुष और महा-मानसी का अंकन हुआ है। हलेबिड के ये मंदिर जैन मंदिरों के अधिकतम सर्वांग-संपन्न उदाहरण हैं और दक्षिणी विमान-प्रकार के मंदिरों की शैली इनमें अमिश्रित रूप में विद्यमान है। इनका अलंकरण भी आडंबरहीन है। इनमें एक मुख-मण्डप की संयोजना है जिसमें पार्श्व-वेदिका सहित सोपान-वीथि है। ११५५ ई० में निर्मित हेरगु की बस्ती अब खण्डहर होकर भी अपनी सूक्ष्म एवं विशिष्ट कला द्वारा आकृष्ट करती है। यह मंदिर पार्श्वनाथ को समर्पित है।

तुमकुर जिले के निट्टूर में बारहवीं शती के मध्य में निर्मित शातीश्वर-बस्ती में गर्भ-गृह, अर्ध-मण्डप, नवरंग और मुख-मण्डप हैं और नवरंग की छत में दिक्पाल के कोष्ठ की संयोजना है। गर्भालय की मूल मूर्ति अब वहाँ नहीं है, उसके स्थान पर एक नयी मूर्ति स्थापित कर दी गयी है। बाह्य भित्ति में दोहरे स्तंभोंवाले विमान-पंजर है जिनके अंत-रालों में तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं, कुछ पद्मासन और कुछ खड्गासन-मुद्रा में; किन्तु उनमें से अधिकांश अपूर्ण-निर्मित हैं। नवरंग की उत्तरी और दक्षिणी भित्तियों पर रिक्त देवकोष्ठ हैं, उनके पार्श्वों पर नारी-आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। उसी जिले में हेग्गेरे की पार्श्वनाथ-बस्ती कृष्ण पाषाण से निर्मित है; यह होयसल-शैली का एक सुंदर मंदिर है जिसके मण्डप और नवरंग पूर्णतया सुरक्षित हैं। यह इस क्षेत्र में अपने प्रकार की एक ही बस्ती है जिसके शुकनासा-युक्त नवरंग कृष्ण वर्ण के चार स्तंभों पर आधारित हैं। मध्यवर्ती क्षिप्त-वितान में कुण्डल-नालदण्ड हैं। अन्य वितान समतल-प्रकार के हैं। बाह्य भित्तियाँ भी समतल हैं, केवल उन-पर पुष्पवल्लरी-युक्त पट्टिकाएँ अंकित हैं। प्रतीत होता है कि इस मंदिर का निर्माण लगभग ११६० ई० में महासामंत गोविदेव ने अपनी पत्नी महादेवी नयकित्ति की स्मृति में कराया था।

मैसूर जिले में होसहोललु की पार्श्वनाथ-बस्ती होयसल-काल के प्राचीनतम मंदिर में से एक है, पर अब वह भग्नावस्था में है। ११९८ ई० में निर्मित उसके नवरंग में यक्ष धरणेंद्र और यक्षी पद्मावती की मूर्तियाँ स्थापित हैं। मैसूर जिले के ही बेल्लूर की विमलनाथ-बस्ती में एक ७६ सेण्टीमीटर ऊँची विमलनाथ की मूर्ति है जिसके पादपीठ पर तेरहवीं शती से पूर्व का एक अभिलेख है।

बंगलौर जिले में शांतिगत्ते की वर्धमान-बस्ती एक साधारण मंदिर है जिसमें स्थापित मूर्ति के पृष्ठभाग पर होयसल राजाओं की, विनयादित्य से नरसिंह-प्रथम (११४१-७३ ई०) तक की वंशावली दी गयी है; जिसके बाद यह अभिलेख समाप्त हो जाता है। इससे यह संभावना व्यक्त होती है कि यह मूर्ति इस अभिलिखित शिला पर ही, अनजाने या जानबूझ-कर उत्कीर्ण की गयी। यह मूर्ति प्रभावली सहित एक मीटर ऊँची है। इस मंदिर में पद्मावती, ज्वालामालिनी, सरस्वती, पंच-परमेष्ठी, नव-देवता आदि की धातुनिर्मित आसीन मूर्तियाँ हैं।

पश्चिमी समुद्र-तट के स्मारक

मसूर क्षेत्र में जैन धर्म के केंद्र अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक बद्धमूल थे क्योंकि श्रवणबेलगोला के आ सस जैनों का प्रभाव बहुत पहले स्थापित हो चुका था। अन्य केंद्रों में से शिमोगा जिले में स्थित हुम्चा महत्त्वपूर्ण है जिसका प्राचीन नाम पोम्बुर्चा है और जो सांतर राजाओं की राजधानी था। इस राजधानी को सहकार के पुत्र जिनदत्त ने बसाया था जो सातवीं-आठवीं शताब्दी में उत्तर से आया था। सबसे प्राचीन अभिलेख ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ का सांतर राजाओं का है। यहाँ की पंच-वसदि को उर्वी-तिलकम् भी कहते हैं। इसका निर्माण कदाचित् रक्कस गंग की पौत्री कत्तलदेवी ने कराया था। इस मंदिर की आधार-शिला की स्थापना कत्तलदेवी के गुरु और नंदिगण के प्रमुख श्री विजयदेव ने की थी। एक अन्य बस्ती का निर्माण उसके सामने लगभग ११०३ ई० में हुआ। पंच-बस्ती या पंचकूट-जिन-मंदिर एक आयताकार भवन है जिसकी ढलुवाँ छत एक-के-ऊपर-एक शिलाएँ रखकर विशेष रूप से कदंब-शैली में बनायी गयी हैं, उसके प्रतिबंध-प्रकार के एक ही अधिष्ठान पर एक पंक्ति में कई गर्भालय बने हैं। मंदिर से कुछ दूर एक उत्तुंग मान-स्तंभ है जिसके शीर्ष पर ब्रह्मदेव की मूर्ति है। इस मंदिर के उत्तर में एक अन्य दक्षिणाभिमुख मंदिर है जिसका आकार लगभग मध्यम है; यह 'दक्षिणी' विमान-शैली के और भी अंतिम चरण का मंदिर है। यह एक द्वितल भवन है जिसकी छत पर शिखर के सम्मुख भाग पर शुकनासी की सयोजना है।

यादवों और काकतीयों के शासनक्षेत्र के स्मारक

सेऊणदेश और देवगिरि के यादवों के शासनकाल में जैन धर्म के प्रभाव का परिचय मनमाड़ के निकट अंजनेरी के गुफा-मंदिरों से मिलता है; जहाँ किन्हीं अर्थों में, एलोरा की गुफा-कला की परंपरा चलती रही। नासिक से २१ किलोमीटर दूर एक पहाड़ी पर यहाँ एक वर्ग किलोमीटर से भी बड़े क्षेत्र में निर्मित मंदिरों के एक बहुत बड़े समूह में से सोलह सुरक्षित हैं। इनमें से द्वितीय समूह के मंदिर अधिक सुरक्षित हैं और अधिक आकर्षक भी। यहाँ के अभिलेखों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिलेख एक मंदिर के आलों पर उत्कीर्ण है जिसमें वृत्तांत है कि सेऊण-तृतीय ने शक. सं० १०६३ (११४१ ई०) में चंद्रप्रभ-स्वामी-मंदिर को तीन दुकानों का दान किया; एक अन्य अभिलेख के अनुसार वत्सराय नामक एक धनाढ्य सार्थवाह ने एक दुकान और एक घर का दान किया। इस मंदिर के खण्डहरों में एक प्रवेश-द्वार पर अभी भी एक चंद्रशिला बची हुई है और यद्यपि ध्वस्त गर्भालय रिक्त पड़ा है पर उसके प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण पार्श्वनाथ की दो खड्गासन मूर्तियाँ अभी भी खण्डित अवस्था में विद्यमान हैं; और इनमें से एक मंदिर के प्राचीर में एक पार्श्वनाथ की तथा एक किसी अन्य तीर्थंकर की मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं।

दक्षिणापथ के पूर्वी भाग अर्थात् आधुनिक आंध्र प्रदेश में जैन वास्तु-अवशेष अधिकतर रायलसीमा से तेलंगाना तक प्राप्त होते हैं, यद्यपि इनसे भी प्राचीन अवशेष और खण्डहर समुद्र-तट के क्षेत्रों में यत्र-तत्र विद्यमान हैं। इसका पहला कारण यह हो सकता है कि समुद्र-तट के क्षेत्रों में सुदृढ़ और व्यापक राजाश्रय पहले बौद्ध धर्म को और उसके बाद ब्राह्मण-हिन्दू धर्म को मिला, इस कारण उनके परंपारगत संपर्क इतने सुदृढ़ हो गये कि उसके रहते इस क्षेत्र में जैन धर्म का प्रवेश कठिन हो गया। यह प्रवेश श्रवणबेलगोला के केंद्र से आरंभ हुआ और वहाँ से उसका प्रसार एक ओर रायलसीमा से होकर समुद्र-तट और दूसरी ओर उड़ीसा से होकर समुद्र-तट के क्षेत्रों में हुआ, जैसा कि वासुपूज्य के समय की परपरागत प्रचार-कथा से ज्ञात होता है; तात्पर्य यह कि ईसवी सन् के आरंभिक समय और राष्ट्रकूट-काल के बीच जैन धर्म को राज्य से पहली बार व्यापक आश्रय और समर्थन मिला। कल्याणी के चालुक्यों, काकतीयों और वेल्नाटी के चोलों के शासनकाल में कर्मकाण्ड और स्थापत्य संबंधी केंद्रों की प्रतिष्ठा अत्यधिक सबल और व्यापक हो गयी, किन्तु उस समय के अवशेष अधिकतर मूर्तियों के रूप में ही प्राप्त होते हैं। मुख्य-प्राप्ति स्थान हैं : हैदराबाद के समीप पोट्लाचेरुवु (आधुनिक पाटनचेरु), वर्धमानपुर (वड्डमनी), प्रगतुर, रायदुर्गम, चिप्पगिरि, हनुमकोण्डा, पेड्डतुम्बलम (अडोनी के समीप), पुडुर (गडवल के समीप), अडोनी, नयकल्ली, कंबदुर, अमरपुरम, कोल्लिपाक, मुनुगोड्डु, पेनुगोण्डा, नेमिम्, भोगपुरम आदि। इन स्थानों पर विद्यमान मंदिरों के प्रकार से या स्थापत्य संबंधी शिल्पांकनों से यह अत्यंत स्पष्ट है कि स्थापत्य संबंधी कुछ विशेष शैलियों ने इस निर्माण की धारा को प्रभावित किया, यद्यपि यह कहना उचित होगा कि इस निर्माण में ऐसी कोई विशेषता नहीं जिसे जैन शैली नाम दिया जा सके। इतना अवश्य हुआ कि किसी विशेष क्षेत्र या काल में निर्माण का विकास जैनों के द्वारा विशेष रूप से किया गया। निष्कर्ष रूप में हम एक से अधिक भिन्न शैलियों का नामोल्लेख कर सकते हैं : सोपान-मार्ग और तल-पीठ सहित निर्माण की कदंब-नागर-शैली, जिसके अंतर्गत चारों पार्श्वों पर एक समतल पट्टी होती है, और अधिकतर तीन गर्भालयों-सहित एक त्रिकूटाचल होता है और जिसके प्रत्येक गर्भालय पर एक शिखर होता है; और अन्य शैली के जो मंदिर बच रहे हैं उन सबमें छत पर शिखर के साथ अपने-आप में पूर्ण एक शुकनासी होती है जो अंतर्भाग में स्थित अर्ध-मण्डप के ठीक ऊपर पड़ती है। शिखर निश्चित रूप से चतुष्कोणीय होता है, जिसे दक्षिण में प्रचलित शब्दावली में नागर-वर्ग का शिखर कहा जा सकता है, और इस सबके आधार पर कहा जायेगा कि मंदिर के आकार में परिवर्तन का अर्थ है निर्माण-संबंधी विशिष्टता में विस्तार जो पश्चिमी कर्नाटक के समुद्रतटीय क्षेत्र में और अधिकतर कदंब-मण्डल में दृष्टिगत होता है; यह विस्तार जातीय और स्थानीय स्तर पर काष्ठ या पाषाण से निर्मित पारंपरिक मंदिरों की शैली में एक मिश्रण मात्र है और केवल विमान-शैली के मंदिरों के लिए प्रतिबद्ध क्षेत्र में ही सीमित रहा, और उत्तर के रेख-प्रासाद में उसे कोई उल्लेखनीय स्थान न मिल सका; केवल इसकी शुकनासी को वहाँ व्यापक रूप से अपनाया गया जो कल्याणी के चालुक्यों की अपनी विशेषता थी। इसके तल-पीठों वाले शिखर के साथ शुकनासी भी होती है और

जिसकी बाह्य-भित्तियाँ कभी-कभी ही मध्य में संयोजित बंधन-पट्टिकाओं के अतिरिक्त समतल हुआ करती हैं। मंदिर का ऐसा रूप-प्रकार कुर्नूल जिले के बड़े भाग में कृष्णा और तुंगभद्रा के तटों पर मर्मुनगल, प्रगतुर, बेकम, सिमसिल, पापनाशनम् आदि में दृष्टिगत होता है। जैन धर्म में मंदिर के इस प्रकार के अपनाये जाने का मुख्य कारण उसकी समतलता और आडंबरहीनता ही है।

मध्यवर्ती और पूर्वी आंध्र प्रदेश के कुर्नूल, गुण्टूर और कृष्णा जिलों के साथ ही अन्य क्षेत्र में भी जिनका प्रचलन रहा और ब्राह्मणों और जैनों ने जिनका अपनी-अपनी शब्दावली में प्रयोग किया ऐसी स्थापत्य संबंधी परंपराओं के माध्यम से मूर्ति-शिल्प की जो शैली सर्वसाधारण में प्रचलित हुई उसका विवेचन किया जा रहा है। इस शैली के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के मंदिरों की लघु अनुकृतियाँ स्तंभाकार पाषाणों पर उत्कीर्ण की जाती हैं। पूर्वी चालुक्यों के राजाश्रय और राज्यक्षेत्र में इसका बहुत प्रचलन रहा, जैसा कि महानदी, सत्यवोलु, यल्लेश्वरम् आदि में निर्मित ब्राह्मण्य शिल्पकृतियों में दृष्टिगत होता है। जैनों की शिल्पकृतियाँ वेमुलवाड, पद्मकाशी, विजयवाडा आदि में प्राप्त हुई हैं, उनमें साधारणत: चार तीर्थंकरों सहित चौमुख और चौबीस तीर्थंकरों सहित चौबीसियाँ हैं जिनमें पद्मासन या खड्गासन-मुद्रा में क्रमश: एक और छह मूर्तियाँ प्रत्येक पार्श्व पर अंकित होती हैं।

वर्धमानपुर, प्रगतुर आदि जैसे महत्त्वपूर्ण जैन केंद्रों में त्रिकूटाचल-मंदिरों की अनुकृतियाँ बनीं, किन्तु पुडूर, कदंबूर, पद्मकाशी, चिप्पगिरि और पेड्डुतुम्बलम् में इन अनुकृतियों में केवल एक ही शिखर की संयोजना हुई है।

पुडूर के मंदिर का नाम पल्लव-जिनालय है, जिसका निर्माण कल्याणी के चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) के एक सामंत हल्लकरशु के संरक्षण में उसी के द्वारा दान की गयी भूमि पर द्रविड़-संघ के भट्टारक जैन गुरु कनकसेन ने कराया था। इस मंदिर में गर्भगृह, अंतराल और अलिंद है। कदंबूर में भी ऐसे तीन मंदिर हैं पर उनके शिखर तलपीठ सहित हैं; उनमें से एक उत्तराभिमुख मंदिर अन्य मंदिरों के समान ही है पर उसमें गर्भगृह, अर्धमण्डप, एक लंबे स्तंभ-युक्त प्रशाल और एक पाषाण-निर्मित प्राकार की संयोजना है। इसके निर्माण में एक विशेषता यह है कि दोनों ओर परतदार पाषाण से निर्मित भित्तियों से इसमें एक दोहरा तलकक्ष बनाया गया है, उसमें मिट्टी की भरत की गयी है और इससे भित्तियों की रेखा कोषाकार हो गयी है। प्राकार के प्रवेश के द्वार-पक्ष पर पूर्णघटों का और उसके ललाट-बिम्ब पर एक तीर्थंकर-मूर्ति का अंकन हुआ है। स्वयं मंदिर के प्रवेश के दोनों द्वार-पक्षों पर दो-दो खड्गासन तीर्थंकर-मूर्तियाँ और ललाट-बिम्ब पर एक पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण है। अन्य मंदिरों (ब्राह्मण्य) में मल्लिकार्जुन नामक मंदिर के कपिशीर्ष-युक्त प्राकार की भित्तियों पर दो पंक्तियों में अनेक जैन शिल्पांकन उत्कीर्ण हैं जिनमें विविध दृश्य हैं : जैन मंदिर के समक्ष पूजक-गण; मंदिर से निकलता हुआ एक दिगंबर मुनि;

स्थापित की हुई एक खड्गासन तीर्थंकर-मूर्ति और उसके दाहिनी ओर व्रत लेती हुई एक दर्शनार्थी महिला जिसके हाथ में एक कलश दिखाया गया है। व्रत एक जैन गुरु के द्वारा दिया जा रहा है जिसने अपना दाहिना हाथ ऊँचा कर रखा है और बायें हाथ में पिच्छ ले रखा है। साथ में एक साधु और है जो एक हाथ को इस चतुराई से नीचा किये है कि उसकी नग्नता छिप जाये। नीचे की पंक्ति में कुछ और भी दृश्य हैं : एक मुनि और दो आर्यिकाएँ, तीनों दिगंबर-परंपरा के प्रतीत होते हैं; इनके साथ उत्तम परिधान धारण किये हुए दो पुरुष और एक महिला भी दिखाये गये हैं। ये शिल्पांकित दृश्य मूलतः इस मंदिर के अंग रहे होंगे जिसे अब मल्लिकार्जुन-मंदिर कहते हैं और जो वीरशैव-मंदिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया होगा और उसमें की जैन वस्तुएँ नष्ट कर दी गयी होंगी; पर वहाँ एक अभिलेख अब भी ऐसा बच गया है जिससे ज्ञात होता है कि लगभग १२५८ ई० में इस मंदिर का इरुगोल द्वारा जीर्णोद्धार कराया गया था और उसकी पत्नी आलूपादेवी जैन परिवार की थी।

अमरपुरम् में तैलगिरि दुर्ग में ब्रह्म-जिनालय नामक एक उत्तराभिमुख पार्श्वनाथ-मंदिर है। यह स्थान अनंतपुर जिले के दक्षिणी भाग में है और यहाँ कल्याणी के चालुक्य शासक तैल-द्वितीय की एक सैनिक चौकी थी। यहाँ के भी एक १२२८ ई० के अभिलेख में आलूपादेवी की दानशीलता की चर्चा है। यह उल्लेखनीय है कि प्रसन्न-पार्श्वनाथ-वसदि के दूसरे नाम से प्रसिद्ध इस मंदिर का पुजारी चेल्ल पिल्ल शित्तन्नवासल का एक जैन ब्राह्मण था और तमिलनाडु में पुडुक्कोट्टै के पास पोन्नमरावती-सीमा में रहता था। यहाँ के एक अभिलेख में जीर्णोद्धार के वृत्तांत में मंदिर के विभिन्न भागों के लिए स्थापत्य-संबंधी शब्दावली आयी है, जैसे, शिखर, महा-मण्डप, भद्र, लक्ष्मी-मण्डप, गोपुर, परिसूत्र, मान-स्तंभ, मकर-तोरण आदि; उसमें यह भी लिखा है कि यह मंदिर उपान से स्तूपी तक सभी उपर्युक्त भागों के साथ नया ही बनाया गया है; केवल मूर्तियों और अनुष्ठान से संबद्ध सामग्री ही पुरानी है जिसका उसमें उपयोग किया गया है। इस शब्दावली से स्पष्ट होता है कि मंदिरों के जो भी रूप उस समय प्रकाश में आये वे मूलतः 'दक्षिणी' विमान-शैली से सबद्ध थे जिसके अंतर्गत उक्त शब्दावली का प्रचलन रहा।

हनुमकोण्डा की कडलाय-वसदि अर्थात् पद्मवासी-मंदिर (चित्र २०५ ख) काकतीय वंश के द्वितीय शासक और प्रथम स्वायत्त राजा प्रोल के समय के मंदिरों में से एक है। इसका निर्माण मंत्री बेतन की पत्नी मैलमा देवी के संरक्षण में हुआ था। यह मंदिर एक बड़े टीले पर स्थित है, इसका शिखर ईंटों से बना है और गर्भालय प्राकृतिक गुफा के रूप में है और उससे संबद्ध एक मण्डप है; सभी उत्तराभिमुख हैं। पास की ही एक चट्टान पर उत्कीर्ण मूर्तियों में एक कमलस्थित पार्श्वनाथ (चित्र २०६ क) की भी है, उसपर छत्र धारण किये हुए जो नारी-आकृति अंकित है, उसे प्रायः अपने पति के साथ उपस्थित मैलमा (चित्र २०६ ख) माना जाता है। इस मंदिर में ग्रेनाइट पाषाण से निर्मित चौमुख और चौबीसी के समूह हैं। इस मंदिर का काल लगभग १११७ ई० है।

कुमार तैलप द्वारा निर्मित कोल्लिपाक जैन मंदिर अब ध्वस्त अवस्था में है और पश्चिमी कर्नाटक के लक्ष्मेश्वर-मंदिर की भाँति यह मंदिर चोलों के आक्रमण के समय ध्वस्त कर दिया गया था। दक्षिणापथ में जैनों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केंद्रों में इसकी भी गणना थी। इस स्थान पर हुए जैन क्रिया-कलापों का परिचय यहाँ प्राप्त हुए इन अवशेषों से मिलता है : यहाँ के कुछ अपेक्षाकृत लघु मंदिरों के द्वार-पक्षों पर अंकित हैं—पूर्ण-घट, मान-स्तंभ, आदिनाथ और पद्मावती यक्षी की मूर्तियाँ; पाषाण का एक तोरण; आदि।

विजयनगरम् और भीमुनिपटनम् के मध्य स्थित भोगपुरम में पार्श्वनाथ का एक राजराज-जिनालय नामक जैन मंदिर है जिसका निर्माण मन्नम नायक ने ११८७ ई० में अनंतवर्मन राजराज के शासनकाल में कराया था। अब केवल तीर्थंकर की मूर्ति बच रही है जो एक मीटर ऊँची है और सभी दृष्टियों से आकर्षक है।

चिप्पगिरि से कलचुरि राजा बिज्जल के जीवन का घनिष्ठ संबंध रहा है। पहाड़ी पर स्थित यहाँ का जैन मंदिर कदाचित् उसी ने बनवाया था, या फिर वह उससे कुछ ही पहले बना था। इसमें गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, महा-मण्डप और मुख-मण्डप हैं। महा-मण्डप नवरंग-प्रकार का है जिसके मध्य में चार स्तंभों पर आधारित अंकण है। यह उल्लेखनीय है कि काकतीयों और उत्तरकालीन चालुक्यों द्वारा निर्मित मंदिरों की भाँति इस मंदिर में भी नवरंग के चारों ओर कक्षासन की सयोजना है।

के० वी० सौंदर राजन

तमिलनाडु के स्मारक

तमिल देश के जैन स्मारकों के प्रेरणा-स्रोतों और उसके निर्माण-कार्य का परिज्ञान एक समस्या है क्योंकि उनमें से अधिकांश का निर्माण पल्लव-काल से विजयनगर-काल तक के विभिन्न अवसरों पर विभिन्न क्रमों में होता रहा। इनमें से कुछ स्मारकों का तो बाद में, वरन् अभी-अभी तक, अत्यधिक नवीनीकरण भी होता रहा। अतएव उन्हें इस पुस्तक में निर्धारित विभागों के अंतर्गत किसी विशेष काल का मान लेना या उसके आधार पर उनका विवेचन करना अत्यंत कठिन है। इसके फलस्वरूप, जिनका निर्माण तो चोल-काल में हुआ किन्तु उनमें संवर्धन या उनका नवीमीकरण विजयनगर-काल में हुआ, ऐसे स्मारकों का विवेचन दो अध्यायों, अर्थात्, ६००-१००० ई० और १३००-१८०० ई० के अंतर्गत किया जाना चाहिए, और इनके मध्य के काल को या तो पूर्ववर्ती काल का समारोप मानना होगा या उत्तरवर्ती काल का समारंभ। इन स्मारकों को किसी विशेष काल से संबद्ध मानने में जो समस्याएँ हैं उनकी प्रकृति का बोध अग्रलिखित उदाहरणों से ही सकेगा।

तिरुपरुत्तिकुण्रम् के जैन मंदिरों की तिथियाँ पल्लव-काल से विजयनगर-काल तक की हैं। उदाहरण के लिए, चंद्रप्रभ-मंदिर में राजसिंह द्वारा निर्मित पल्लव-मंदिरों की शैली की सभी लाक्षणिक विशेषताएँ विद्यमान हैं किन्तु क्रमिक नवीनीकरण से उसकी विन्यास-रेखा और मूल्यांकन में शोचनीय परिवर्तन हो गया है जिससे अब नवीनीकृत रूप में इस मंदिर की तिथि विजयनगर-काल की प्रतीत होने लगी है, यद्यपि उसकी विन्यास-रेखा, आकार-प्रकार और विस्तार के मूलतः पल्लव होने में कोई संदेह नहीं।[1]

इसी प्रकार, त्रैलोक्यनाथ या वर्धमान-मंदिर या त्रिकूट-बस्ती के नाम से प्रसिद्ध यहाँ के मंदिरों का मुख्य समूह पल्लव सिंह वर्मा (लगभग ५५० ई०) के समय का है। इसका प्रमाण यह है कि पल्लवों के प्राचीनतम द्विभाषीय ताम्रपट्टिका-अभिलेख के अनुसार सिंहवर्मा और उसके पुत्र सिंहविष्णु से इस मंदिर को कोई दान प्राप्त हुआ था।[2] तथापि, पल्लव-मंदिर का अब कोई चिह्न तक नहीं बच रहा है। यहाँ तक कि इस मंदिर के तीनों विमानों की संयोजना चोल-शासक कुलोत्तुंग-प्रथम के काल (१०७०-१११८ ई०) से पूर्व की नहीं हो सकती क्योंकि इस मंदिर में प्राप्त हुए प्राचीनतम अभिलेख इसी के शासनकाल के हैं। इसके अतिरिक्त, चोल-मंदिरों का भी विजयनगर-काल में नवीनीकरण हुआ जब कि बुक्कराय-तृतीय के सेनापति इरुगप्प ने संगीत-मण्डप का निर्माण कराकर इस मंदिर का संवर्धन किया। प्राकार का निर्माण भी चोल राजा राजराज-तृतीय के सामंत काडर द्वारा संवर्धन के रूप में हुआ। इस सामंत को स्थानीय अभिलेखों में अलगिय पल्लवन (कोप्पेरुनजिंग) कहा गया है। सब मिलाकर, इस मंदिर-समूह का मुख्य निर्माण-कार्य पल्लव, चोल और विजयनगर, तीन कालों में संपन्न हुआ।[3]

तमिल देश के एक महत्त्वपूर्ण जैन केंद्र तिरुमलै (उत्तर अर्काट जिला) के मंदिर-समूह के निर्माण-कार्य की कथा भी प्रायः इसी प्रकार की है। यहाँ के मंदिरों का निर्माण-कार्य प्राकृतिक गुफाओं और प्राचीन शैलोत्कीर्ण चैत्यवासों के आसपास किया गया। इस मंदिर-समूह के दो भाग हैं जिनका निर्माण-कार्य राष्ट्रकूट, चोल और विजयनगर-कालों में संपन्न हुआ। विमान में चोल-काल की विशेषताएँ अधिक हैं और मण्डप और गोपुर में विजयनगर-काल की। कोयंबटूर जिले के विजयमंगलम् में एक जैन मंदिर है, उसके सभी भाग समुचित अनुपात में हैं और उसका निर्माण गंग और विजयनगर-कालों में हुआ।

1 देखिए अध्याय 19.

2 'पल्लनकोइल कॉपर-प्लेट ग्राण्ट ऑफ पल्लव सिंहवर्मन्', ट्रैंजैक्शंस ऑफ दि आर्क्योलॉजिकल सोसाइटी ऑफ साउथ इण्डिया, 1958-59.

3 इन सभी मंदिरों के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए रामचंद्रन् (टी एन) तिरुपरुत्तिकुण्रम एण्ड इट्स टेंपल्स, बुलेटिन ऑफ द मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियम, नई दिल्ली, जनरल सेक्शन, 1, बी; 1934. मद्रास./सोजोप्राफ्स ऑफ द गवर्नमेण्ट म्यूजियम, मद्रास.

इस प्रकार के उदाहरण अनेक हैं। दक्षिण अर्काट जिले के सित्तामूर में आज भी जैन भट्टारक की गद्दी है। इसे भी इस प्रकार के उदाहरणों में प्रमुख माना जा सकता है। सित्तामूर के मंदिरों का निर्माण-कार्य चोल और विजयनगर-कालों में दो चरणों मे हुआ (चित्र २०७)। ये एक प्राकृतिक गुफा के आसपास स्थित हैं जिसे काट-छाँटकर एक मंदिर का रूप दे दिया गया है। इस स्थान पर हाल के बने भवन भी है (चित्र २०८)।

उत्तर अर्काट जिले के करण्डै और दक्षिण अर्काट जिले के तिरुनरुनगोण्डै नामक दो और भी स्थान उल्लेखनीय हैं जहाँ इसी प्रकार का निर्माण-कार्य हुआ।

रंगाचारी चंपकलक्ष्मी

तमिलनाडु के सबसे अधिक प्रभावशाली मंदिर-समूहों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है: चिंगलपट जिले के जिन-कांची अर्थात् तिरुपरुत्तिकुण्रम् का त्रैलोक्यनाथ-मंदिर-समूह; उत्तर अर्काट जिले के पोलूर तालुक में तिरुमलै की प्राकृतिक गुफाएँ एवं निर्मित मंदिर; और कोयंबत्तूर जिले के विजयमंगलम् के मूलतः गंग-काल मे निर्मित चंद्रनाथ-मंदिर के बाह्य भाग में एक स्तंभ-युक्त मण्डप के रूप में विजयनगर-काल में किया गया संवर्धन।

चिंगलपट जिले के तिरुपरुत्तिकुण्रम् के जिन-कांची-समूह में प्रवेश के लिए सघन प्राकार-बंध के उत्तर में गोपुर-शैली का एक विशाल द्वार है। इस समूह का महत्त्व इसलिए है कि उसके विभिन्न मंदिरों के 'दक्षिणी' विमान-शैली के गज-पृष्ठ विविध प्रकार के हैं (चित्र २०९)। उदाहरण के लिए: नीचे चतुष्कोणीय और ऊपर अर्ध-वृत्ताकार, नीचे से ऊपर तक अर्ध-वृत्ताकार, नीचे से ऊपर तक वर्तुलाकार। नीचे चतुष्कोणीय और ऊपर अर्ध-वृत्ताकार, गज-पृष्ठ वाले वासुपूज्य-गर्भालय का पाषाण-निर्मित अधिष्ठान उत्तरकालीन चोलों के समय का है और इसके प्रस्तार की भित्तियाँ ईंट और चूने से बनी है। इस मंदिर-समूह का त्रिकूट-बस्ती नामक मंदिर इसलिए भी प्रसिद्ध है कि उसमें स्थापित मूर्तियाँ काष्ठ-निर्मित है। इसका संगीत-मण्डप अत्यधिक मूल्यवान् है क्योंकि एक तो इसमें कई अभिलेख हैं और दूसरे इसमें जैन श्री-पुराण को चित्रित किया गया है और चित्रों के साथ उनके शीर्षक भी दिये गये हैं।

त्रैलोक्यनाथ-मंदिर-समूह में एक उन्नत प्राकार के भीतर उसी के अंतर्भाग से सटे हुए दो उप-समूह हैं, एक भीतर की ओर मध्य में और दूसरा बाहर की ओर।

भीतर की ओर मध्य में स्थित उप-समूह में वर्धमान का एक अर्ध-वृत्ताकार मंदिर है जिसके एक ओर तीर्थंकर पुष्पदत का और दूसरी ओर नेमिनाथ की यक्षी धर्मादेवी का मंदिर है। यह मंदिर इन दोनों मंदिरों का एक भाग बन गया है। इन तीनों का एक ही अर्ध-मण्डप और एक ही मुख-

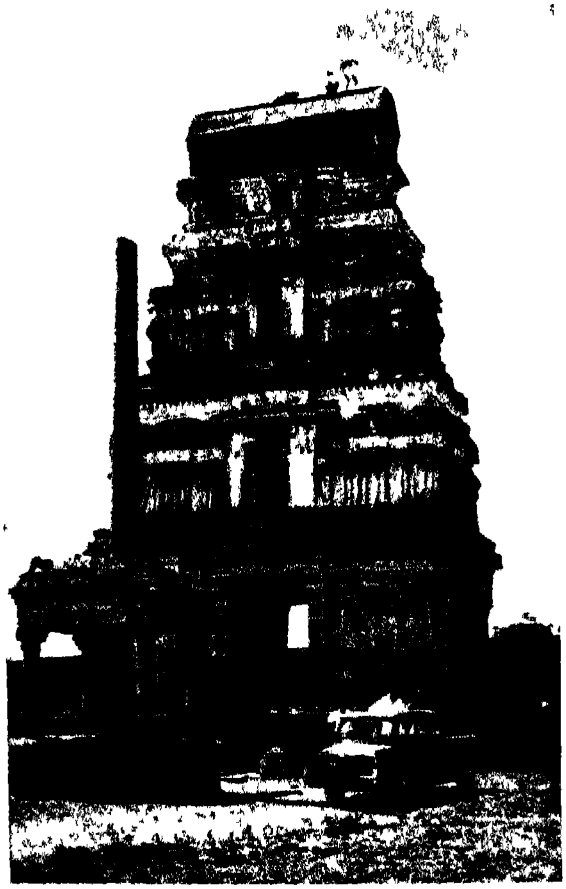


तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् — महावीर-मंदिर

चित्र 211



(क) विजयमंगलम् — चंद्रनाथ-मंदिर



(ख) विजयमंगलम् — चन्द्रनाथ-मंदिर, गोपुर

चित्र 212



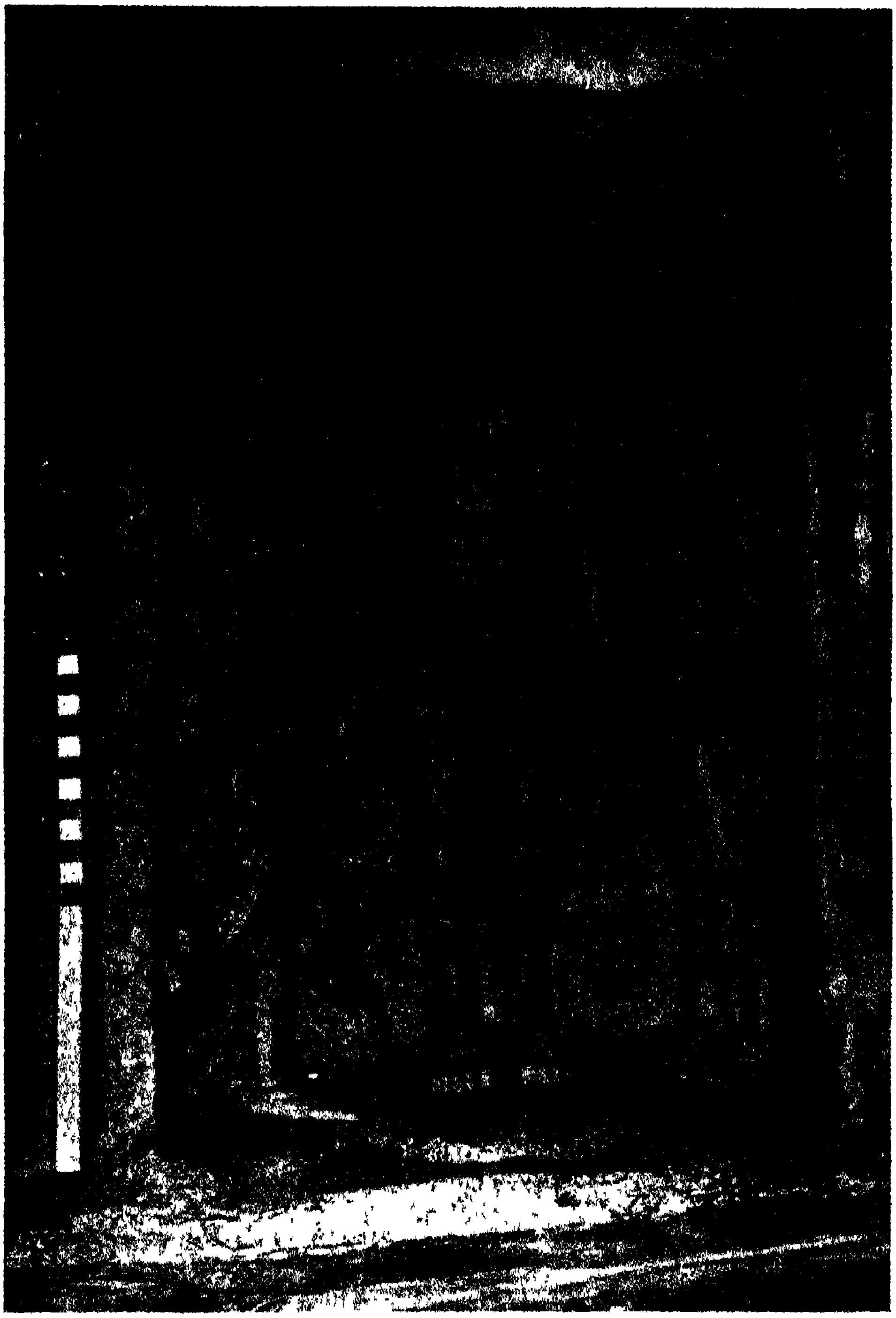
तिरुमलै — मंदिर, विहंगम दृश्य

चित्र 213



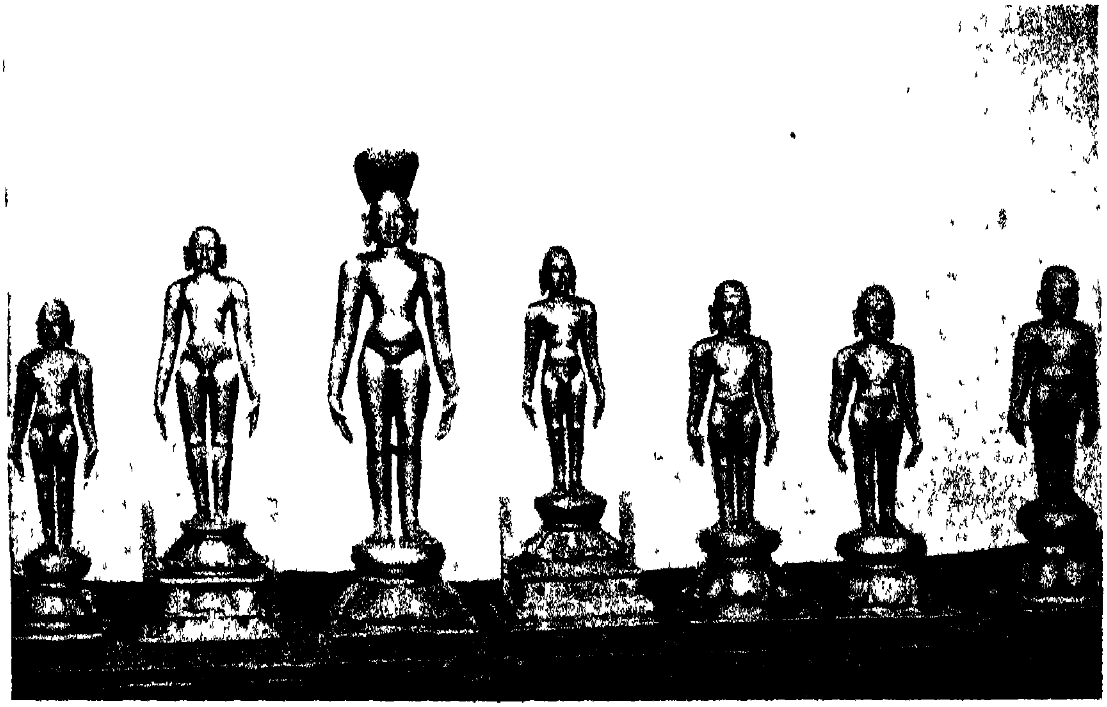
तिरुमलै — मंदिर का प्राकार और गोपुर

चित्र 214



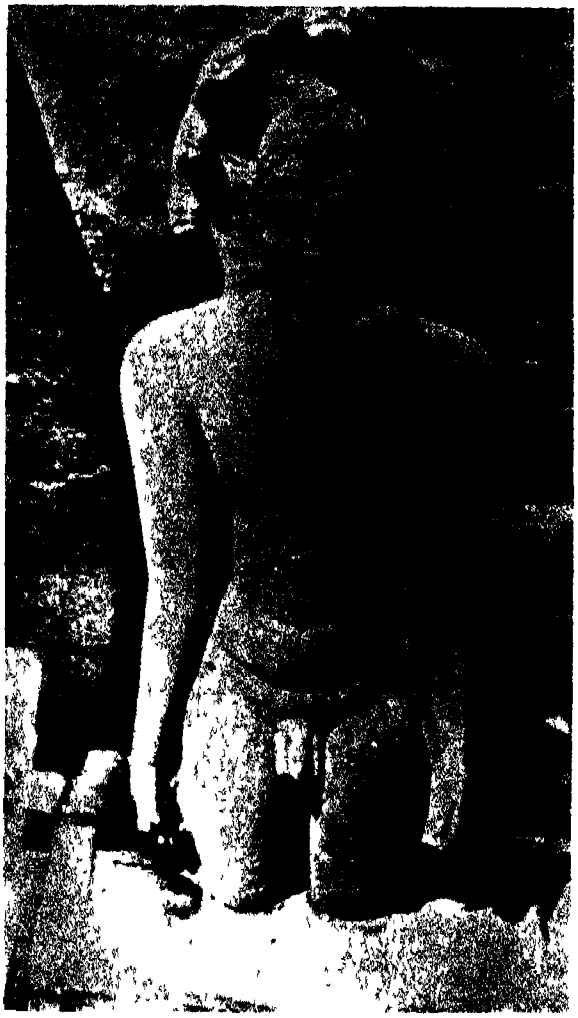
तिरुमलै — धर्मादेवी-मंदिर में गोम्मट की शैलोत्कीर्ण मूर्ति

चित्र 215

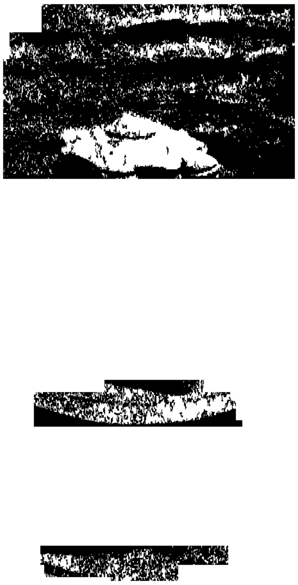


वेकुण्रम्: — तीर्थंकरो की कास्य-मूर्तियाँ

चित्र 216



(क) दानवुलपडु — तीर्थंकर पार्श्वनाथ



(ख) दानवुलपडु — वर्तुलाकार पीठ में चौमुख

चित्र 217



(क) दानवुलपड़ु — वर्तुलाकार पीठ के किनारे पर देव-देवियाँ



(ख) विल्लिवक्कम् — तीर्थंकर-मूर्ति

चित्र 218

मण्डप है। इनके समीप ही तीर्थंकर पद्मप्रभ, पार्श्वनाथ और वासुपूज्य के मंदिरों का समूह है जिसे त्रिकूट-बस्ती कहते हैं और जिसका अपना अर्ध-मण्डप और मुख-मण्डप हैं। तीन-तीन मंदिरों के इन दोनों समूहों के सामने एक कल्याण-मण्डप है जिसका उल्लेख वहाँ के अभिलेखों में (चित्र २१०) संगीत-मण्डप के नाम से हुआ है।

इस मंदिर-समूह का वर्धमान-मंदिर कदाचित् सबसे प्राचीन भाग है, यद्यपि अब इसका मूल रूप कुछ भी नहीं बच रहा है और अब उसके स्थान पर ईंटों से बना हुआ एक मंदिर है (चित्र २११)। प्रतीत होता है कि यह मंदिर अपने मूल रूप में पाषाण से निर्मित था और ध्वस्त हो जाने से कुछ समय पूर्व ही उसका यह रूपअस्तित्व में आया। इस मदिर को ईंटों से बनाने से पूर्व उसका पाषाण से निर्मित अधिष्ठान तिरुपरुत्तिकुण्रम् से बीस किलोमीटर दूर करण्डै ले जाया गया जहाँ आचार्य अकलंक की स्मृति में वह आज भी विद्यमान है।

वर्धमान-मंदिर और उसके आसपास के दो मंदिरों का अर्ध-मण्डप उनके मूल रूप के साथ नहीं बना और वर्त्तमान रूप के साथ भी नहीं, वह उन दोनों के मध्य के किसी समय बना होना चाहिए। लघु आकार के चतुष्कोणीय धर्मदेवी-मंदिर के विषय में एक विशेष बात यह है कि उसमें इस समय विद्यमान मूर्ति की स्थापना तेरहवीं शताब्दी में शिव-कांची के कामाक्षी-मंदिर से लाकर की गयी थी, या एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार, नौवीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य के द्वारा कामाक्षी-मंदिर में कामकोटि-पीठ की स्थापना के पश्चात् इसकी स्थापना वहाँ से यहाँ की गयी थी। यद्यपि इन दोनों अनुश्रुतियों पर स्पष्ट रूप से प्रश्न उठ सकता है पर उनसे एक उल्लेखनीय तथ्य अवश्य व्यक्त होता है कि कामाक्षी-मंदिर के स्थान पर मूल रूप में धर्मदेवी का जैन मंदिर था। धर्मदेवी की मूर्ति ग्रेनाइट पाषाण की है किन्तु वर्धमान और पुष्पदंत की मूर्तियाँ काष्ठ-निर्मित हैं, उनपर पालिश किया गया है और दायाँ करतल बायें करतल पर रखे हुए वे मूर्तियाँ पर्यंकासन में हैं। धर्मदेवी के पीछे उसका लांछन सिंह अंकित है और उसके पद्मासन पर उसके दोनों पुत्रों और एक नारी-अनुचर की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

त्रिकूट-बस्ती मूलतः दो मंदिरों का ही समूह था, पद्मप्रभ और वासुपूज्य का; और दोनों की विन्यास-रेखा और चतुष्कोणीय अधिष्ठान प्रायः एक-समान हैं। किन्तु एक और मंदिर, पार्श्वनाथ का, उन दोनों के बीच में बना दिया गया है जो उन दोनों के संयुक्त अर्ध-मण्डप की सीमा से सटा हुआ है। वासुपूज्य-मंदिर के धरणों पर कुलोत्तुंग-प्रथम (१०७०-११२० ई०) के अभिलेख उत्कीर्ण हैं। उसके अधिष्ठान के घटकों पर विक्रम चोल के ११३१ ई० और ११३५ ई० के अभिलेख हैं। कहा जाता है कि ये तीनों अभिलेख मूलतः वर्धमान-मंदिर के अर्ध-मण्डप की दक्षिणी भित्ति में जड़े थे क्योंकि तब न तो त्रिकूट-बस्ती का निर्माण पूरा हुआ था और न वर्धमान-मंदिर के अर्ध-मण्डप का, जहाँ ये अभिलेख अब स्थित हैं। जो अभिलेख निर्माण-कार्य के कारण दृष्टि से ओझल होते दिखे उनकी प्रतिलिपि उत्कीर्ण कराकर मंदिर के सामने मुख्य स्थान पर स्थापित कर दी गयी, जैसा कि इस मंदिर-समूह में

कई स्थानों पर हुआ है। इस दृष्टि से, इस मंदिर का प्राचीनतम अभिलेख कुलोत्तुंग-प्रथम (लगभग १११६ ई०) के पाँचवें-छठे वर्ष में उत्कीर्ण हुआ था, इसलिए वर्धमान-मंदिर का अर्ध-मण्डप इस तिथि से पहले का होना चाहिए। इससे स्वयं वर्धमान-मंदिर उससे भी पहले का सिद्ध होता है। संगीत-मण्डप के उत्तर-पूर्व कोण के एक स्तंभ पर मण्डप के निर्माण के लिए दान करनेवाले की आकृति उत्कीर्ण है जो वही इरुगुप्प है जिसका उल्लेख मंदिर की छत पर उत्कीर्ण अभिलेखों में मण्डप के निर्माता के रूप में हुआ है। बुक्कराय-द्वितीय का सेनापति और मंत्री यह व्यक्ति वही है जिसका उल्लेख हम्पी के गणिगित्ति-जिनालय के स्तंभ-अभिलेखों में हुआ है। इनकी तिथि १३६५ ई० मानी गयी है जो तिरुपरुत्तिकुण्रम् के संगीत-मण्डप के निर्माण से ठीक दो वर्ष पहले की है।

इस मंदिर के चारों ओर वृत्ताकार में लघु मंदिरों आदि की पंक्ति है जिसके अंतर्गत दक्षिण-पश्चिमी कोण पर ब्रह्मदेव का मंदिर, उत्तर-पश्चिमी कोण पर ऋषभदेव का मंदिर और उत्तर-पूर्वी कोण पर प्रशालों की एक लंबी पंक्ति है; सभी प्रशालों के साथ एक बरामदा है और उन्हें मुनिवास कहते हैं। इसे मुनिवास कहने का कारण संभवत: यह मान्यता है कि इसी स्थान पर हुए पाँच मुनियों की आत्माएँ स्मृति-रूप में इन पाँचों गर्भगृहों में रह रही हैं। इनमें से दो गर्भगृह चौदहवीं शताब्दी के मल्लिषेण और पुष्पसेन के लिए निर्मित हुए थे। यदि यह ऐसा ही है तो उनके जन्म और मृत्यु की तिथियों के आधार पर ये गर्भगृह पंद्रहवीं या सोलहवीं शती से पूर्व के नहीं माने जा सकेंगे। इनमें मध्यवर्ती गर्भगृह में वर्धमान और पार्श्वनाथ की एक-एक मूर्ति है। स्पष्ट है कि यह इन मूर्तियों का मूल स्थान नहीं है।

प्राकार के पश्चिम भाग में एक तमिल अभिलेख है जिसमें वृत्तांत है कि इस मदिल (प्राकार-भित्ति) का निर्माण अलिगिय पल्लवन् ने कराया था, इसका समीकरण राजराज-तृतीय के सामंत कोप्पेरुन्जिग के द्वारा किया गया है, और इस अभिलेख में उल्लिखित उसकी स्वतंत्र मूर्तियों की तिथि से इस प्राकार की तिथि १२४३ ई० से बाद की सिद्ध होती है, जब उसने स्वयं राजमुकुट धारण किया था।

विजयमंगलम् के चंद्रनाथ-मंदिर-समूह (चित्र २१२ क) में अंतर्भाग के महा-मण्डपों से आगे स्थित बहिर्भाग के जो मण्डप हैं वे विजयनगर-काल में निर्मित हुए थे—यह तथ्य उनके स्तंभों, शिल्पांकनों और मान-स्तंभ से और मंदिर-समूह के विशाल गोपुर-द्वार से प्रमाणित होता है (चित्र-२१२ ख)। मदिरों के सम्मुख और उत्तुंग मान-स्तंभ बनाने की प्रथा इस जिले में व्यापक स्तर पर रही है, यहाँ तक कि ब्राह्मण्य मंदिरों के प्रवेश-द्वार के सम्मुख भी ऐसे विशाल स्तंभ (एक ही पाषाण से या कई शिलाखण्डों से) बनाये गये।

तिरुमलै में दो निर्मित मंदिर हैं। उनमें से एक पर शिखर है जो उत्तरकालीन चोल-

शैली की है और जिसमें कोई अलंकरण नहीं है। विजयमंगलम् के मंदिर की भाँति इस मंदिर के भी गर्भालय में, शिखर के अंतर्भाग के ठीक आरंभ में, ढोलाकार अंतर्भित्तियों पर पंक्तिबद्ध चित्रकारी की गयी है।

उत्तर अर्काट जिले की एक छोटी पहाड़ी पर स्थित इस प्रकृति-रमणीय ग्राम में कुछ जैन मंदिर (चित्र २१३) हैं। पहाड़ी पर नेमिनाथ की एक बहुत बड़ी मूर्ति और गुफाओं की एक पंक्ति है गुफाएँ अब आवास-गृह के रूप में परिवर्तित कर दी गयी हैं और उनमें विविध प्रकार की ज्यामितिक तथा अन्य चित्रकारी है जिसमें समवसरण के दृश्य भी हैं। राष्ट्रकूट, केंद्रीय चोल, विजयनगर और नायक शासकों के समय के क्रिया-कलापों से इस स्थान की ख्याति फैली। यहाँ अत्यंत सुंदर शिल्पांकन सहित शिलाएँ और यक्ष-यक्षियों आदि की मूर्तियाँ हैं। क्रमशः वर्धमान और नेमिनाथ को समर्पित दोनों मंदिर पूर्णतया 'दक्षिणी' विमान-शैली के हैं और उनका निर्माण क्रमशः चोल और विजयनगर काल में हुआ; इनमें से नेमिनाथ-मंदिर बड़ा है और पहाड़ी की अधित्यका पर गुफा-शय्याओं के पास स्थित है। वर्धमान-मंदिर उससे छोटा और नीचे की ओर स्थित है और उसमें भी, प्रायः विजय-मंगलम् के मंदिर की भाँति शिखर के अंतर्भाग के आरंभ में और भित्तियों के ऊपरी भाग पर पंक्तिबद्ध चित्रकारी है।

तिरुमलै का मंदिर-समूह पहाड़ी की उपत्यका में एक प्राकार के अंतर्गत स्थित है जिसके पूर्व में एक बहुत उत्तुंग गोपुर-द्वार (चित्र २१४) है। वर्धमान के लिए समर्पित मंदिर इस ऊँचाई पर प्राकार में एक ही है और उसके तीन तलों पर वर्तुलकार ग्रीवा तथा शिखर है। इसके अर्ध-मण्डप, महा-मण्डप और मुख-मण्डप की योजना अक्षाकार है और उन तीनों की संयुक्त छत समतल है। इसके गर्भगृह में उत्तीर के ऊपर भित्तियों पर कदाचित् आरंभिक विजयनगर-काल की चित्रकारी है। दूसरे जगती-पीठ पर पुनः एक प्राकार-बंध है पर इसका गोपुर-द्वार अपेक्षाकृत लघु आकार का है; और दुर्भाग्य से इसका ऊपरी भाग नष्ट हो गया है। इस प्राकार-बंध के अंतर्गत एक विशाल मंदिर है, इसका भी शिखर-भाग नष्ट हो गया है। इस मंदिर का गर्भगृह चतुष्कोणीय है और इसके अर्ध-मण्डप और मुख-मण्डप के आकार बहुत विशाल हैं। दोनों मंदिरों के मुख-मण्डपों के विशाल उत्तीरों के नीचे विजयनगर की विशेष शैली की कोडुंगइ प्रकार की टोड़ियाँ हैं। इसके पश्चात् सबसे अधिक ऊँचाई पर निर्मित जगती-पीठ पर भी एक मंदिर है पर यह एक उभरी हुई चट्टान के किनारे से इस प्रकार संलग्न है कि उसके गुफा की भाँति भीतर की ओर के रिक्त स्थान से इस मंदिर की यथोचित संगति बैठ गयी है, और इस संगति का एक कारण यह भी है कि शिला को कई स्थानों पर काटकर गर्भालयों का रूप देकर उनके साथ भूतल का निर्माण कर दिया गया है। इस तरह के गर्भालयों में जो सबसे अधिक ऊँचाई पर है वह उस आयताकार चट्टान के ठीक नीचे पड़ता है जो ऊपर से बाहर की ओर निकली हुई है। भूतल पर स्थित मण्डप के ऊपर तीन तल और हैं। निर्मित मण्डपों के मध्य में स्थित सोपान-वीथिकाएँ अंतराल का काम करती हैं। प्रथम तलों का मूल आधार कोण-स्थित भित्ति-स्तंभ हैं किन्तु ऊपर के दो तल इनसे भिन्न हैं। उपरितम तल से नीचे का तल केवल भित्ति-स्तंभों पर

आधारित है और उपरितम तलों में देवकुलिकाओं की संयोजना है जिसमें स्तंभाकृतियों से विशिष्ट मकर-तोरण अभिप्रायों के मध्य अजितनाथ का अंकन है। उनके एक ओर महायक्ष और दूसरी ओर रोहिणी और दोनों ओर एक-एक हाथी खड़े दिखाये गये हैं, हाथी वारिमान और वेदि-बंध के पार्श्वों में खड़े किंचित् उत्थापित शुण्डादण्डों से मालाएँ धारण किये हुए हैं, और उनका निर्माण चूना से हुआ है।

इस मंदिर के अंतर्भाग में विभिन्न ऊँचाइयों पर निर्मित गर्भगृहों में चोल और विजयनगर-कालों के शैलोत्कीर्ण शिल्पांकन हैं। उदाहरणार्थ, धर्मादेवी-मंदिर में गोम्मट और उनकी भगिनियों के मूर्त्यंकन (चित्र २१५) केंद्रीय चोल-काल (ग्यारहवीं शती) के हैं और स्वयं धर्मादेवी और उसके कुछ अनुचरों की मूर्तियाँ विजयनगर-काल की हैं। इसके मुख्य गर्भालय को अरँक्कोयिल कहते हैं और उसमें तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति है। उसके अधिकांश भाग में विजयनगर-काल की उत्तर-कालीन चित्रकारी है।

उत्तर अर्काट जिले में शैलोत्कीर्ण गुफाओं आदि के रूप में प्रचुर मात्रा में जैन अवशेष विद्यमान हैं और वंदिवाश के आसपास का क्षेत्र तो आज भी विशेष रूप से जैनों का उपनिवेश-सा बना हुआ है। दो मंदिर, वेंकुण्रम् का अरुगर और बिरुदुर का अरुगुर, स्थापत्य की दृष्टि से उल्लेखनीय न भी हों पर ऐतिहासिक संदर्भों में इनका उल्लेख किया जाना चाहिए। वेंकुण्रम् का यह मुख्य मंदिर द्वितल है, इसका भित्ति-बंध वर्तुलाकार और समतल है तथा अधिष्ठान मंच-बंध-प्रकार का है। एक मंदिर धर्मादेवी का भी है जिसमें उसकी एक अत्यंत सुंदर विजयनगरकालीन पाषाण-निर्मित मूर्ति है। मुख्य मंदिर के गर्भालय के दाहिने कोणों पर यह मंदिर अपने शाल-शिखर के कारण तमिलनाडु के उन ब्राह्मण्य मंदिरों के समान बन पड़ा है जिसमें कोई देवी स्थापित होती है। बिरुदुर के मंदिर में महावीर की एक प्राचीन पाषाण-मूर्ति है। यह अब खण्डित हो गयी है और एक मुख-मण्डप में रखी है ; उससे बाद की एक मूर्ति गर्भालय में जड़ी हुई है। मुख्य मंदिर का अधिष्ठान पाषाण से निर्मित है; मंदिर द्वितल है, शिखर वर्तुलाकार है। प्रथम तल के प्रस्तार पर संयोजित विमानों के शिखरों पर तीर्थंकर ऋषभनाथ, संभवनाथ, सुपार्श्वनाथ और चंद्रनाथ और उनके यक्षों की मूर्तियों के अंकन हैं।

मूर्ति-शिल्प की शैलियाँ

उत्तरकालीन चालुक्य, विजयनगर, होयसल और यादव राजवंशों के समय मध्यकालीन जैन कला की समृद्धि कभी न्यून रही तो कभी अधिक। किन्तु उत्तरवर्ती राजाओं ने, विशेषतः पंद्रहवीं शती से बाद के राजाओं ने, अपना संरक्षण व्यापक रूप से शैव और वैष्णव धर्मों को ही दिया। जैन धर्म के साथ इतना किया कि उसे जीवित रहने दिया। वस्तुतः यह समय श्रवणबेलगोला जैसे महत्त्वपूर्ण केंद्र में भी जैनों और (मालकोट के) वैष्णवों के बीच घोर संघर्ष का समय था, इसी के

परिणामस्वरूप हरिहर-द्वितीय को इन विवादों को शांत करते हुए एक अभिलेख प्रसारित करना पड़ा था जिसे 'शासन' कहते हैं। उल्लेखनीय है कि राज्यस्तुति के अनंतर इस अभिलेख में महान् वैष्णव नेता और दार्शनिक श्री रामानुज या यतिराज की प्रशंसा की गयी है, और सच तो यह है कि उसमें वेदांतदेशिक के धाति-पंचक का एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है।

तमिलनाडु के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में, मुख्य रूप से आरंभिक मध्यकाल में, जैन कला का विकास मंदिर के गर्भालयों और उप-गर्भालयों की भित्तियों और देवकुलिकाओं में संयोजित शिल्पांकनों के रूप में हुआ; किन्तु तमिलनाडु में कांस्य-प्रतिमाओं की परंपरा एक अतिरिक्त विशेषता रही। इससे जैन मंदिरों में लघु मूर्तियों और अनुष्ठान-संबंधी धातु-निर्मित पात्रों आदि की कला को प्रोत्साहन मिला, यद्यपि उसका अधिकतर रुझान मूलतः पश्चिम-भारतीय जैन भित्ति-चित्रों और लघु-चित्रों से अनुप्राणित लोक-कला की ओर था, क्योंकि इस कला के अंतर्गत एक तो मुखाकृतियों में एक प्रकार की रुक्षता और जातिबद्धता झलकती है, दूसरे केश घुँघराले और आँख की पुतलियाँ उभरी हुई और लंबी बनायी गयी हैं। इस सबका उदाहरण वेंकुण्रम् की कांस्य-मूर्तियों (चित्र २१६) में मिलता है। दूसरी ओर, आंध्र क्षेत्र में धातु-मूर्तियों का अभाव रहा। होयसलों के राज्यकाल और शासन-क्षेत्र में विजयनगर साम्राज्य (१३३६ ई०) की स्थापना से ठीक पहले, जैन धर्म का उत्कर्ष पराकाष्ठा पर था। पहले से ही मिलता रहा गंग-राजाओं का समर्थन उसे उस समय और भी अधिक मिला। इसी के फलस्वरूप हासन, माण्ड्या और मैसूर जिलों में जैन धर्म की एकाग्रता कदाचित् सबसे अधिक हुई। श्रवणबेलगोला वस्तुतः इन दिनों एक साधारण केंद्र ही बन सका था और उसे राज-संरक्षित ब्राह्मण्य धर्म से जूझना पड़ रहा था। होयसल-काल में जैन कला की गति मंद किन्तु सौम्य थी और उसी काल में साथ-साथ चल रही ब्राह्मण्य मूर्तिकला की स्थिर किन्तु अलंकरण-विपुल-शैली से उसकी संगति बैठती थी।

विकास के इस स्तर पर जैन कला में कुछ और भी अनुपमता आयी; एक तो स्तंभों आदि के तल की चमक में और उनपर उत्कीर्ण मूर्तियों के पालिश में; और दूसरे, उसी के साथ-साथ गर्भालय में स्थापित तीर्थंकर-मूर्तियों की विशालता में। मूर्ति-शिल्प में सूक्ष्म अंकनों की इस जानबूझकर की गयी उपेक्षा में और मूल्यंकन द्वारा जीवन्मुक्त तीर्थंकर के दार्शनिक प्रतीक-विधान में एक उल्लेखनीय समरसता दृष्टिगत होती है। देश के सभी भागों में, और विशेषतः दक्षिण में, पाषाण आदि कुछ माध्यमों और लघु आकार की मूर्तियों के अतिरिक्त सभी तीर्थंकर-मूर्तियों के अंकन में एक-समान पद्धति का अनुसरण हुआ है; इसका फल यह हुआ कि सर्वत्र एक समरसता व्याप्त होकर रह गयी। किन्तु दूसरी ओर, इससे तीर्थंकर की अपरिहार्य निस्संगता और अत्यधिक वैराग्य की अभिव्यक्ति भी होती है। इससे तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण का परिष्कार हुआ जिसमें व्याप्त कदाचार का साक्षी इतिहास है और जिसकी बद्धमूल जड़ता ने जीवन-क्रम के स्पंदन को पंगु बना रखा था। यह उल्लेखनीय है कि साधारण दृष्टि से, शैली और सामग्री में, जैनों ने ब्राह्मणों की

परंपरागत प्रतिभा और प्रथा का अनुकरण किया। तथापि स्थापत्य और मूर्तिकला दोनों में उन्होंने आडंबर-हीनता के साथ गतिशीलता भी रखी, किन्तु कभी-कभी इसमें अंतर भी पड़ा ; शिल्पांकनों में भी और चित्रकारी में भी स्तंभों पर आवश्यकता से भी अधिक पट्टिकाएँ उकेरी गयीं ; भित्तियों पर तीर्थंकरों, देवों, यक्षों, यक्षियों आदि की मूर्तियाँ इतनी अधिक बनायी गयीं कि उनसे उकताहट होने लगी और उनके कारण स्थापत्य और मूर्तिकला का यथार्थ सौंदर्य आनुष्ठानिक साज-सज्जा में विलीन होकर रह गया। वस्तुतः जैन कला ने इस काल में कभी तो आद्योपांत, और कभी, कहीं-कहीं, सौंदर्यगत सूक्ष्मता और भावना से मानो कुछ दुराव ही किया। किन्तु यह उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए कि वास्तविक कला-प्रवणता और संगति का तत्त्व उनमें आदि से अंत तक बना रहा जो स्थान-स्थान पर एक विशेष तालमान से निर्मित पद्मासन या खड्गासन तीर्थंकर-मूर्तियों में देखा जा सकता है।

पाषाण आदि मूल सामग्री का अन्यथा प्रभाव शैली पर तथा अन्य तत्त्वों पर पड़ा, इसके कई पहलू थे जो बद्धमूल होते-होते क्रमशः क्षेत्रीय शैलियों या मर्यादाओं के रूप में सामने आये। उदाहरण के लिए पेड्डु तुम्बलम्, चिप्पगिरि या दानवुलपडु (चित्र २१७ क) में अपनायी गयी यादव-काकतीय शैली के अंतर्गत कपोलास्थिया उभरी हुई दिखाई गयीं और कपोलों को मुखभाग के वर्तुलाकार से इतनी दूरी पर दिखाया गया कि वे समतल प्रतीत होने लगे। शरीर आगे की ओर झुका हुआ और हाथों तथा पैरों के निचले भाग पतले कर दिये गये। शिला-फलक पर मुख्य मूर्ति के परिकर के रूप में सिंह-ललाट सहित मकर-तोरण होता (जैसा कि ब्राह्मण्य शिल्पांकनों में भी हुआ)। शरीर सुता हुआ दिखाया गया और कंधों, नितंबों, कटि आदि का आकार यथोचित अनुपात में लिया गया। किन्तु होयसलों और पश्चिमी चालुक्यों की शैलो के अंतर्गत मुख-मण्डल और शरीर को सुपुष्ट और मांसल दिखाया गया, और तीर्थंकर-मूर्ति के परिकर में, उसके आकार और शिल्पांकन के अनुरूप, मकर-तोरण, चमरधारी, यक्ष तथा अन्य अलंकरण प्रस्तुत किये गये।

पश्चिमी आंध्र प्रदेश में चौमुख का भी प्रचलन था। यह एक प्रकार का वहनीय मंदिर था जो एक वर्तुलाकार पीठ पर संयोजित एक ऐसे स्तंभ का प्रतिरूप होता है जो ब्राह्मण धर्म में प्रचलित लिंग से प्रायः आकृति में एकरूप है। इसका एक अच्छा उदाहरण मद्रास संग्रहालय (चित्र २१७ ख) में है जो दानवुलपडु से प्राप्त हुआ था। ऐसे चौमुखों पर संगीत-मण्डलियों और विद्याधरों के साथ अग्नि, यम, वरुण, रेवत आदि दिक्पालों का मूर्त्यंकन पीठ के पार्श्व-कोणों पर (चित्र २१८ क) और विशेष रूप से सुपार्श्वनाथ और वर्धमान का सम्मुख पार्श्वों पर होता है। इस प्रकार के चौमुखों में सर्वप्रथम कदाचित् राष्ट्रकूट-काल का था जैसाकि उपर्युक्त स्थान से प्राप्त हुए एक अभिलेख से ज्ञात होता है। यह अभिलेख जिस चौमुख पर उत्कीर्ण है वह नित्यवर्ष इन्द्र-तृतीय (दसवीं शती) के समय का माना जाता है। उसकी स्थापना तीर्थंकर शांतिनाथ की भव्य प्रतिष्ठा के अवसर पर

की गयी थी। इससे जैन कला पर भी राष्ट्रकूट ब्राह्मण्य कला का शैलीगत प्रभाव प्रतीत होता है।

तमिलनाडु की मूर्तिकला में आडंबरहीनता इतनी अधिक है कि उसमें कलागत अलंकरण नगण्य हैं, क्योंकि एक तो उनमें ग्रेनाइट पाषाण का प्रयोग हुआ है और उनमें यहाँ के अन्य केंद्रों की तुलना में कुछ अधिक ही कठोर परंपराएँ रही हैं। इतना सब होते हुए भी, इनमें कुछ अभिप्रायों की संयोजना है जिनके शैलीगत विकास में एक विशेष उद्देश्य निहित है। ऐसा ही एक अभिप्राय त्रिच्छत्र है जो या तो एक ही पाषाण में इस तरह उत्कीर्ण किया जाता कि वे एक प्याले पर दूसरे और दूसरे पर तीसरे प्याले की भाँति ऊपर रखे दिखते हैं, या फिर उन्हें इस तरह प्रस्तुत किया जाता कि उनके किनारे थोड़े से उभरे हुए होते और उनपर सर्वत्र पुष्पावली अंकित होती। छत्रावली के आसपास के स्थान पर लताओं को अलंकरण के रूप में अंकित किया जाता जिनमें से कुछ शास्त्रविहित होते, कुछ शैलीगत होते और कुछ में कलिकाओं, पुष्पावली आदि की प्रस्तुति होती और यदा-कदा लताओं को कुण्डलाकृतियों और बंदनवारों के अंकनों से अत्यधिक अलंकृत कर दिया जाता। ग्रेनाइट के मूर्त्यंकनों में भी मूर्ति-शिल्प की दो प्रवृत्तियाँ रहीं। उनमें से एक के अनुसार गुणों और प्रकृति-साम्य की अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया गया और दूसरी के अनुसार शरीर के आयामों में कोणों पर बल दिया जाता; मस्तक और शरीर को चतुष्कोणीय रखा जाता और मूर्ति का समूचा रूप अपेक्षाकृत आकर्षणहीन रह जाता। तथापि, आरंभिक मध्यकाल (दसवीं से तेरहवीं शताब्दी) की सभी मूर्तियों में अत्यधिक सुगठित शरीर और संयत बलिष्ठता की अभिव्यक्ति हुई। मकर-तोरणों और चमर-धारियों की संयोजना या तो की ही नहीं गयी या उन्हें बहुत कम महत्त्व दिया गया। दक्षिण कनारा आदि कुछ समुद्रतटीय स्थानों में जैन धर्म को निरंतर संरक्षण मिला। यहाँ मूर्तियों के पालिश और आकार को इतना अधिक महत्त्व दिया गया कि उनके अंगोपांगों का अनुपात भी गौण हो गया; इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकतर मूर्तियों में शरीर-भाग की अपेक्षा मस्तक-भाग छोटा हो गया, हस्त और पाद अत्यंत निर्बल और शिथिल बन गये और परंपरा से बनती आयी कण्ठ और नाभि की त्रिवलियाँ केवल गहराई तक उत्कीर्ण करके ही बना दी गयीं। तमिलनाडु के शक्करमल्लूर, विल्लि-वक्कम् (चित्र २१८ ख), व्यासर्पदि आदि में और हम्पी, पेड्डु तुम्बलम्, हलेबिड आदि में विभिन्न राजवंशों के कारण आयी क्षेत्रीय प्रवृत्तियाँ पृथक्-पृथक् दीख पड़ती हैं। तथापि, सांस्कृतिक मूल्य सर्वत्र एक-समान हैं। किन्तु दक्षिण के विजयनगर और नायक राजवंशों के काल के ग्रेनाइट पाषाण के शिल्पां-कन अपनी उत्कृष्टता के कारण दक्षिणापथ के अत्यधिक सुंदर शिल्पांकनों की तुलना में बड़ी सीमा तक सफल होते हैं। पेड्डु तुम्बलम् से प्राप्त और अब मद्रास संग्रहालय में संगृहीत अजितनाथ की एक मूर्ति अतिशय सुंदर और सौम्य बन पड़ी है और उसमें यदि कोई त्रुटि है भी तो वह अलंकृत प्रभावली के कारण छिप गयी है। इस मूर्ति से, अन्य अनेक मूर्तियों से भी अधिक, यह प्रकट होता है कि अपने शिल्पांकन को अधिकाधिक आकर्षक बनाने के लिए यादवकालीन कलाकार ने कल्याणी के चालुक्यों, होयसलों और दक्षिणापथ की परंपरागत शैलियों को किस प्रकार समन्वित किया। तथापि, किसी पृथक् मंच की स्थापना किये बिना ही जैन कला निरंतर प्रगति करती रही और इसी कारण कला-

जगत् में उसने एक नयी ही प्रवृत्ति का प्रवर्तन किया जिसमें प्रतीकों का स्थान है और आंतरिक बलिष्ठता का भी; और उसमें शरीर-गठन और पालिश का तथा अवयवों की मांसलता का भी ध्यान रखा गया है।

के० वी० सौंदर राजन्

भाग 6

वास्तु-स्मारक एवं मूर्तिकला 1300 से 1800 ई०

अध्याय 25

उत्तर भारत

भूमिका

उत्तर भारत के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करते हुए तेरहवीं शताब्दी सांस्कृतिक क्षितिज की मध्ययुगीन प्रारंभिक एवं मध्यवर्ती परिस्थितियों के बीच एक विभाजन-रेखा प्रस्तुत करती है। मध्यकाल का प्रारंभ उस समय से होता है जब विदेशी आक्रमणकारियों ने इस्लाम धर्म के झण्डे तले दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हो अपनी स्थिति को सुदृढ बना लिया तथा राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रसार के लिए अपनी नीतियों को लागू कर दिया; जिसके परिणामस्वरूप इस देश की पूर्ववर्ती जीवन-पद्धति, परंपराएँ, सौंदर्यपरक दृष्टिकोण तथा कलात्मक मूल्यों की उपेक्षा हुई और एक नयी संस्कृति के नये मानदण्ड तथा कला के नये लक्षणों का विकास हुआ। इन विजेताओं द्वारा जिन धार्मिक भवनों का निर्माण कराया गया वे इस देश की मान्य परंपराओं के प्रतिकूल थे। इस काल तक भारतीय मंदिर-स्थापत्य और उससे संबद्ध चित्र एव मूर्तिकलाएँ रीतिबद्ध ढग से उस पूर्ण परिपक्व अवस्था में पहुँच चुकी थीं जहाँ उनके भावी विकास की संभावनाएँ बहुत ही कम रह गयी थीं। इसके आगे की शताब्दियों में उत्तर भारत के ब्राह्मणों तथा उन्हीं की भाँति जैनों ने भी परिवर्तित परिवेश के अनुरूप स्वयं को ढालने तथा अपनी सांस्कृतिक धरोहर को यथावत् सुरक्षित रखने का प्रयास किया।

सुलतानों के शासनकाल के प्रथम चरण में इस देश के जन-साधारण का सांस्कृतिक जीवन अत्यंत अस्त-व्यस्त रहा, मंदिर और मठ आदि धार्मिक संस्थान सुचारु रूप से अपना कार्य नहीं कर सके। यह स्थिति मध्य देश में तो विशेष रूप से रही। वहाँ कई शताब्दियों तक ऐसे किसी नये मंदिर का निर्माण नहीं हुआ जिसका विशेष रूप से उल्लेख किया जा सके। कुछ साधारण मंदिरों में प्रतिमाएँ अवश्य स्थापित की गयीं जिनमें से भी अधिकांशत: प्रतिमाएँ पुरानी थीं। ऐसी ही कुछ तीर्थंकरों की प्राचीन प्रतिमाओं को जिनदत्त-सूरि ने एक मंदिर में पुनर्प्रतिष्ठित कराया। ये प्रतिमाएँ उन्होंने मुहम्मद तुगलक से प्राप्त कीं जो उसके अधिकार में थीं।[1] इस काल में धार्मिक

1 जिनप्रभ-सूरि. विविध-तीर्थ-कल्प. संपा. जिनविजय. 1934. शांतिनिकेतन. पृ 45.

मत-मतांतरों के मध्य वैचारिक आदान-प्रदान के माध्यम मात्र वे साधु थे जो देश के विभिन्न भागों में निरंतर भ्रमण किया करते थे। पश्चिम-राजस्थान तथा अन्य पूर्ववर्ती क्षेत्रों की स्थिति कुछ संतोषजनक थी, जिसका कारण यह था कि इन क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था स्थानीय हिंदू राजाओं के हाथों में होने के कारण यहाँ पर सुलतानी प्रभाव बहुत ही कम आ पाया था। यद्यपि इस स्थिति के उपरांत भी ये क्षेत्र सास्कृतिक ह्रास की प्रक्रिया को रोक नहीं सके। फिर भी धार्मिक परंपराओं को एक सीमा तक सुरक्षित रखने में उन्होंने सफलता अवश्य पायी थी। भारतीय कला की मुख्य धारा का एक अविभाज्य अंग होने के कारण जैन कला और स्थापत्य इन राजनैतिक परिवर्तनों से अछूता नहीं रह सका। फलत: उसे भी सांस्कृतिक परिवर्तनों के मध्य होकर चलना पड़ा।

यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकी और शासक एवं शासित जातियों के मध्य पारस्परिक सांस्कृतिक सद्भाव के रूप में भारतीयकरण की एक नयी प्रक्रिया आरंभ हुई जिसके अंतर्गत उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों मे मंदिरों का निर्माण कार्य पूरे जोर-शोर से आरंभ हुआ। फलतः राजस्थान में चौदहवी एवं पंद्रहवी शताब्दी के मध्य अनेक उत्कृष्ट मंदिरों की स्थापना हुई।

इस काल में अनेकानेक पाण्डुलिपियों की रचना भी हुई जिनसे जैन शास्त्र-भण्डार संपन्न हुए। इन पाण्डुलिपियो में से अनेक को चित्रित भी किया गया था। मंदिर-स्थापत्य और प्रतिमा-कला के पुनरुत्थान के लिए भी तेरहवीं से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक की लंबी कालावधि में पर्याप्त प्रयास हुए किन्तु ये कलाएँ अपने अतीतकालीन वैभव को प्राप्त नहीं कर सकीं।

स्थापत्य-कला

उत्तर भारत में इस काल के निर्मित जैन मंदिरों की विकास-रूपरेखा की सामग्री की अल्पता तथा उनकी विविध शैली-समन्वित रचनाओं के कारणों को खोज पाना सरल नही है। इस काल के जैन मदिर, जो आज उपलब्ध हैं, वे किसी एक स्थापत्यीय शैली पर आधारित नही हैं। उनके रूप और आकारों तथा उनकी निर्माण-योजनाओं की विविधता के अतिरिक्त क्षेत्रीय भिन्नताएं, राजनैतिक परि-स्थितियाँ, बदलता हुआ सौदर्यपरक दृष्टिकोण तथा मंदिरों के निर्माण-कर्त्ताओं द्वारा उनपर किया गया व्यय आदि ऐसे अनेक कारण है कि वे अपने विकास की किसी सुनिश्चित दिशा की ओर संकेत नही कर पाते।

मध्यकालीन जैन मंदिरों के प्राप्त स्थापत्यीय विवरणों के आधार पर उन्हें निम्नलिखित तीन मुख्य समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है : १. पश्चिम एवं मध्य भारत की परंपरागत शैली के जैन मंदिर-समूह; २. हिमालय का मंदिर-समूह; ३. मुगल प्रभावाधीन निर्मित मंदिर-समूह।

समूह १ : इस समूह के मंदिर सामान्यत: गुर्जर, मारु या मारु-गुर्जर स्थापत्यीय विशेषताएँ अपनाये हुए हैं। कुछ मंदिरों में इन विशेषताओं का न्यूनाधिक अंशों में उपयोग हुआ है तो कुछ

मंदिरों में मध्य भारतीय स्थापत्यीय परंपरा का। चित्तौड़गढ़, नागदा, जैसलमेर तथा राजस्थान के कुछ अन्य जैन मंदिरों को इस समूह के मंदिरों के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। इन मंदिरों में गर्भगृह तथा अंतराल के अतिरिक्त एक या एक से अधिक मण्डप हैं जिनकी छतें कई सतहोंवाली हैं और अलंकृत हैं। उत्तरवर्ती कुछ मंदिरों में गुंबद भी पाये गये हैं। मंदिरों की बाह्य संरचना चौकीदार पीठ पर आधारित है। अनेक मंदिर मूर्ति-शिल्पों से अत्यंत संपन्नता के साथ अलंकृत हैं। जंघा-भाग प्रक्षिप्त छाद्यों से आच्छादित हैं। अधिकांश मंदिरों के छाद्य आकृतिपरक मूर्ति-शिल्पों से सुसज्जित हैं। मंदिरों के शिखर अंग-शिखरों से युक्त होने के कारण भव्य हैं। कुछ मंदिर-शिखरों में भूमिज-शैली का अनुकरण किया गया है; यद्यपि, ऐसे शिखर अत्यल्प ही हैं। इन मंदिरों के स्तंभ या तो साधारण हैं या अति अलंकृत, वृत्ताकार, कई स्तर वाले या फिर संयुक्त प्रकार के हैं। अनेक मंदिरों में छतें अत्यंत दक्षतापूर्ण उद्भृत मूर्ति-शिल्पों की सादा अथवा जटिल अभिकल्पनाओं से अलंकृत हैं। इस परंपरा के उत्तरवर्ती मंदिरों में मुस्लिम-शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। रणकपुर स्थित आदिनाथ का भव्य चतुर्मुख मंदिर इस काल के मंदिर-वास्तु का सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण है। (विस्तार के लिए द्रष्टव्य: अध्याय २८—संपादक)

समूह २ : इस समूह के मंदिरों के उदाहरण मात्र अल्मोड़ा जिले में द्वारहाट स्थित छोटे-छोटे मंदिर हैं जिनमें नागर-शैली की चतुष्कोणीय, अलंकरणरहित बड़ी-बड़ी देवकुलिकाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार के अन्य मंदिर भी संभवतः हिमालय के क्षेत्र में रहे होंगे।

समूह ३ : इस समूह के अंतर्गत उत्तर भारत के उन जैन मंदिरों को परिगणित किया जा सकता है जो जैनों की अंतिम शैली के मंदिर रहे हैं। इनके लिए सामान्यतः सोलहवीं शताब्दी का उत्तरवर्ती समय निर्धारित किया जाता है। ये मंदिर उस जैन कला का प्रतिनिधित्व करते हैं जो उत्तर-वर्ती मुगल स्थापत्य-शैली से विशेष रूप से प्रभावित है। जैन मंदिरों में मुगल-स्थापत्य का प्रभाव दाँतेदार तोरणों, अरब-शैली के अलंकरणों और शाहजहाँनी स्तंभों में देखा जा सकता है। शाहजहाँनी स्तंभों का आधार-भाग चौकीदार होता है, मध्यभाग शंक्वाकार तथा उनके शीर्ष पर छोटा-सा गोलाकार कलश की भाँति गुंबद होता है। इस प्रकार के स्तंभों का बाह्य आकार एक विशेष शैली का होता है। कुछ मंदिरों, विशेषकर जयपुर के पटोदी-मंदिर तथा दिल्ली के जैन मंदिर[1], में पश्चिम भारतीय मंदिरों की भाँति सर्पिल स्तंभ भी पाये गये हैं। ये स्तंभ रूपाकार में सामान्य हैं और अपने रूप में कलात्मक ह्रासकालीन विशेषताएँ लिये हुए हैं। छज्जों में प्रयुक्त टोडे यद्यपि विभिन्न आकार-प्रकार के हैं तथापि वे पतले और आकार में प्रभावहीन हैं। इन मंदिरों में स्थापत्यीय भव्यता का अभाव है। वस्तुतः ये जैन मंदिर स्थापत्य की महान् परंपरा का निर्वाह करने मे असमर्थ रहे हैं। इस काल के अधिकांश मंदिर आकार में परंपरागत चतुर्भुज प्रकार के हैं जिनमें एक मध्यवर्ती मण्डप है और उसके पीछे की ओर एक गर्भगृह। कुछ मंदिरों में पृष्ठभाग में एक या एक से अधिक लघु

1. फर्ग्यूसन (जेम्स). हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, 2. 1972. दिल्ली. (पुनर्मुद्रित).पृ 67.

आकार के देवालय हैं जिनमें जैन-बिम्ब प्रतिष्ठित हैं; मंदिर के सम्मुख भाग में धनुषाकार प्रवेश-द्वार हैं। कुछ मंदिरों में दोहरे प्रांगण या मण्डप भी हैं। अनेक मंदिरों में गर्भगृह में चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ हैं तथा इनके शिखर शैलीगत प्रकार के हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मंदिरों की विन्यास-रूपरेखा का उद्‌भव मध्यकालीन मस्जिदों अथवा मुगलों की हिन्दू रानियों के महलों के स्थापत्य से हुआ है। इन महलों में फतहपुर सीकरी स्थित महारानी जोधाबाई के महल का उल्लेख किया जा सकता है। इन महलों की विन्यास-रूपरेखा को देव-प्रतिमाओं तथा उपासकों के लिए संभवत: अधिक सुरक्षात्मक पाया गया, इसलिए इनकी विन्यास-रूपरेखा को उत्तरवर्ती काल में मंदिरों के लिए ग्रहण कर लिया गया। इस प्रकार के कुछ मंदिरों में अत्यंत सुंदर रंगीन चित्र भी अंकित हैं जिन्हें अलंकरण की दृष्टि एवं देवी-देवताओं संबंधी विविध विषयों के अनुसार चित्रित किया गया है।

तीर्थंकर-पदों (चरण-चिह्नों) पर छोटी-छोटी गुंबदाकार स्तूपिकाओं तथा स्थापत्यीय निर्मितियों के निर्माण की परंपरा भी उत्तरवर्ती मुगलकाल में अत्यंत लोकप्रिय हुई, जिन्हें टोंक नाम से जाना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी संरचनाएँ मुगलों के छोटे-छोटे मकबरों के स्थापत्य से ग्रहण की गयी हैं।

मूर्तिकला

मध्ययुगीन मंदिरों, विशेषकर राजस्थान के मंदिरों, की कला का मूल्यांकन करते हुए ग्येत्ज[1] का कथन है 'कि इन मंदिरों के स्थापत्य में विभिन्न भागों की व्यावहारिक भूमिकाओं को भली-भाँति समझने का अभाव रहा है। मूर्तिकला यद्यपि प्राणवान है तथापि इसका मानव शरीर-विन्यास से कोई संबंध रहा प्रतीत नहीं होता। राणा कुंभा के प्रमुख वास्तु-शिल्पी मण्डन के समृद्ध अनुभव एवं उसके द्वारा विकसित सीधे-सादे सरल रूपाकारों की भव्यता को उत्तरवर्ती मूर्तिकारों द्वारा भली-भाँति न समझे जाने के कारण मूर्तिकला भ्रांतिपूर्ण मान्यताओं के बीच दोलायमान रही है।'

विवेच्य काल के जैन मंदिरों का अलंकारिक पक्ष बहुमुखी रहा है जिसमें एक से अधिक कला-शैलियाँ समन्वित हैं। इस अलंकारिक आलेखन में यद्यपि इसके मूर्ति-शिल्पों में कुछ कमियाँ हैं तथापि उसने इच्छित प्रभाव उत्पन्न किया है। नर-नारी की आकृतियों के अंग-विन्यास में घुमावों और अंगों की गोलाई के अंकन की अतिशयता है; मुद्राओं में अति-भंग भंगिमाओं अथवा सौंदर्यपरक विषय-वस्तुओं का अंकन है, तथापि ये आकृतियाँ पूर्वकालीन आकृतियों की निकृष्ट अनुकृतियाँ ही प्रतीत होती हैं। यद्यपि आकृतियाँ सामान्य रूप से सूक्ष्मतापरक और आकर्षक हैं तथापि वे यंत्रीकृत-सी दीख पड़ती हैं। इन मूर्ति-शिल्पों में दक्ष कलात्मकता तो है परंतु वह अल्प मात्रा में है और उसमें भी मौलिकता का नितांत अभाव है। ये मूर्ति-शिल्प गति, लय या प्रवाह से हीन हैं। यद्यपि आकृतियाँ

1. ग्येत्ज (हरमन). इण्डिया. आर्ट ऑफ द वर्ल्ड सीरिज. 1960. बम्बई. पृ 161.

सतेज और प्राणवान हैं परंतु भाव-विहीन हैं, उनमें एक रूढ़िबद्धता और कठोरता दिखाई देती है जो इनकी विशेषताएँ बन गयी हैं। पशु-पक्षियों में हाथी का अंकन विशेष आकर्षक है। उत्तरवर्ती मंदिरों का मूर्ति-शिल्पीय स्तर न्यून श्रेणी का रहा है जो बड़ी प्रतिमाओं में तो और भी अनगढ़ दिखाई देता है। कुछ मंदिरों में अलंकरण पर प्रतिबंध भी पाया गया है।

उत्तरवर्ती मंदिरों की अलंकरण-योजना में मुगल-परंपरा का एक विशेष प्रभाव देखा जाता है। कुछ उत्तरकालीन मंदिरों में चित्र और भित्ति-चित्र भी पाये गये हैं जिनमें स्पष्टतः मुगल-प्रभाव परिलक्षित है। इन चित्रों में अलंकृतियाँ तथा देवी-देवता संबंधी विषय चित्रित किये गये हैं जो स्थानीय कला-शैलियों से प्रभावित हैं। ये चित्र कलात्मक होते हुए भी विशेष प्रभावशाली नहीं हैं।

मूर्ति-शिल्पों की रचना-सामग्री मुख्यतः बलुआ पत्थर, संगमरमर, बहुमूल्य रत्न एवं मणियाँ तथा धातुएँ रही हैं। इनकी अंकित विषय-वस्तु में सत्रहवीं शताब्दी पूर्व की परंपरागत विषय-वस्तु और कला-प्रतीकों की प्रमुखता रही है। उत्तरवर्ती प्रतिमाओं में अधिकतर संख्या तीर्थंकरों की है। इसके अतिरिक्त कुछ प्रतिमाएँ अंबिका, पद्मावती तथा बाहुबली आदि की भी हैं।

मंदिर-स्थापत्य

अजमेर और दिल्ली पर मुसलमानों के आधिपत्य से जैनों द्वारा संचालित मंदिर-निर्माण के कार्य-कलाप पूर्णतया तो बंद नहीं हुए किन्तु इन्हें एक भारी आघात अवश्य पहुँचा। इस परिस्थिति में भी राजस्थान के कुछ भागों में तेरहवीं शताब्दी के मध्य अनेक आकर्षक मंदिरों का निर्माण हुआ। सन् १२०१ में मारवाड़ स्थित खेडा में शांतिनाथ के मंदिर की प्रतिष्ठापना हुई। इसी शताब्दी में पेठड़शाह द्वारा नागौर में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया गया। बीकानेर में शिवराज के पुत्र हेमराज ने मुसलमानों के आक्रमण से ध्वस्त मोरखन स्थित सुसानी जैन मंदिर का पुनर्निर्माण कराया। अजमेर में सच्चिकादेवी तथा अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की सन् १२८० में प्रतिष्ठा की गयी। इसके उत्तरवर्ती काल में तो जैनों के धार्मिक भवनों तथा मंदिरों का एक बहुत बड़ी संख्या में निर्माण हुआ।

सन् १२०० के उपरांत उत्तर भारत में जैन संप्रदाय द्वारा असंख्य मंदिरों का निर्माण कराया गया जिन सबकी चर्चा करना यहाँ संभव नहीं, परंतु कुछ उल्लेखनीय मंदिरों की चर्चा यहाँ प्रस्तुत है। पंद्रहवीं शताब्दी तक राजस्थान के अनेक नगर जैन-तीर्थों के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे जिनमें से कुछ का उल्लेख विक्रम संवत् १५५५ के रचे स्वर्णाक्षरी-कल्प-सूत्र-प्रशस्ति[1] के ३५वें छंद में मिलता है जो इस प्रकार है :

---

1 नाहटा (अगरचंद). माण्डवगढ़ के संघ-नायक जसवीर की पत्नी कुमारी लिखापित स्वर्णाक्षरी-कल्पसूत्र. जर्नल ऑफ द मध्यप्रदेश इतिहास परिषद्. 1962. भोपाल. पृ 89.

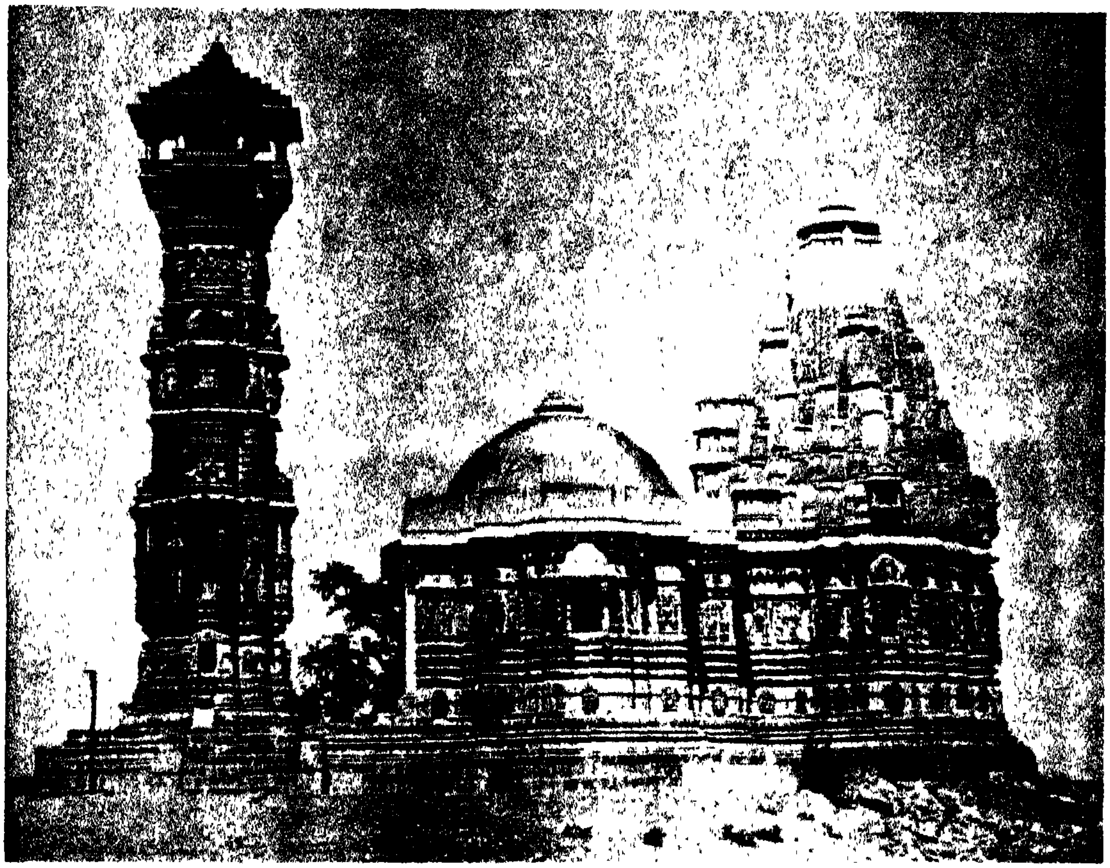
सर्व्वैत्योभट-चित्रकूट-नगरे नानोल्लसन्नागरे,
तीर्थे श्री-करहाट-नागह्रदके विश्व-प्रसिद्धाह्वये ।
श्रीमद्देव-कुलाढ्य-पाटकपुरे श्री-कुम्भमेरौ गिरौ,
तीर्थे रागपुरे वसंतनगरे चैत्यं नमस्कुर्वता ।।

गुहिल शासकों की राजधानी चितौड़गढ़ या चित्रकूट मध्यकालीन जैन स्थापत्य का एक सर्वाधिक उल्लेखनीय केंद्र रहा है। यहाँ के जैन स्मारकों में सर्वाधिक उल्लेखनीय कीर्ति-स्तंभ (संभवत: मान-स्तंभ) है जो स्थापत्यीय संरचना निर्मित एक बहुतलीय गगनचुंबी स्तंभ है। इसके काल-निर्धारण के विषय में अनेक विद्वानों का मत है कि यह सन् १२०० से पूर्वकालीन है। लेकिन कुछ विद्वान्, जिनमें एम. ए. ढाकी[1] प्रमुख हैं, इसे पंद्रहवीं शताब्दी का मानते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि राणा कुंभा के काल में इसका मात्र पुनरुद्धार और पुनर्निर्माण हुआ है। कीर्ति-स्तंभ के समीप स्थित जैन मंदिर (चित्र २१९) पर्सी, ब्राउन[2] के अनुसार, चौदहवीं शताब्दी का है और यह उसी स्थान पर बना हुआ है जहाँ पर पहले इसका मूल मंदिर स्थित था। इसके शिखर और गुंबद-युक्त मण्डप का बाद में पुनरुद्धार किया गया। परंतु इसका गर्भगृह, अंतराल और उससे संयुक्त मण्डप वाला निचला भाग पुराना ही है। इसकी चौकीदार पीठ पर स्थित बाह्य संरचना में शिल्पांकित आकृतियाँ तथा अन्य अलंकृतियाँ उत्कीर्ण हैं जो कलात्मक दृष्टि से अत्यंत संपन्न हैं। इस मंदिर का रथ-भाग, छाद्य तथा अन्य बाह्य संरचनाएं इसे अतिरिक्त सौंदर्य प्रदान करती हैं।

तीर्थंकर शांतिनाथ को समर्पित श्रृंगार-चौरी (चित्र २२०) स्थापत्यीय दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सन् १४४८ का निर्मित यह मंदिर पंचरथ प्रकार का है जिसमें एक गर्भगृह तथा उत्तर और पश्चिम दिशा से संलग्न चतुष्कियाँ है। गर्भगृह भीतर से अष्टकोणीय है जिसपर एक सादा गुंबद है। मंदिर की बाह्य संरचना अनेकानेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त मूर्ति-शिल्पों से अलंकृत है और जंघा-भाग पर उद्भृत रूप से उत्कीर्ण दिक्पालों, अप्सराओं, शार्दूलों आदि की प्रतिमाएँ हैं। मानवों (या देवी-देवताओं) की आकर्षक आकृतियों (चित्र २२१ क) के शिल्पांकन भी यहाँ पर उपलब्ध हैं। मुख्य प्रवेश-द्वार की चौखट के ललाट-बिंब में तीर्थंकर के अतिरिक्त गंगा, और यमुना, विद्यादेवियाँ तथा द्वारपालों की प्रतिमाएँ अंकित हैं। गर्भगृह के मध्य में मुख्य तीर्थंकर-प्रतिमा के लिए एक उत्तम आकार का पीठ है, तथा कोनों पर चार स्तंभ हैं जो वृत्ताकार छत को आधार प्रदान किये हुए हैं। छत लहरदार अलंकरण-युक्त अभिकल्पनाओं से सुसज्जित है जिसमें पद्मशिला का भी अंकन है। इसके चारों ओर गजतालु अंतरावकाशों से युक्त अलंकरण हैं। इस मंदिर के मूर्ति-शिल्प का एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि मंदिर के बाह्य भाग के भीतर अष्टभुजी विष्णु और शिवलिंग जैसी हिन्दू देवताओं की उद्भृत प्रतिमाएँ भी हैं। चारित्रिक विशेषताओं की दृष्टि से ये शिल्पांकित आकृतियाँ विशुद्ध रूप से परंपरागत हैं।

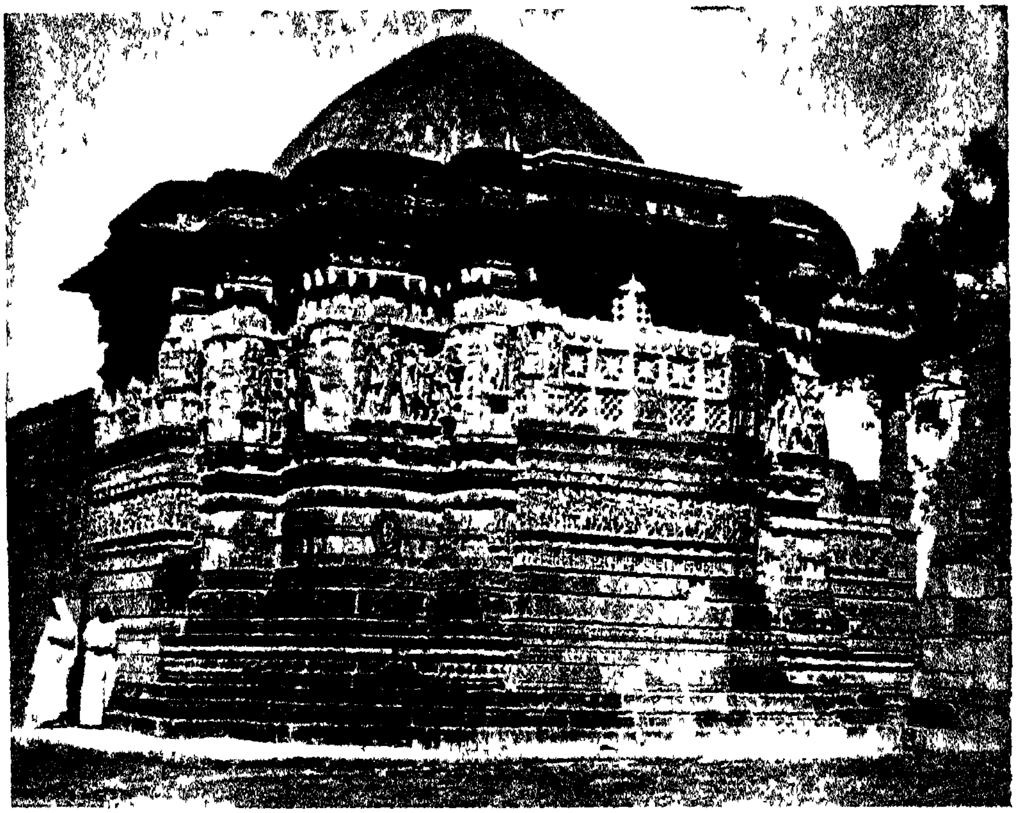
1 ढाकी (एम ए). रिनेसांस एण्ड द लेट मारु-गुर्जर टेम्पल आर्किटेक्चर, जर्नल ऑफ द सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट. स्पेशल नंबर, 1965–66. कलकत्ता, पृ 8.

2 ब्राउन (पर्सी). इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू). 1957. बम्बई, पृ 123.



चित्तौड — कीर्तिस्तंभ और मंदिर

चित्र 219



चित्तौड़ — शृंगार-चौरी

चित्र 220

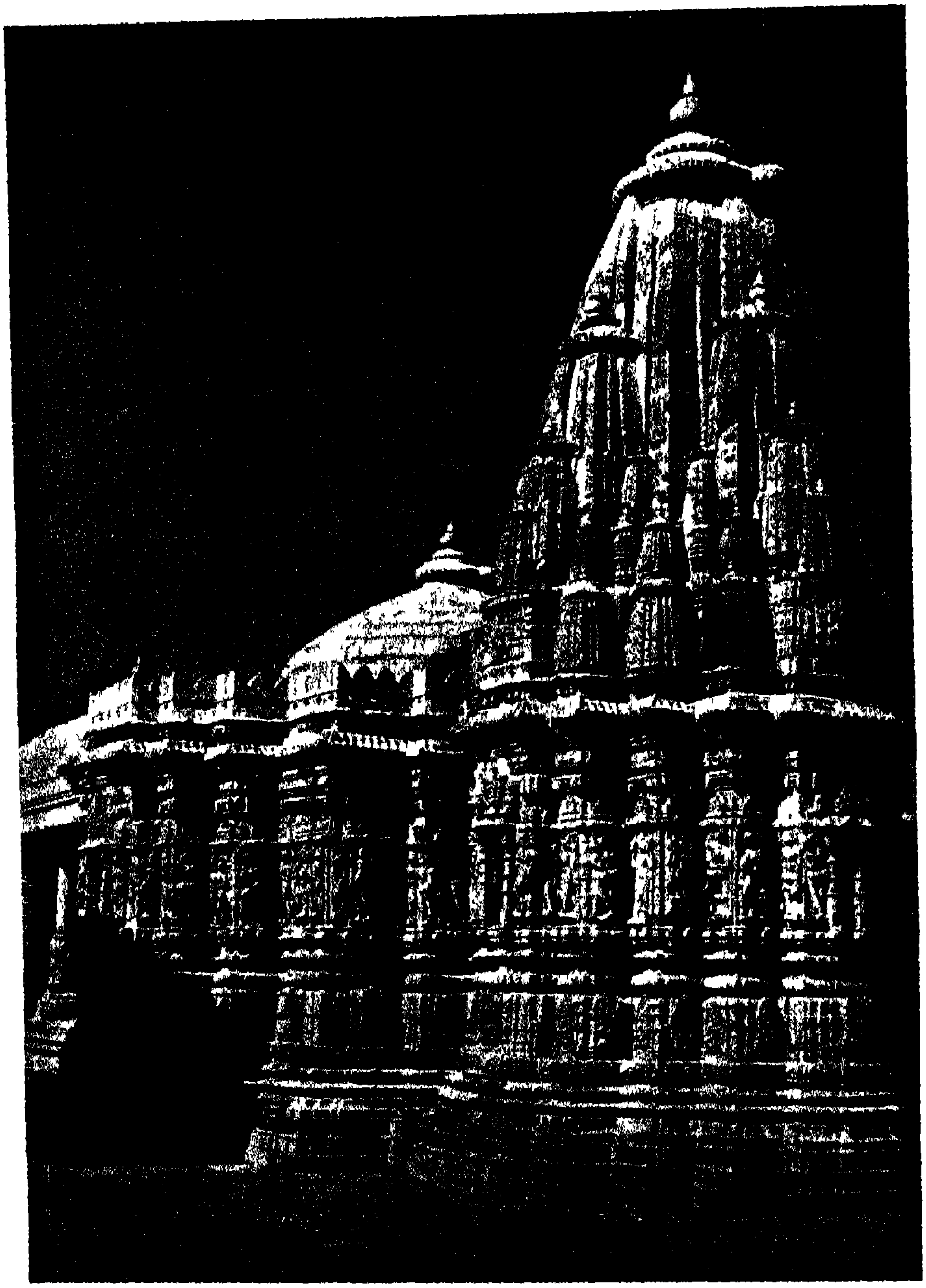


(क) चित्तौड — शृंगार चौरी, यक्षी-मूर्ति



(ख) अयोध्या - कटरा जैन मंदिर, सुमतिनाथ की टोंक

चित्र 221



चित्तौड़ — सातबीस डेवढ़ी

चित्र 222



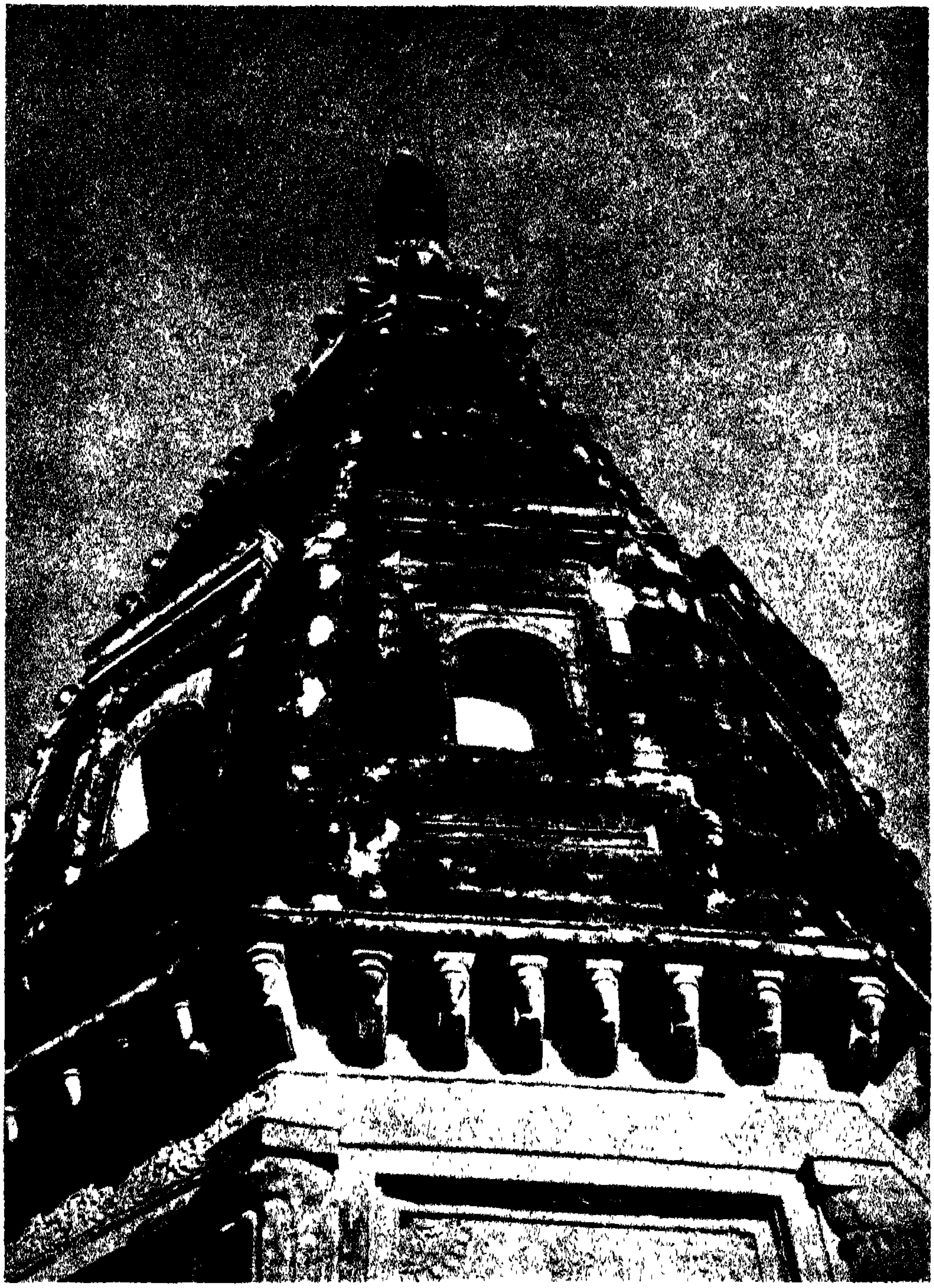
जैसलमेर किला — सुमतिनाथ-मंदिर

चित्र 223



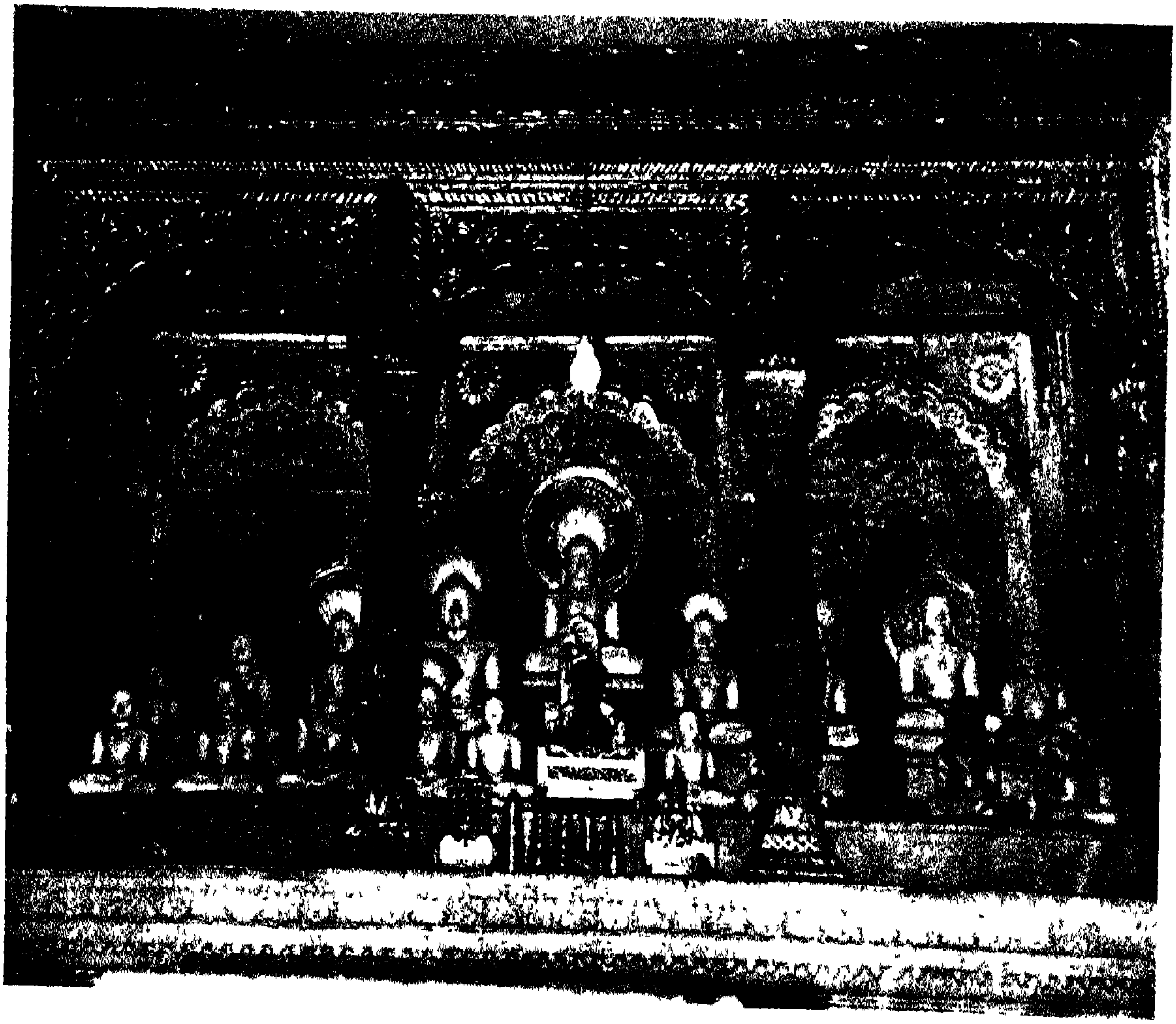
जयपुर — पाटोदी का मंदिर, भित्ति-चित्र

चित्र 224



त्रिलोकपुर — पार्श्वनाथ-मंदिर-शिखर

चित्र 225



वाराणसी — दिगंबर जैन मंदिर, अंत:भाग

चित्र 226

दूसरा उल्लेखनीय मंदिर चित्तौड़ में सात-बीस-ड्योढ़ी (चित्र २२२) है जिसका रचनाकाल शैलीगत आधार पर १५ वीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। यह मंदिर तीर्थंकर आदिनाथ को समर्पित है। इस मंदिर में गर्भगृह, अंतराल, गूढ़-मण्डप, नव-चौकी, अष्टाकार मण्डप तथा मुख-मण्डप, ये छह भाग हैं। गूढ़-मण्डप के पार्श्व में छोटे-छोटे देवालय भी हैं। सप्तरथ-प्रकार के शिखर के चारों ओर शृंगों और कर्ण-शृंगों की तीन पंक्तियाँ भी संलग्न हैं।

कुछ उल्लेखनीय जैन मंदिर जैसलमेर के दुर्ग में भी पाये गये हैं जो पार्श्वनाथ, आदिनाथ, शांतिनाथ, संभवनाथ और महावीर आदि के हैं। इन सभी मंदिरों की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। इन मंदिरों के विषय में ढाकी का यह मत[1] उल्लेखनीय है कि 'रेगिस्तानी निर्जन क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक इन मंदिरों का निर्माण मानो एक वंश-परंपरानुगत क्रम में हुआ है जैसे पिता के उपरांत पुत्र जन्म लेता है। इनकी विकास परंपरा निर्विघ्न रूप में स्थिर गति से बढ़ती रही है जिसे देखकर इसकी प्रगति अथवा अन्यथा स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।' इनमें सबसे प्राचीन मंदिर सन् १४१७ में निर्मित पार्श्वनाथ को समर्पित लक्ष्मण-विहार है। इस मंदिर में उत्कृष्ट तोरण, अलंकृत मुख-चतुष्की, रंग-मण्डप, त्रिक्-मण्डप, गूढ़-मण्डप, मूल-प्रासाद तथा मूल-प्रासाद के चारों ओर बावन देवकुलिकाएँ है जो जैन मंदिरों में सामान्य रूप से पायी जाती हैं। भवन, बड़े कक्ष (मूल-प्रासाद) के स्तंभ और छत के अलंकरणों में कुछ अवशिष्ट अलंकारिक विशेषताएँ प्राचीन महा-मारु स्थापत्यीय शैली का स्मरण कराती हैं। सन् १४३१ में निर्मित संभवनाथ के मंदिर के रंग-मण्डप की छत अत्यंत दर्शनीय है, जिसके अलंकरण में तीन शताब्दी पूर्व की सुपरिचित अनेक विशेषताओं का उपयोग किया गया है। सन् १४५३ का निर्मित तीर्थंकर चंद्रप्रभ का मंदिर रणकपुर के प्रसिद्ध चतुर्मुख मंदिर का लघु संस्करण-सा प्रतीत होता है। इसकी छतें पूर्वोक्त दो मंदिरों की भाँति प्रचलित परंपराओं के विपरीत हैं। सन् १४८० के निर्मित शांतिनाथ-मंदिर की कुछ छतें और संवरण (घण्टे के आकार की छत) (चित्र २२३) अपनी जटिलता के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी वर्ष निर्मित आदिनाथ-मंदिर पूर्वोक्त चारों मंदिर की भाँति उल्लेखनीय नहीं है। इसी काल के निर्मित जैसलमेर के शेष दो मंदिरों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

जैसलमेर के पार्श्वनाथ-मंदिर का उल्लेख दश-श्रावक-चरित (सन् १२१८) की प्रशस्ति में पाया जाता है। इस उल्लेख के अनुसार इस मंदिर का निर्माण किसी जगद्धर[2] नामक व्यक्ति ने कराया था। इस मंदिर का प्रक्षिप्त भाग पूर्वोक्त तिथि से परवर्ती है। इन मंदिरों की सशक्त शैली को इन की विशेषता के रूप में परिलक्षित किया जा सकता है। इनमें पार्श्वनाथ का मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह मंदिर पत्र-पुष्पों, पशु-पक्षियों, मानव-आकृतियों तथा अलंकारिक कला-प्रतीकों के समृद्ध अंकन द्वारा अति-सुसज्जित है। छत, स्तंभ, टोडे, तोरणों की आकृतियाँ रीतिबद्ध होने पर भी आकर्षक हैं। इन मंदिरों में, विशेषकर शांतिनाथ-मंदिर में, गुंबदों और कंगूरों की उपस्थिति तथा

1 ढाकी (एम ए), पूर्वोक्त, पृ 7.
2 जैन (कैलाशचन्द्र). जैनिज्म इन राजस्थान, 1963. शोलापुर, पृ 126.

तदनुरूप बाह्य संरचना की सरलता और सादगी सल्तनत-स्थापत्य के प्रभाव को प्रदर्शित करती है।

उत्तर भारत के मध्यकालीन कला-इतिहास की दृष्टि से बीकानेर के जैन मंदिर भी महत्त्वपूर्ण हैं। बीकानेर का सबसे प्राचीन जैन मदिर पार्श्वनाथ का है जिसका निर्माण भाण्ड नामक एक व्यापारी द्वारा सोलहवी शताब्दी के लगभग प्रारंभिक काल में शुरू कराया गया और जो संभवतः सोलहवीं शताब्दी के मध्य या उसके उपरांत ही पूर्ण हो पाया। भाण्ड नामक व्यापारी द्वारा निर्मित कराये जाने के कारण इस मंदिर को भाण्डसर-मंदिर भी कहा जाता है। संरचना की दृष्टि से यह मंदिर एक अत्यंत महत्त्वाकांक्षी योजना है और इसमें भारतीय इस्लामी स्थापत्य के तत्त्वों का निश्चित रूप में उपयोग हुआ है। यह मंदिर उन प्रवृत्तियों से रहित नहीं है जो उत्तरवर्ती स्थापत्य में आकर जुड़ी हैं। यह मंदिर सामान्य भागों से युक्त है। इस मंदिर की शैली में परंपरागत तथा मुगल, इन दो शैलियों का समन्वय है, जिसमें परंपरागत शैली का शिखर तथा मुगल-शैली का मण्डप विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मंदिर के लंबे शिखर की बाह्य संरचना में बाह्य कोणों तथा लघु शिखरों से युक्त उरःशृंगों का सुंदरता के साथ उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दिशा के मध्यभाग में प्रक्षिप्त दो तलों वाले गोखे हैं। इस मंदिर का विवरण देते हुए ग्येत्ज ने लिखा है[1] कि 'इस मंदिर का गर्भगृह एवं प्रदक्षिणा-पथ द्वितल हैं। प्रत्येक तल में चारों ओर प्रवेश-द्वार हैं, ऊपरी तल के चारों द्वार गोखों में खुलते हैं। ये चारों गोखे एक तंग सीढ़ियों द्वारा परस्पर संबंधित हैं। ऊपरी तल के मध्यवर्ती कक्ष में जैन प्रतीक समवसरण का अंकन है जिसमें 'विश्व-नगर' की अध्यक्षता करते हुए धर्म-प्रचारक तीर्थंकर सर्वतोभद्र रूप से दर्शाये गये है। यह मंदिर जैसलमेर के पीले पत्थरों से निर्मित है। इस मंदिर का स्थापत्य मारवाड़ और जैसलमेर के समकालीन अन्य जैन मंदिरों की भाँति अनगढ़ है। परंतु मण्डप, उसके चारों ओर की वीथियाँ तथा प्रवेश-मण्डपों के कारण यह प्रभावशाली बन पड़ा है। इन संरचनाओं का आंशिक रूप से पुर्ननिमाण सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में हुआ है।'

दूसरा उल्लेखनीय मंदिर चिंतामणि राव बीकाजी का है जिसका निर्माण चिंतामणि राव बीकाजी ने आरंभ कराया था; जो उनकी मृत्यु के उपरांत सन् १५०५ में पूरा हो पाया। यह मंदिर एक सामान्य मंदिर है जिसमें एक गर्भगृह तथा उससे संलग्न मण्डप हैं। आगे चलकर इस मंदिर का विस्तार किया गया जिसमें एक अन्य मण्डप तथा दो दिशाओं में प्रवेश-द्वार एवं मुख-मण्डप और जोड़ दिये गये। इसका मूल-प्रासाद मध्यकालीन गुर्जर-शैली का है, तथा इसकी ऊँचाई कम है इसलिए ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता कि इसका विस्तार उत्तरवर्ती काल में हुआ। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इस मंदिर में परंपरागत कला-प्रतीकों को गलत रूप से प्रयुक्त किया गया है। इसकी बाह्य संरचनाओं में गुंबद-युक्त मण्डपों, प्रवेश-मण्डपों तथा स्तंभों और उनके शीर्षों की अभिकल्पना एवं

1 ग्येत्ज (हरमन). दि आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर ऑफ बीकानेर. 1950. ऑक्सफोर्ड. पृ 59.

स्थापत्यीय निर्माण में अहमदाबाद और चंपानेर की सल्तनत-स्थापत्य-शैली के प्रभाव को ग्रहण किया गया है। इस मंदिर के एक भण्डार में सिरोह राज्य से लूटी गयी जैन प्रतिमाओं को राव रायसिंह द्वारा सन् १५८३ में सुरक्षित रखा गया था तथा इसके निकट ही इसी प्रकार का एक कृत्रिम आदिनाथ का मंदिर स्थापित कराया गया जिसमें आदिनाथ की संगमरमर निर्मित एक विशाल प्रतिमा भी स्थापित की गयी। इस मंदिर की कुछ अलंकृतियाँ समृद्ध अलंकारिक तत्त्वों से युक्त हैं। इसकी छत पर उत्तरवर्ती काल में भित्ति-चित्रों की रचना की गयी। इन भित्ति-चित्रों में परियों-जैसी कुछ विदेशी मूल की देवियों की आकृतियाँ भी चित्रित हैं।

बीकानेर की जैन मंदिर-स्थापत्य-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण नेमिनाथ का मंदिर है जिसका निर्माण सन् १५३६ में हुआ। मूल-प्रासाद गूढ़-मण्डप तथा इसकी संलग्न दिशाओं में अर्ध-मण्डप से युक्त यह मंदिर अपनी निर्माण-योजना में पूर्वोक्त अन्य दोनों मंदिरों के समानप्राय है। इस मंदिर की योजना में मूलभूत एकता है जो अत्यंत समृद्धशाली है। इसके समस्त भाग संतुलित एवं समायोजित अलंकरण से सुसज्जित हैं। मूर्ति-शिल्पों, अभिलेखनाओं एवं कला-प्रतीकों में पारंपरिक लक्षणों का परिपालन हुआ है तथा इसमें भारतीय-इस्लामी प्रभावों से समन्वित अरब-शैली के अलंकरणों का भी समावेश है।

नागदा के अंतर्गत इकलिंगी नामक स्थान पर पद्मावती-मंदिर के नाम से प्रसिद्ध एक जैन मंदिर भी उल्लेखनीय है जिसका एक भाग पहाड़ी चट्टान को उत्खनित कर बनाया गया है। मंदिर के मुख्य गर्भगृह पर पाये जानेवाले विक्रम संवत् १३५६ तथा १३६१ के अभिलेख के अनुसार यह मंदिर पार्श्वनाथ को समर्पित रहा प्रतीत होता है। इसमें एक सादा मूल-प्रासाद है जिसका स्तंभाकार केंद्रवर्ती शिखर अग-शिखरों से सुसज्जित है तथा गुंबद-दार मण्डप, जो संभवतः पुनरुद्धार के समय बनाया गया है, आगे निकले हुए प्रवेश-मण्डपों से युक्त है। अंतर्भाग में तीन गर्भगृह हैं जिनमें से एक में सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा प्रतिष्ठित है, अन्य दोनों गर्भगृह रिक्त हैं। इस मंदिर में अलंकरण-अभिलेखनाएँ अल्प ही है परंतु उसके कुछ भागों में देवी-देवताओं की शिल्पांकित आकृतियाँ अवश्य हैं।

नागदा में दो जैन मंदिर और भी हैं जिनमें एक अद्भुद्जी-मंदिर के नाम से जाना जाता है। इस समय इस मंदिर का मात्र गर्भगृह तथा उससे संलग्न अंतराल, लंबे अनेक सतह वाले स्तंभ एवं शांतिनाथ की विशाल प्रतिमा ही शेष बच रही है। इसका निर्माण राणा कुंभा के शासनकाल के अंतर्गत विक्रम संवत् १४९५ में सारंग नामक एक व्यापारी ने कराया था। यहाँ पर कुछ अन्य मूर्तियाँ भी पायी गयी हैं जिनमें से मात्र तीर्थंकर कुंथनाथ और अभिनंदननाथ की दो प्रतिमाएँ ही पहचानी जा सकी हैं।[1] मंदिर के बाह्य भाग में कुछ स्थापत्यीय निर्मितियों के अवशेष भी पाये गये हैं। दूसरा

[1] कज़िन्स (एच). प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दि आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया फॉर दि ईयर एण्डिंग 1905. पृ 62.

मंदिर पार्श्वनाथ का है जिसका काल पंद्रहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है । इसकी निर्माण-योजना उल्लेखनीय है । इसमें एक गर्भगृह, एक बंद बड़ा कक्ष तथा तीन छोटे कक्ष हैं । छोटे कक्षों में से अंतिम कक्ष कुछ डगों की दूरी के कारण अन्य तीनों से अलग है तथा इससे एक प्रवेश-मण्डप भी संलग्न है । मंदिर की बाह्य संरचना सामान्य प्रकार की है, दीवारों पर शिल्पाकृतियाँ हैं, छत उन्नतोदर आकार की है जिसपर पत्र-पुष्पों एवं आकृतियों का अलंकरण है ।

मध्यकालीन जैन मंदिरों में कुछ मंदिर फलौदी, कोटा, किशनगढ़, मारोठ, सीकर तथा राजस्थान के अन्य स्थानों में भी सुरक्षित बच रहे हैं । इनमे से कोई भी मंदिर संरचना की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं है । कोटा के चंदखेड़ी नामक स्थान के मंदिरों में से एक मंदिर भूमिगत प्रकार का है[1] जो सत्रहवीं शताब्दी का है । संभवतः अन्य उन्मादी धर्मानुयायियों से जैन प्रतिमाओं की सुरक्षा के लिए इस मंदिर को भूमि के भीतर बनाया गया है ।

अन्य जैन मंदिरों में जयपुर के सिंघी झुंताराम का मंदिर तथा पटोदी के दो जैन मंदिर उल्लेखनीय हैं । सिंघी के मंदिर में प्रांगण, गर्भगृह तथा पीछे की ओर गुंबद-मण्डित एक बड़ा कक्ष है । इसके पार्श्वों में दालान हैं तथा सम्मुख भाग में एक गुंबद-मण्डित प्रवेश-कक्ष है । तीनों भाग मिलकर एक गर्भगृह का रूप धारण किये हुए हैं जिनके ऊपर परंपरागत शिखर हैं ।

पटोदी का मंदिर संरचना की दृष्टि से उत्तरकालीन है लेकिन कलात्मक दृष्टि से, विशेषकर भित्ति-चित्रों के लिए, उल्लेखनीय है । इसके भित्ति-चित्रों में जैन धर्म संबंधी दृश्य अंकित हैं (चित्र २२४) । यह मंदिर स्थापत्यीय एव कलात्मक दृष्टि से मुगल प्रभाव को ग्रहण किये हुए है । इसके तीनों भाग मध्यकालीन परंपरागत शिखरों से युक्त हैं ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिमालय के आंचल में जैन स्थापत्य कला का प्रतिनिधित्व करनेवाला द्वारहाट स्थित मण्या नामक मात्र एक ही मंदिर है । इस मंदिर में उस मंच के तीनों ओर निर्मित छोटी-छोटी देवकुलिकाओं के समूह हैं जिसपर संभवतः मूल मंदिर आधारित था । मंदिर की कुछ कड़ियों तथा मंच के आधार-भाग पर तीर्थंकर-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं, जो अनगढ़ हैं । यह मंदिर नितांत सादा तथा परंपराबद्ध है । इस मंदिर का निर्माण संभवतः चौदहवीं शताब्दी के लगभग, इस क्षेत्र के कत्यूरी राजाओं के शासनकाल में हुआ । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अभिलेखीय एवं मूर्तिपरक खोजों[2] के अनुसार दसवीं शताब्दी के अंतर्गत द्वारहाट में कम से कम एक जैन संस्थान विद्यमान रहा है ।

1 जैन, पूर्वोक्त, पृ 128.

2 लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व द्वारहट के एक मैदान में कुछ जैन प्रतिमाओं के अवशेष पड़े हुए देखे थे जिनमें एक देवी की प्रतिमा भी थी जो लगभग दसवीं शताब्दी की है । इसी स्थान पर सन् 983 का एक अभिलेख भी मिला है जिसमें किसी अर्जिका का उल्लेख है । तुलनीय: एनुअल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपीग्राफी, 1958-59, संख्या 383.

मध्य देश (गंगा-जमुना की घाटी) के जैन मंदिर अधिकांशतः सत्रहवीं शताब्दी के हैं; या फिर उसके उत्तरवर्ती काल के। इन मंदिरों में स्थित प्रतिमाएँ अधिकांशतः पूर्ववर्ती काल की हैं। इनमें से अनेक मंदिरों का उत्तरवर्ती काल में पुनर्निमाण अथवा विस्तार भी हुआ है। स्थापत्यीय दृष्टि से इन मंदिरों में पूर्वकालीन स्थापत्य-कला-परंपराओं का सीमित प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इस समय जो मंदिर सुरक्षित बच रहे हैं उनमें से कुछेक मंदिर ही हमारे ध्यान को आकर्षित कर पाते हैं। इनमें से अयोध्या, वाराणसी, त्रिलोकपुर, शौरीपुर और फिरोजाबाद के मंदिर उल्लेखनीय हैं।

तीर्थंकर आदिनाथ के जन्मस्थल होने के कारण अयोध्या को प्रमुख जैन तीर्थों में परिगणित किया जाता है। प्रारंभिक काल में यहाँ पर अनेक मंदिर रहे होंगे लेकिन इस समय जो मंदिर बच रहे हैं उनमें से एक ही मंदिर उल्लेख करने योग्य है, जिसे कटरा कहा जाता है। इसमें अनेक जैन प्रतिमाएँ हैं। सबसे प्राचीन प्रतिमा विक्रम संवत् १२२४ की है। अन्य प्रतिमाओं पर जो अभिलेख हैं उनके अनुसार उनका समय विक्रम संवत् १५४८ तथा १६२६ है। यह मंदिर अठारहवीं शताब्दी का है। इसके प्रांगण में सुमतिनाथ के चरण-चिह्नों पर निर्मित टोंक (चित्र २२१ ख) पर जो अभिलेख मिला है उसमें विक्रम संवत् १७८१ का उल्लेख है। इस मंदिर में गर्भगृह के ऊपर चार सतहवाला शंक्वाकार शिखर है जिसकी बाह्य संरचना पर लहरदार अलंकरण है। टोंक की रचना अष्टकोणीय है जिसके ऊपर एक छोटा-सा गुंबद है। यहाँ पर तीर्थंकरों के कुछ अन्य टोंक भी हैं लेकिन उनमें से कोई भी कलात्मक दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं है।

बाराबंकी जिले में त्रिलोकपुर स्थित पार्श्वनाथ का मंदिर भी उल्लेखनीय है जिसका प्रासाद अष्टकोणीय है, शिखर शंक्वाकार है जिसके आधार में टोड़े (चित्र २२५) लगे हुए हैं तथा शिखर के आधार की निचली सतह की भित्ति पर छोटे-छोटे तोरणदार आले बने हुए हैं। शैलीगत रूप में यह मंदिर लखनऊ की स्थापत्य-शैली से प्रभावित हैं; फलतः इसका रचनाकाल उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक काल निर्धारित किया जा सकता है। इस मंदिर की पार्श्वनाथ-प्रतिमा कुछ पूर्ववर्ती है।

पार्श्वनाथ की जन्मभूमि होने के कारण वाराणसी सुप्रसिद्ध जैन तीर्थ-स्थल रही है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भेलुपुरा में जिस स्थान पर पार्श्वनाथ का मंदिर है, उसी स्थान पर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। विक्रम संवत् १६१९ के लिखे एक ग्रंथ में प्राप्त इस मंदिर के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस मंदिर का निर्माण अकबर के शासनकाल में हुआ था।[1] परंतु वर्तमान मंदिर बहुत उत्तरवर्ती है क्योंकि इसकी शैली उत्तरवर्ती पतनोन्मुखी मुगल शैली (चित्र २२६) के समरूप है, जो बहुत समय बाद की है। उत्तरवर्ती मध्यकाल की जैन प्रतिमाओं का इस मंदिर में एक उत्तम संग्रह है।

1 भारत के दिगंबर जैन तीर्थ. प्रथम खण्ड. संपा. जैन (बलभद्र). 1974. बम्बई. पृ 129.

आगरा, शौरीपुर और फिरोजाबाद के जैन मंदिरों में भी मध्यकालीन जैन प्रतिमाओं के अच्छे संग्रह हैं। इनमें से कुछ प्रतिमाएँ बहुमूल्य पत्थरों से भी निर्मित हैं। ये मंदिर-संरचना की दृष्टि से साधारण हैं। अधिकांशतः मंदिरों में एक बड़े पैमाने पर हुए पुनर्निर्माण तथा मरम्मत-कार्य के कारण उनकी मूल विशेषताओं में से एकाध ही बच रही है। यही स्थिति दिल्ली के प्रसिद्ध लाल मंदिर की है जिसका निर्माण सन् १६५६ में हुआ था। दिल्ली में एक दूसरे जैन मंदिर का निर्माण धर्मपुरा में राजा हरसुखराय ने सन् १८०० में प्रारंभ कराया था जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पूरा हो पाया। तेरहवीं से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक की अनेक जैन प्रतिमाएँ दिल्ली, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के उत्तरकालीन मंदिरों में पायी जाती हैं परंतु ये प्रायः अनगढ़ और निष्प्राण हैं।

मुनीश चंद्र जोशी

अध्याय 26

पूर्व भारत

जैनों के प्रश्रय में पल्लवित कला में पूर्व-भारतीय कला के उपादानों की स्थिति के विषय में हम इक्कीसवें अध्याय में विवेचन कर चुके हैं। इन उपादानों की संभवतः जो अंतिम झलक थी उसे भी लुप्त होने में अधिक समय नहीं लगा। विजातीय इस्लामी प्रभाव के प्रतिरोध ने हिन्दुत्व को एक ऐसा नया रूप ग्रहण करने की दिशा में प्रवृत्त किया जो अन्य संप्रदायों के प्रति व्यापक सहिष्णु दृष्टि-कोण लेकर चले। पूर्व भारत का जैन समाज, जो इस क्षेत्र में अत्यल्प संख्या में था, हिन्दुत्व के इस नये प्रभाव में आने से नहीं बच सका। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुत्व के इस प्रभाव ने जैनों को अपने में समाहित कर लिया तथा उनके अभीष्ट उपादानों को अपने नवीन उपयोगों के लिए रूपांतरित कर डाला। इस रूपांतरण के लिए जैनों के अनेक देवी-देवताओं ने भी स्वयं को सहज रूप से प्रस्तुत कर दिया। इन रूपांतरणों के अनेक रोचक साक्ष्य हमें उपलब्ध है; उदाहरण के लिए, पार्श्वनाथ का बलराम या मनसा के रूप में रूपांतरण हुआ (जिसमें उनके स्पष्टतः परिलक्षित यौनांगों को सावधानीपूर्वक छिपा दिया गया); ऋषभनाथ का शिव के रूप में तथा अंबिका का दुर्गा के रूप में रूपांतरण हुआ, आदि-आदि। इस प्रकार पूर्व भारत के जन-समाज के धर्म के रूप में जैन धर्म व्यावहारिक रूप से लुप्त हो गया, ऐसा माना जा सकता है।

तत्कालीन परिस्थिति में यद्यपि जैन धर्मानुयायी हिन्दू समाज में समन्वित हो गये तथापि इससे यह तात्पर्य नहीं लिया जाना चाहिए कि उस काल में पूर्व भारत में जैन धर्म का अस्तित्व ही नहीं रहा। जैन धर्म अपने अस्तित्व में तो रहा लेकिन एक ऐसे तत्त्व के रूप में जो अनाहूत एवं अनपेक्षित हो और स्वयं को स्वतः ही परिवर्तित करने के लिए तत्पर हो। यह सुविदित है कि पश्चिम भारत के विभिन्न व्यापारी और महाजन मुगल-काल में पूर्व भारत के मुगल-शासन-केंद्रों और उनके निकटवर्ती विभिन्न क्षेत्रों में बस गये थे। इनमें अधिकांशतः जैन धर्मानुयायी थे और वे अपने धर्म के प्रति अत्यंत निष्ठावान और दृढ़ विश्वासी थे। ये लोग जहाँ-जहाँ बसे वहाँ-वहाँ उन्होंने अपने कार्य-कलापों का आरंभ किया। इन कार्य-कलापों तथा उनके प्रश्रय में पल्लवित कलाओं द्वारा पूर्व भारत में जैन धर्म और संस्कृति एक बार पुनः जीवित हो उठी।

बंगाल में मुगल-शासन का सर्वप्रथम केंद्र ढाका (बांग्ला देश) रहा है जिसे प्राचीनकाल में जहांगीर-नगर के नाम से जाना जाता था। पूरनचंद नाहर[1] ने इस क्षेत्र से प्राप्त दो अभिलेखों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए बताया है कि इन अभिलेखों में जैन मंदिरों के निर्माण और उनकी प्रतिष्ठा कराये जाने के उल्लेख है। इन मंदिरों का निर्माण स्पष्टत: पश्चिम भारत से आकर यहाँ पर बसनेवाले जैन धर्मानुयायियों ने कराया था; परंतु इन मंदिरों का कोई भी अवशेष आज उपलब्ध नहीं है।

पश्चिम भारत के कुछ समृद्ध जैन परिवार मुर्शिदाबाद (पश्चिम बंगाल) और उसके निकट-वर्ती क्षेत्र में भी आकर बसे। मुर्शिदाबाद उत्तरवर्ती काल में शासन का केंद्र बना जिसने अठारहवीं शताब्दी की सक्रांतिकालीन राजनैतिक परिस्थितियों में प्रभावशाली भूमिका निभायी है। अठारहवीं शताब्दी में विभिन्न यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों, विशेषकर ईस्ट इण्डिया कंपनी, द्वारा अपने व्यापारिक केंद्र स्थापित किये जाने से पटना तथा पूर्व भारत के अनेक नगरों ने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इन व्यापारिक केंद्रों तथा इनके निकटवर्ती क्षेत्रों में जैन धर्मानुयायी व्यापारी पश्चिम भारत से आकर एक बड़ी संख्या में बस गये।

इन परिस्थितियों में जैनों के प्रश्रय में कलात्मक कार्य-कलापों का तीव्र गति से क्रियान्वयन हुआ। ये कला-संबधी कार्य-कलाप यद्यपि पूर्व भारतीय क्षेत्र में हुए किन्तु एक क्षेत्रीय प्रयास के अर्थ में वे पूर्व भारत से कहाँ तक सबंधित रहे है यह कहना कठिन है। पश्चिम भारत का जैन समाज प्राय: श्वेतांबर मतावलंबी रहा है। श्वेतांबर जैनों में श्वेत संगमरमर की प्रतिमाओं को वरीयता दी जाती है। श्वेत संगमरमर की प्रतिमाओं में उन्नीसवें, बीसवे, बाईसवें और तेईसवें तीर्थंकर अपवाद हैं। अत: इन जैनों ने इस क्षेत्र में जहाँ-जहाँ मंदिरों का निर्माण कराया, वहाँ-वहाँ श्वेत संगमरमर की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कीं किन्तु पूर्व भारत में श्वेत संगमरमर के उपलब्ध न होने के कारण ये प्रतिमाएँ मुख्यत: राजस्थान से मँगवायी जाती थीं और आज भी मँगवायी जाती हैं। राजस्थान में संगमरमर की खानें होने के कारण राजस्थान संगमरमर में संगतराशी और प्रतिमा-निर्माण-कला का लब्ध-प्रतिष्ठ केंद्र रहा है। राजस्थान से प्रतिमाओं के मँगवाये जाने के कारण तत्कालीन पूर्व भारत की जैन मूर्ति मुख्यत: राजस्थानी शैली की रही है। पूर्व भारत में जैनों ने निस्संदेह जैन मंदिरों का निर्माण कराया है किन्तु उससे किसी उद्देश्यपूर्ण स्थापत्य-शैली का विकास नहीं हो सका है। यदि जन-प्रश्रय में पल्लवित स्थापत्य-शैली के उदाहरण के रूप में मुर्शिदाबाद के निकटवर्ती जियागंज और अजीमगंज के जैन मंदिरों को रखा जाये तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि इन मंदिरों में मात्र संग-मरमर की संगतराशी और नालीदार अलंकरण पर ही विशेष बल दिया गया है। इसके मूल में भी राजस्थानी परंपरा विद्यमान रही है। इन मंदिरों में आयातित रंगीन टाइलों तथा कांच और चीनी की पच्चीकारी का उपयोग किया गया है। जहाँ तक कलकत्ते के बहुचर्चित बद्रीदास-मंदिर का प्रश्न है, वह पहले तो काल-क्रम की दृष्टि से विवेच्य काल के अंतर्गत आता नहीं; दूसरे, यह मात्र अलंकारिक

1 नाहर (पूरनचंद) **जैन-लेख-संग्रह**, भाग 1917. कलकत्ता.

स्थापत्य का ही एक उदाहरण है और वह भी कोई प्रभावशाली नहीं है। अतः इस विवेचन के आधार पर इस काल में जैन कला को पूर्व भारत का योगदान नगण्य ही प्रतीत होता है।[1]

सरसी कुमार सरस्वती

---

1 उत्तर-मध्यकाल में यह विश्वास किया जाता था कि बिहार की राजगिर और पारसनाथ (पारसनाथ की पहाड़ी को सम्मेत-शिखर के रूप में पहचाना जाता है) वही स्थान है जहाँ अधिकांशत तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया. ये स्थान जैन केंद्रों के रूप में निरंतर लोकप्रिय रहे हैं। इन दोनों स्थानों पर उपलब्ध अभिलेखांकित तीर्थंकर एवं अन्य प्रतिमाएं तथा पादुकाएं यह प्रमाणित करती हैं कि यहाँ पर जैन साधु निरंतर सक्रिय रहे है (शाह अंबालाल प्रेमचंद . **जैन-तीर्थंकर-संग्रह-1** (गुजराती), 1953, अहमदाबाद, पृ 453-63 तथा 444-47). परन्तु इस काल के स्मारक यहाँ पर उपलब्ध नहीं हैं. प्रोफेसर सरस्वती ने पत्राचार द्वारा राजगिर मंदिरों के न्यास के एक न्यासधारी श्री विजयसिंह नाहर से प्राप्त सूचना के अनुसार बताया है कि राजगिर में इस समय कोई भी मंदिर सन् 1800 से पूर्व का निर्मित नहीं है. लिस्टर (ई). **बिहार एण्ड उड़ीसा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स**, हजारीबाग, 1917, पटना, में उद्धृत पारसनाथ के सन् 1827 के विवरण में कहा गया है कि सन् 1765 में मुर्शिदाबाद के जगतसेठ शौगलचंद ने यहाँ पर एक पार्श्वनाथ-मंदिर का निर्माण कराया जिसकी छत पर पाँच गुंबद थे, बीच का गुंबद सबसे बड़ा था. इस कथन से इस अध्याय के शैलीगत विवरण की पुष्टि होती है./ब्लोच (टी). **एनुअल रिपोर्ट ऑफ दि आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, बंगाल सर्किल**, 1902-03, कलकत्ता, पृ 13 के अनुसार यह मंदिर भी विद्युत के गिरने से, कुछ समय पूर्व, नष्ट हो गया. इस समय जो मंदिर विद्यमान है उसका निर्माण हाल ही में हुआ है—संपादक.)

अध्याय 27

मध्य भारत

विवेच्य काल में विदेशी शासन द्वारा उत्तरी और मध्य भारत में कला और स्थापत्य के विकास को गंभीर आघात पहुँचाया गया। किन्तु अनेक शासकों की प्रतिरोधक मनोवृत्ति के रहते हुए भी भारत में धार्मिक गतिविधियाँ विकासशील रहीं। वैष्णव, शाक्त और जैन साधुओं ने जन-वर्ग को मानसिक व्यथाओं से रक्षा की। उसमें उन्होंने एक नयी आत्मिक चेतना जाग्रत की जिसने उसे जीवन के प्रति निराश नहीं होने दिया। भारत में शासकों और जन-साधारण के मध्य राजनीतिक सामंजस्य के दिनों में इन साधुओं ने सहिष्णुता और सद्भाव का संदेश प्रसारित किया। कुछ सूफी-संतों के साथ-साथ, इन साधुओं ने विभिन्न मतों के जन-वर्ग को सहयोगपूर्वक रहने के लिए उपयुक्त वातावरण के निर्माण का श्रेय अर्जित किया।

इस काल से पूर्व ही दिगंबर और श्वेतांबर मतों के अनेकानेक देवों और महापुरुषों के विभिन्न मूर्त्यंकन विपुल मात्रा में निर्मित हो चुके थे। चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियों के अतिरिक्त सोलह विद्यादेवियों, चौबीस शासनदेवों (यक्षों और यक्षियों), क्षेत्रपालों, अष्टमातृकाओं, दश दिक्पालों और नवग्रहों की मूर्तियाँ भी शास्त्रविहित रूपों में बनीं। कुछ मध्यकालीन जैन शास्त्रों में चौंसठ योगिनियों, चौरासी सिद्धों और बावन वीरों का भी उल्लेख है जिन्हें प्रचलित देव-वर्ग में स्थान दिया गया। इस धर्म की आध्यात्मिक चेतना का भी देश के विभिन्न भागों में स्वागत हुआ। इस चेतना को उत्तर-मध्यकाल में मंदिरों और मूर्तियों के व्यापक विकास ने गति प्रदान की।

इस काल के व्यापारी-वर्ग में जैनों की संख्या पर्याप्त थी। उद्योग और व्यवसाय की निर्बाध प्रगति के लिए शांतिपूर्ण वातावरण अनिवार्य था। इसलिए जैनों ने अपने-अपने क्षेत्रों के शासकों को अनुकूल वातावरण बनाये रखने में अत्यधिक सहायता की और युद्धोत्तेजक प्रवृत्तियों को टालने का तो यथाशक्ति प्रयत्न किया।

प्राचीन काल में भी अनेक जैन तीर्थ-स्थलों, सिद्ध-क्षेत्रों और अतिशय-क्षेत्रों ने उल्लेखनीय महत्ता अर्जित की। मध्य भारत में ये अधिकतर पहाड़ियों पर या सरिताओं और जलाशयों के तटों पर होते थे और कुछ तो प्रकृति की सुखद गोद में बसे थे। इस काल में सोनागिरि, द्रोणगिरि, नैनागिरि, पावागिरि आदि स्थान प्रसिद्ध हुए। इन स्थानों तथा मालवा, ग्वालियर और बुंदेलखण्ड के अन्य स्थानों पर मंदिरों का निर्माण हुआ और विविध प्रकार की मूर्तियाँ बनीं।

इस काल के मंदिर-स्थापत्य में, मुख्य रूप से उत्तर-भारतीय नागर या शिखर-शैली का प्रयोग हुआ। अनेक मंदिरों के अतिरिक्त स्तंभ-मण्डपों का भी निर्माण हुआ। अलंकृत छतों के आधार के लिए उनमें शिल्पांकित स्तंभ होते थे।

इस काल की मूर्तिकला की एक विशेषता है प्रचुरता; और, दूसरी विशेषता है विशालाकार मूर्तियों के निर्माण में विशेष रुचि। तीर्थंकरों की विशालाकार पाषाण-प्रतिमाओं का निर्माण प्रचलित हो गया था। गोम्मट-मत के उदय से इस प्रचलन को व्यापक बल मिला और श्रवणबेलगोला की उल्लेखनीय मूर्ति कदाचित् प्रेरणा-स्रोत बनी। मध्य भारत में ग्वालियर, अहार, बानपुर, बरहटा, देवगढ़, बहुरीबंद आदि अनेक स्थानों में विशाल मूर्तियों का निर्माण हुआ।

तीर्थंकरों की मूर्तियों के अतिरिक्त शासनदेवों, नागों, नवग्रहों, क्षेत्रपालों, गंधर्वों, किन्नरों आदि की अनेकानेक मूर्तियाँ अब भी सुरक्षित हैं। सरस्वती, अंबिका, पद्मावती और चक्रेश्वरी देवियों की मान्यता तो पहले ही थी, अब और भी अनेक देवियों की मान्यताएँ स्थापित हुईं। जैन पौराणिक कथाओं का और लोक-जीवन का सामान्य चित्रण समकालीन कलाकारों का रुचिकर विषय था। प्राकृतिक दृश्यों के अंकन भी यत्र-तत्र किये गये।

इस काल की प्रचुरतापूर्ण तक्षण-कला के आरंभिक रूप में मूर्तियों की एकरसता उल्लेखनीय है; तथापि, उसमें सौंदर्य-बोध का अभाव नहीं है। एक सच्चा कलाकार इसे भुला भी नहीं सकता था। देवों, देवियों, अप्सराओं आदि की कुछ मूर्तियाँ तो अंगोपांगों और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यंत सुघड़ हैं, पर ऐसी मूर्तियों की संख्या सीमित ही है। किन्तु समूचे रूप में, तक्षण-कला में सौंदर्य-बोध की यह उत्कृष्टता अक्षुण्ण न रह सकी। यही कारण है कि उत्तर-मध्यकाल की कला में वह मौलिकता, नवीनता और भावात्मक सौम्य न रह सका जो परंपरा से चला आ रहा था। ग्वालियर, नरवर, ओड़छा, रीवा और गोंडवाना के हिन्दू शासकों और माण्डू के सुलतानों ने ललित कलाओं को संरक्षण दिया। मध्य भारत में विद्यमान अनेक स्मारक इस काल में ललित कलाओं को प्राप्त संरक्षण के पर्याप्त प्रमाण हैं।

बुंदेलखण्ड क्षेत्र में निर्माण के लिए काले ग्रेनाइट पाषाण और बलुआ पाषाण का उपयोग हुआ। मध्य भारत के अन्य भागों में मंदिरों और मूर्तियों के निर्माण में विभिन्न प्रकार का बलुआ पाषाण प्रयोग में आया।

ग्वालियर क्षेत्र में कला संबंधी गतिविधियाँ इस काल में चलती रहीं। ग्वालियर के किले में चट्टानें काटकर निर्मित की गयी विशाल तीर्थंकर-मूर्तियाँ विद्यमान हैं। ग्वालियर के तोमरों और उनके उत्तराधिकारियों ने स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत को संरक्षण प्रदान किया। इस संबंध में मानसिंह तोमर का नाम सुपरिचित है।

शिवपुरी से ४० किलोमीटर उत्तर-पूर्व में नरवर (प्राचीन नलपुर) में अनेक जैन मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। इन मंदिरों और मूर्तियों के उपयोग में आये श्वेत पाषाण पर यहाँ इतना अच्छा पालिश किया गया कि वह संगमरमर-सा दिखता है। नरवर के यज्वपाल, गोपालदेव और आसल्लदेव नामक राजाओं ने कला के विकास में व्यापक योग दिया।

गुना जिले के तुमैन और चंदेरी कला के महत्त्वपूर्ण केंद्र थे। चंदेरी और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में इस काल की पाषाण-मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुई हैं। उनमें तीर्थंकरों और देवियों के अतिरिक्त अन्य मूर्तियाँ भी हैं, जिनमें बहुत-सी अभिलिखित हैं। लगभग १४०० ई० में चंदेरी-पट्ट की स्थापना हुई। श्री भट्टारक देवेंद्रकीर्ति और उनके उत्तराधिकारियों ने उस क्षेत्र में जैन धर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। विदिशा जिले का सिरोंज चंदेरी के भट्टारकों के कार्यक्षेत्र में आता था।

मालवा क्षेत्र में जैन धर्म मध्यकाल में आदि से अंत तक फैलता रहा। उज्जैन और उसके आसपास के क्षेत्र में जैन मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण परमारों के शासन के बाद भी होता रहा।

मंदसौर जिले के भानपुरा में जैन कला की प्रगति हुई। वहाँ इस काल की अनेक कला-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं।

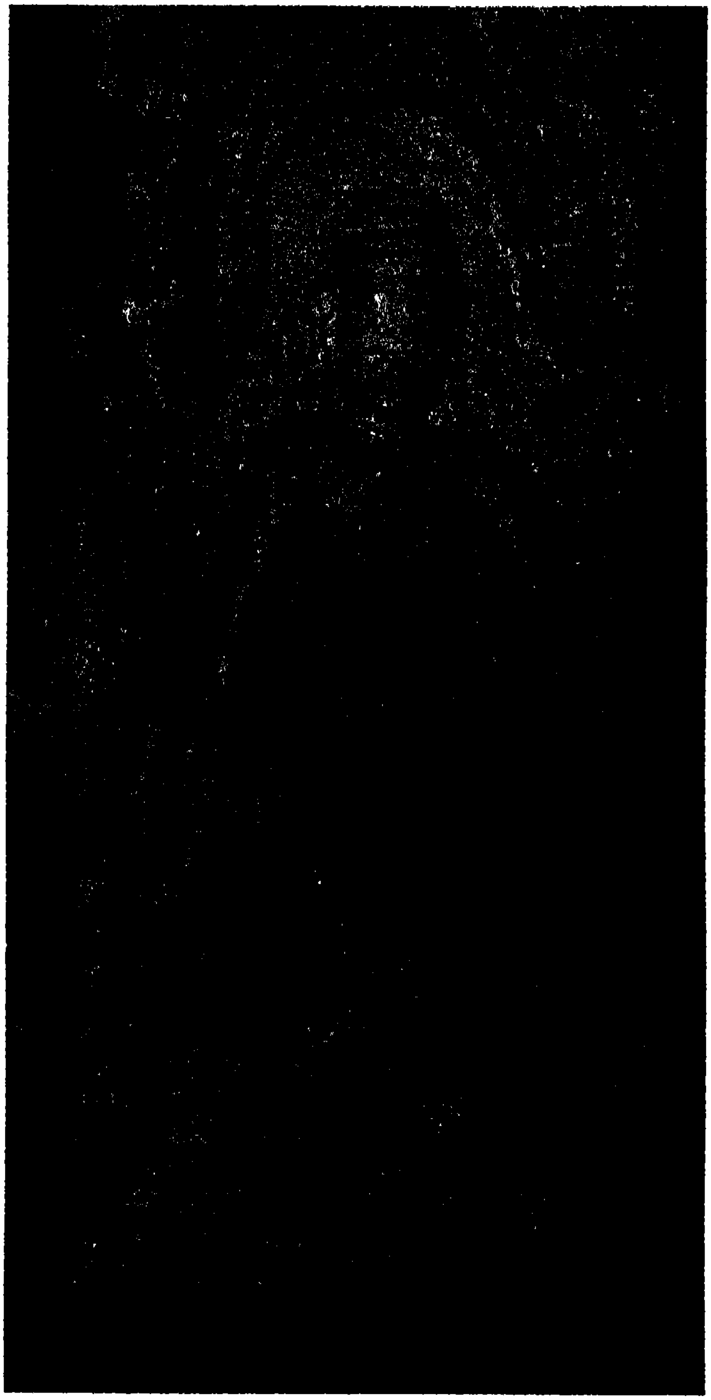
उज्जैन के समीप मक्सी पंद्रहवीं शती में दिगंबर और श्वेतांबर दोनों संप्रदायों का केंद्र रहा। यहाँ का प्रसिद्ध पार्श्वनाथ-मंदिर संग्रामसिंह सोनी ने १४६१ ई० में बनवाया था।

धार (प्राचीन धारा) के बनियाबाड़ी नामक स्थान पर एक मंदिर में चौदहवीं और पंद्रहवीं शती की अभिलिखित मूर्तियाँ हैं। प्राचीन काल में धार ज्ञान और अनुसंधान का एक महान् केंद्र था।

माण्डू (माण्डवपुर) धार के निकट स्थित है और इस काल में निर्मित भव्य स्मारकों के लिए विख्यात है। यहाँ के राजदरबार में अनेक जैन विद्वानों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इनमें पेथड शाह, झांझण और मण्डन उल्लेखनीय हैं जिन्होंने जैन धर्म और कला को प्रश्रय दिया। उन्होंने अनेक जैन मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया।

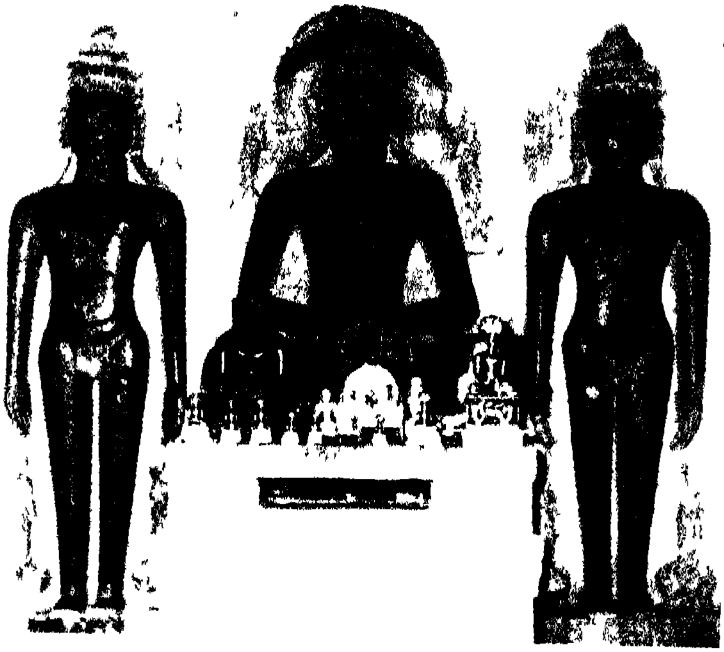
बड़वानी अपने अनेक जैन मंदिरों के कारण सिद्धनगर के नाम से विख्यात है। यहाँ एक चट्टान पर उत्कीर्ण एक मूर्ति २६ मीटर ऊँची है। चूलगिरि नामक उसी पहाड़ी पर बाईस जैन मंदिर हैं।

झाबुआ जिले के अलीराजपुर में विशाल जैन मूर्तियाँ और मंदिर निर्मित कराये गये।



दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन — सर्वतोभद्र

चित्र 227



(क) पजनारी मंदिर में तीर्थंकर-मूर्तियां



(ख) पटना — तीर्थंकर पार्श्वनाथ

चित्र 228

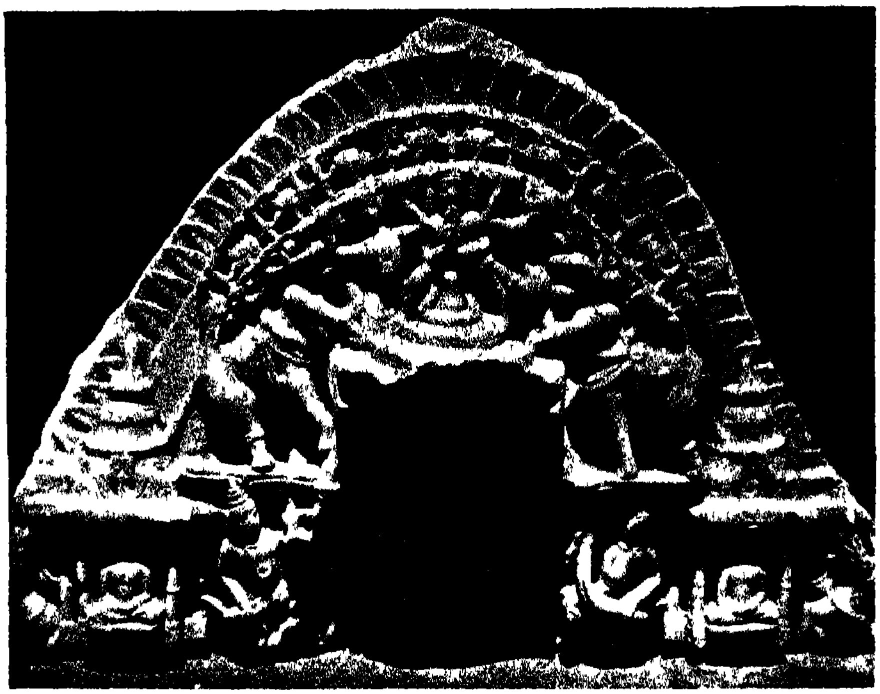


(क) ग्वालियर किला -- तीर्थंकर की शैलोत्कीर्ण मूर्ति

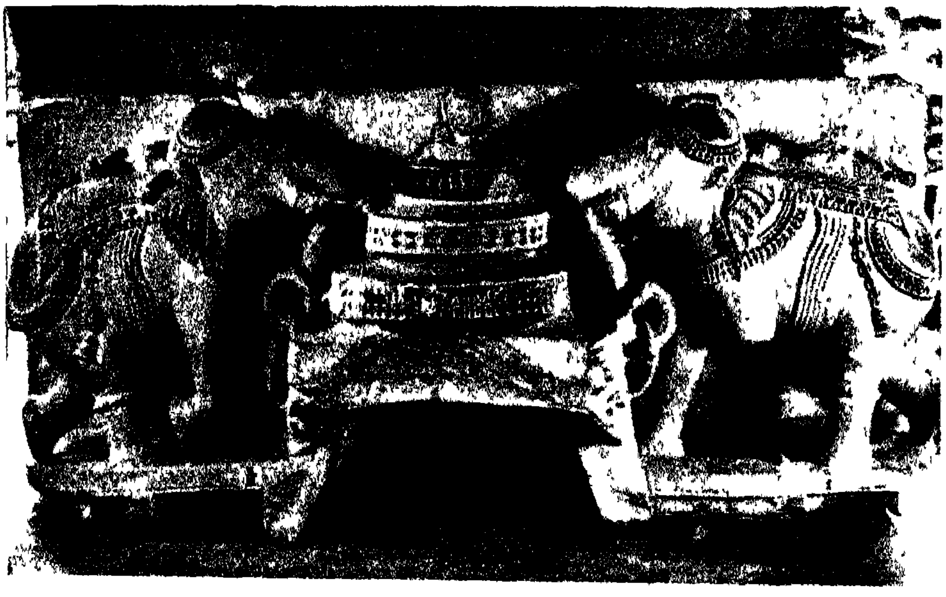


(ख) ग्वालियर किला — तीर्थंकरों की शैलोत्कीर्ण मूर्तियाँ

चित्र 229

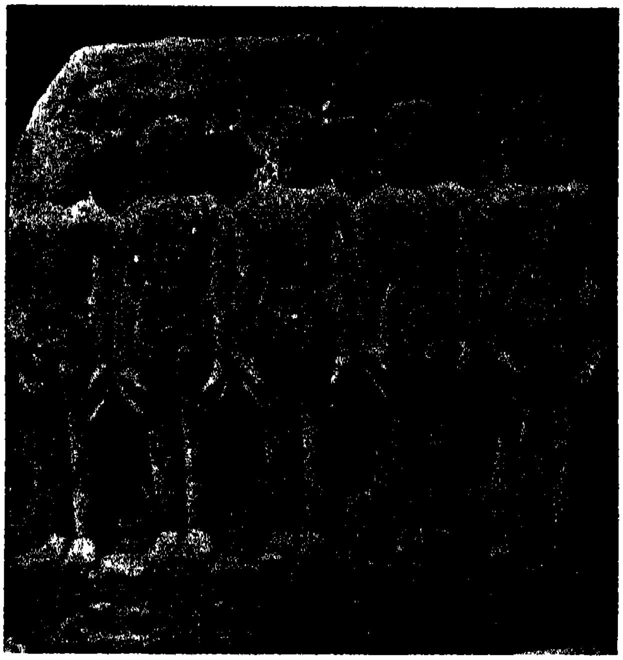


(क) दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन — तीर्थंकर-मूर्ति का परिकर



(ख) नरवर — तीर्थंकर-मूर्ति का परिकर

चित्र 230



(क) दिगंबर जैन संग्रहालय — बाल यतियों की मूर्ति

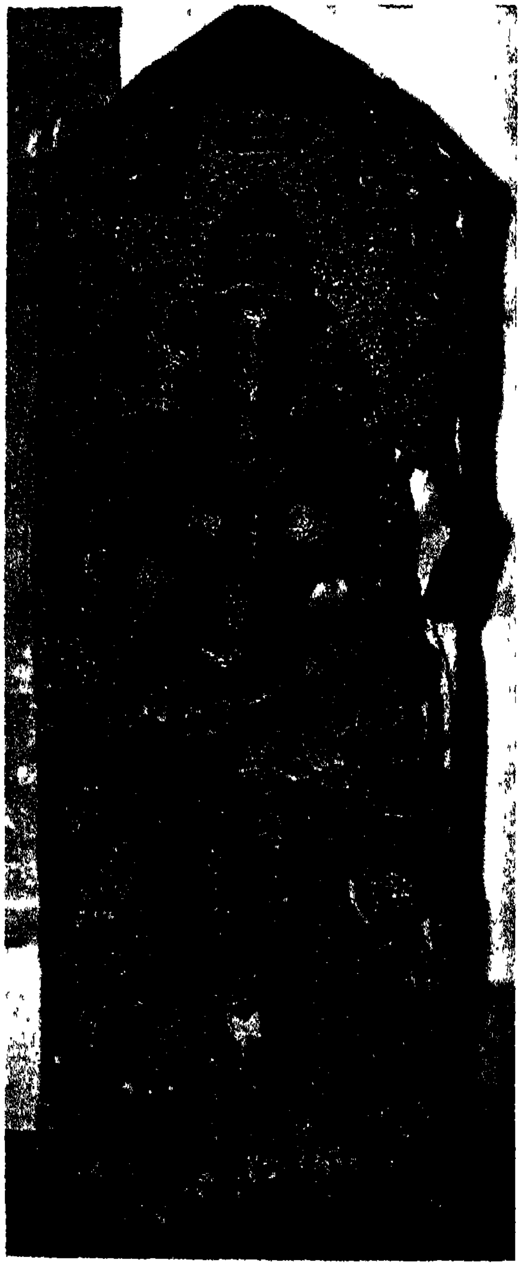


(ख) मरीमाता गुफा — विद्याधर की मूर्ति

चित्र 231



(क) शिवपुरी — अंबिका

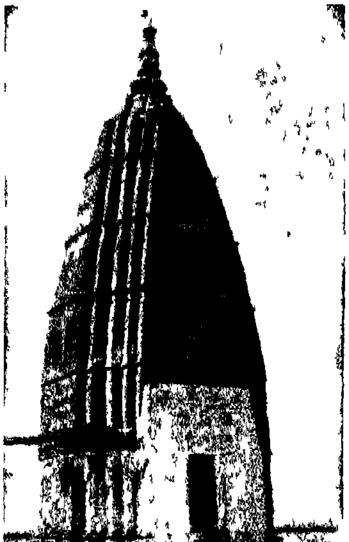


(ख) दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन — शासनदेवी की मूर्ति

चित्र 232



(क) बड़ोह — मंदिर-समूह

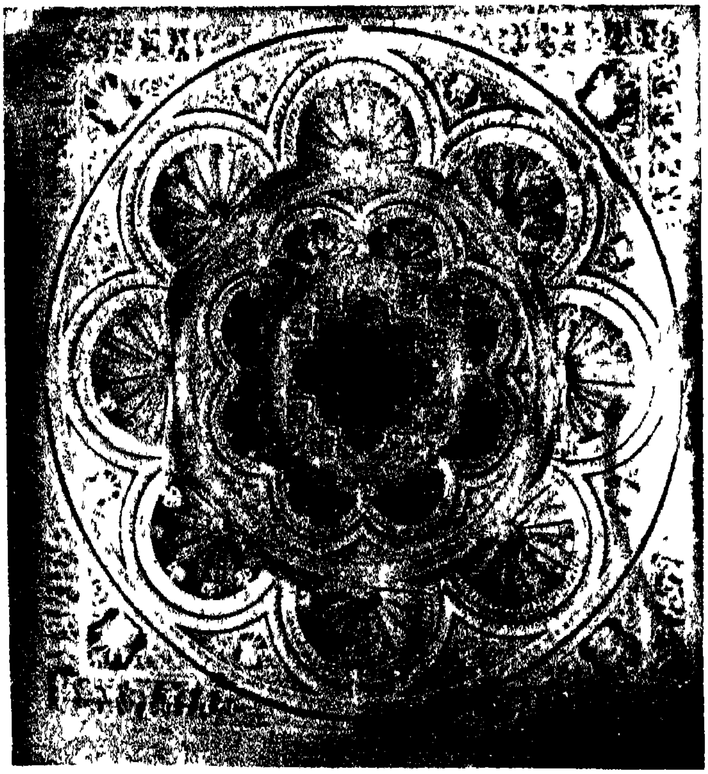


(ख) पजनारी — मंदिर

चित्र 233



(क) मल्हारगढ मदिर का ऊपरी भाग



(ख) कोल्हा — मदिर की अलंकृत छत

चित्र 234

कला के प्राचीन केंद्र विदिशा में इस काल में भी मंदिर और मूर्तियों का निर्माण होता रहा। यहाँ नाग-नागियों और यक्ष-यक्षियों की इस काल की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उसी जिले के बडोह और पठारी में अनेक जैन मंदिर और कुछ उत्कृष्ट पाषाण-मूर्तियों का निर्माण हुआ।

भोपाल जिले के भदभदा के समीप समसगढ़ में तेरहवीं शताब्दी की कुछ विशाल तीर्थंकर-मूर्तियाँ और स्थापत्य संबंधी शिल्पांकित शिलाखण्ड प्राप्त हुए हैं।

विंध्य क्षेत्र (बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड) में मध्यकाल में तक्षण-कला के क्षेत्र में जैनों ने अत्यधिक कार्य किया। देवगढ़, थूबोन, सोनागिरि, द्रोणगिरि, कुण्डलपुर, पपौरा, अहार, रहली, बीना-बारहा बानपुर, बरहटा, पजनारी तथा अन्य अनेक स्थान उल्लेखनीय हैं जहाँ कला के क्षेत्र में व्यापक कार्य संपन्न हुआ। थूबोन, कुण्डलपुर, बीना-बारहा और अहार में बारहवीं शती के अनतर बहुत समय तक निर्माण-कार्य चलता रहा।

सागर जिले में सागर से दक्षिण-पूर्व में ७५ किलोमीटर पर बीना-बारहा सुखचैन नदी के तट पर स्थित है। वहाँ दो मंदिर और एक गंधकुटी है। पहला मंदिर चंद्रप्रभ का है। मूलनायक की मूर्ति की स्थापना १७७५ ई० में भट्टारक महेंद्रकीर्त्ति ने करायी थी। इस मंदिर में महावीर की एक मूर्ति ४ मीटर ऊँची है। दूसरा मंदिर शांतिनाथ का है, उसका निर्माण १७४६ ई० में हुआ था। इसमें स्थापित शांतिनाथ की खड्गासन मूर्ति ५ मीटर से भी ऊँची है। गंधकुटी बहुत ऊँचाई पर स्थित है।

अहार टीकमगढ़ से २० किलोमीटर पूर्व में है। इस तीर्थक्षेत्र को चंदेल शासकों ने सुरुचिपूर्वक सँवारा था; उन्होंने यहाँ अनेक मंदिरों और सरोवरों का निर्माण कराया। यहाँ के वर्तमान मंदिरों का निर्माण ग्यारहवीं और उसके बाद की शतियों में हुआ। शांतिनाथ तथा अन्य तीर्थंकरों और बाहुबली के मंदिरों के अतिरिक्त यहाँ अनेक मान-स्तंभ भी हैं। मूर्तियों के पादपीठों पर उत्कीर्ण अभिलेखों से जैनों की बहुत-सी शाखाओं का परिज्ञान होता है जिन्होंने इस स्थान के विकास में योग दिया। अहार में एक संग्रहालय की स्थापना की गयी है।

टीकमगढ़ के समीप बानपुर में सर्वतोभद्र-सहस्रकूट की रचना है जिसकी प्रत्येक दिशा में एक द्वार है। नागर-शैली का यह मंदिर एक मीटर ऊँचे चतुष्कोणीय अधिष्ठान पर निर्मित है। अलंकृत स्तंभ, छतें, गर्भगृह और उत्तुंग शिखर—इस मंदिर की समूची संयोजना वास्तव में ध्यान देने योग्य है। नदी-देवियों, नवग्रहों और पुष्प-वल्लरी की संयोजना भी उत्कृष्ट अलंकरणों के साथ की गयी है। आदिनाथ, सरस्वती और अन्य देव-देवियों की मूर्तियों का अंकन सुरुचिपूर्ण है। टीकमगढ़ के समीप पपौरा और नवागढ़ नामक दो तीर्थक्षेत्र और भी हैं।

छतरपुर जिले का द्रोणगिरि भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्ध-क्षेत्र है। इस क्षेत्र में प्राकृतिक सुषमा बिखेरती पहाड़ियों पर तीस जैन मंदिर हैं। इनका निर्माण १४८३ ई० और १५३९ ई० के मध्य हुआ।

सोनागिरि, नैनागिरि, गढ़ा, गोलाकोट, पजनारी और अजयगढ़ भी उल्लेखनीय स्थान हैं जहाँ इस काल में जैन कला और स्थापत्य का विकास हुआ। पन्ना जिले के अजयगढ़ में चंदेल राजा वीर-वर्मा के शासन-काल में, १२७६ ई० में, शांतिनाथ की एक महत्त्वपूर्ण मूर्ति की स्थापना हुई थी। यहाँ निर्माण-कार्य बाद तक चलता रहा।

नरसिंहपुर जिले के बरहटा ग्राम के समीप नौनिया में आदिनाथ, चंद्रप्रभ, और महावीर की विशाल मूर्तियाँ हैं। यह स्थान ग्यारहवीं से चौदहवीं शती तक जैन केंद्र रहा।

इस काल में पाषाण की मूर्तियों के अतिरिक्त, आदिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि कुछ तीर्थंकरों की धातु की मूर्तियाँ भी बनीं। सरस्वती, अंबिका, चक्रेश्वरी आदि देवियों की मूर्तियाँ भी स्वर्ण, रजत, अष्टधातु या कांस्य धातु की बनीं। ये मूर्तियाँ विभिन्न मंदिरों में और ग्वालियर, इंदौर, रायपुर धुबेला और नागपुर के संग्रहालयों में विद्यमान हैं।

जैन धर्म और ललित कलाओं के विकास में जैन साधुओं और आचार्यों के योग का उल्लेख किया जा चुका है। उन्होंने साहित्य, मौखिक प्रवचनों और दृश्य कलाओं के माध्यम से ज्ञान के संवर्धन में प्रबल सहयोग दिया।

इस काल के साधुओं में आचार्य तारण-तरण-जी का स्थान सर्वोपरि है। विदिशा जिले में सिरोंज के समीप सेमरखेड़ी में १४४८ ई० (अपने जन्मकाल) से ही इन्होंने अपना सारा जीवन साधना में व्यतीत किया। गुना जिले में बेतवा नदी के तट पर स्थित मल्हारगढ़ में इन्होंने अपना अंतिम उपदेश दिया। अपने सड़सठ वर्ष के जीवन में इस महात्मा ने मानवतावादी दृष्टिकोण से ज्ञान का संदेश प्रसारित किया जिसमें सांसारिक जीवन की विषमताओं को कोई स्थान नहीं। यद्यपि शास्त्रों, मंदिरों और तीर्थ-क्षेत्रों की उपयोगिता पर उनका विश्वास था, तथापि, उन्होंने आचार की भूमिका पर आधारित वैचारिक स्वातंत्र्य का समर्थन किया। उनके चौदह ग्रंथ चौदह रत्नों की भाँति उनके अनुयायियों को सांसारिक और आत्मिक जीवन में समृद्धि और दिशा-निर्देश प्रदान करते हैं। सेमरखेड़ी और मल्हारगढ़ के स्मारक इस काल के अंतिम चरण के स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस अध्याय के साथ कुछ विशेष चित्र दिये जा रहे हैं जिनसे इस काल में कला के विकास का परिज्ञान होगा।

चित्र २२७ में उज्जैन क्षेत्र से प्राप्त एक सर्वतोभद्र चित्रित है जिसमें ध्यानासन में स्थित तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। पादपीठ पर उत्कीर्ण सिंहों के शिल्पांकन में कौशल का अभाव है। सागर जिले के पजनारी और रहली के पास स्थित पटनागंज नामक स्थान इस काल में हुए कला के ह्रास की ओर संकेत करते हैं। (चित्र २२८ क, ख)।

ग्वालियर किले की विशाल तीर्थंकर-मूर्तियाँ (चित्र २२९ क, ख) अलग ही प्रकार की हैं। अंगोपांगों के शिल्पांकन में, विशेषतः पैरों और हाथों के अनुपात रहित अंकन में, कुशलता की कमी स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। फिर भी गज और अनुचरों की प्रस्तुति से एकसरता कुछ कम हो जाती है।

चित्र २३० क और ख में तीर्थंकर-मूर्तियों के परिकर का उपरिभाग चित्रित है जिसमें कला का अपकर्ष द्रष्टव्य है। इनमें की प्रथम मूर्ति अब ग्वालियर-संग्रहालय में है और द्वितीय दिगंबर जैन संग्रहालय, उज्जैन में है।

चित्र २३१ क में पंच बाल-यति तीर्थंकर खड्गासन में स्थित हैं, उनके हाथ जंघाओं पर हैं। यहाँ सौंदर्य-बोध का अभाव ध्यान आकृष्ट करता है।

फिर भी इस काल में उत्कीर्ण कुछ देव-मूर्तियों में अनुपात और सौंदर्य-बोध का अच्छा निर्वाह हुआ है। उदाहरण के लिए चित्र २३१ ख द्रष्टव्य है जिसपर एक मालाधारी विद्याधर की मूर्ति अंकित है। शिवपुरी से प्राप्त अंबिका की मस्तकहीन मूर्ति (चित्र २३२ क) और उज्जैन से प्राप्त शासनदेवी की मूर्ति (चित्र २३२ ख) दर्शाते हैं कि इस काल में कला की परंपरा किस प्रकार आगे बढ़ी।

विदिशा जिले के बड़ोह और सागर जिले के पजनारी (चित्र २३३ क, ख) आदि स्थानों के उत्तर मध्यकालीन जैन मंदिरों में एक भी ऐसा नहीं जिसमें इससे पूर्व के काल के स्थापत्य की भव्यता विद्यमान हो, वरन् उनमें कभी-कभी उत्तर मध्यकालीन राजपूत-शैली के लक्षण दिख जाते हैं। मल्हार-गढ़ (चित्र २३४ क) इसका उदाहरण है। मंदसौर जिले में भानपुरा के निकट स्थित कोल्हा के मंदिर की अलंकरण-युक्त छत (चित्र २३४ ख) पश्चिम भारत के मंदिरों की छतों का स्मरण कराती है।

कृष्णदत्त वाजपेयी

अध्याय 28

पश्चिम भारत

पश्चिम भारत को उन क्षेत्रों में परिगणित किया जा सकता है, जहाँ कलात्मक और स्थापत्यीय कार्य-कलापों ने बहुत प्रारंभिक काल में विकास पा लिया था। स्थापत्यीय संरचना वाले प्राचीनतम मंदिर के भग्नावशेष समूचे भारत में अबतक मात्र राजस्थान में ही प्राप्त हुए हैं। ये भग्नावशेष राजस्थान में जयपुर के निकटवर्ती बैराट में उस गोलाकार मंदिर के हैं जिसका समय ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी निर्धारित किया जाता है। शिखर-मण्डित मंदिरों के विकास में भी राजस्थान का योगदान उल्लेखनीय है, जिसका साक्ष्य चित्तौड़ के निकट नगरी की खुदाई में प्राप्त पाँचवीं शताब्दी के एक मंदिर-शिखर के आमलक का भग्नावशेष देता है। प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र ने उस नागर-मंदिर-शैली को विकसित करने में योग दिया है जिसका मूलरूप गुप्त और गुप्तोत्तर-काल के आद्य शिखर-मंदिरों में निहित है। ऐसे बहुत से कारण है जिनके आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि लगभग पाँचवीं से लेकर आठवीं शताब्दी तक के संक्रांतिकाल के मध्य निर्मित समस्त मंदिर पूर्णतया नष्ट हो चुके हैं और जो कुछ विकसित नागर-शैली के मंदिर इस क्षेत्र में मिले हैं उनमें से अधिकांशतः मंदिरों का रचनाकाल आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक का लगाया जा सकता है।

पश्चिम भारत के इतिहास में मुसलमानों के विध्वंसक अभियानों के लिए तेरहवीं शताब्दी के अंतिम तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्ष उल्लेखनीय रहे हैं। बार-बार होने वाले इन अभियानों से, विशेषकर अलाउद्दीन खिलजी के अभियानों से पहले ही, राजस्थान और गुजरात में हिन्दू शासकों के गढ़ों के ध्वस्त हो जाने के कारण इन आक्रामक विजातीय मूर्ति-भंजकों की धार्मिक ईर्ष्या तथा धन-लोलुपता ने पश्चिम भारत के असंख्य मंदिरों का जी भरकर विध्वंस किया। इन आक्रामकों द्वारा लाया गया यह प्रचण्ड झंझावात मात्र मंदिरों के विध्वंस तक ही सीमित नहीं रहा अपितु इसने उत्पीड़ित जनसमाज के हृदय एवं मस्तिष्क को भी आड़ोलित कर दिया। इस क्षेत्र का जन-समाज जब इस आघात को सहकर ऊपर उठने में सफल हुआ तो उसके अंदर कुछ नये मान-मूल्यों ने स्थापना पायी जिसके साथ उसे अपने कुछ समृद्ध पारंपरिक मान-मूल्यों को छोड़ना भी पड़ा। अतः एक प्रकार से मध्यकाल नेभावी पीढ़ियों में स्वयं ही प्रवेश पा लिया।

मेवाड़ के गुहिला शासकों ने खिलजियों द्वारा विजित चित्तौड़ को एक दशक के मध्य ही स्वतंत्र करा लिया। यह विजित जाति की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी क्योंकि चित्तौड़ राजपूतों का एक

परंपरागत सुदृढ़ केंद्र था। सन् १३११ में चित्तौड़ की स्वाधीनता के तत्काल बाद, मेवाड़ के शासकों ने जन-समाज के और अपने आत्मबल को ऊँचा उठाने का कार्य हाथों में लिया। इसके लिए उन्होंने आक्रामकों द्वारा ध्वस्त प्राचीन मंदिरों का पुनरुत्थान तथा नये मंदिरों का निर्माण भी कराया। यह कहा जाता है कि मंदिर एवं भवनों आदि के निर्माण-कार्यों का सूत्रपात राणा लाखा ने किया जिसका अनुसरण उसके उत्तराधिकारी राणा मोकल ने किया। किंतु राजस्थान में एक प्रकार का स्वर्णयुग राणा कुंभा (सन् १४३८-६८) के शासनकाल में आया। राणा कुंभा अपने सफल सैन्य अभियानों की भाँति ही कलात्मक सृजन कराने में प्रवीण था। उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा के अनुरूप चित्तौड़ को भव्य भवनों, प्रासादों और मंदिरों से सुसज्जित करने के लिए अनेक दक्ष वास्तु-शिल्पियों को प्रश्रय दिया। उसके बनवाये भवनों एवं मंदिरों के शीर्ष-भाग मण्डप से अलंकृत हैं। उसने सूत्रधारों (शिल्पियों) के साथ ही मध्यकालीन भारत के प्रसिद्ध वास्तुविदों तथा वास्तु-विज्ञान-ग्रंथों के प्रणेता विद्वान् लेखकों को भी सेवा में नियुक्त किया जिनमें प्रमुख शिल्पी थे। मण्डन उसके द्वारा लिखे वास्तु-विज्ञान ग्रंथों में 'प्रासाद-मण्डन' तथा 'राजवल्लभ-मण्डन' उल्लेखनीय हैं। इन भवन-निर्माण के कार्य-कलापों से मंदिर-निर्माण के एक नये युग का समारंभ हुआ। इस क्षेत्र के जैनों ने भी अर्हंतों के ध्वस्त मंदिरों का पुनरुद्धार तथा नये मंदिरों का निर्माण कराकर पवित्र कार्यों के संपादन में अपने उत्साह का प्रदर्शन किया।

इस काल में वास्तु-विज्ञान पर ठक्कर फेरू नामक एक जैन द्वारा सन् १३१५ में लिखे गये 'वास्तु-सार' ग्रंथ (जिसमें लेखक द्वारा दिये गये विवरण के अनुसार दिल्ली पर अलाउद्दीन खिलजी का शासन था)[1] से प्रतीत होता है कि जैन पश्चिम भारत में मुसलमानों के आक्रमणों का सामना करते हुए भी मंदिर-निर्माण की परंपरा को यथाविधि संरक्षित बनाये रखने में सफल रहे। वास्तु-सार में लेखक ने मंदिर की नागर-शैली को पश्चिम-भारतीय रूप में रूपांतरित करते हुए उसकी विन्यास-रूपरेखा तथा ऊँचाई के विस्तार का प्रतिपादन किया है। इस ग्रंथ के अनुसार मंदिर को 'प्रासाद' कहा गया है। मंदिर का अंतर्भाग मूल-गभार या गर्भगृह कहलाता था। वास्तुसार के अनुसार मंदिर की संरचना में गर्भगृह से आगे अक्षीय रेखा पर स्थित तीन मण्डप होते थे। इन तीनों मण्डपों में पहला मण्डप, जो गूढ़-मण्डप (अंतराल) कहलाता था जिसे एक कक्ष का काम करता था। इसके उपरांत, मध्य भाग में एक बड़ा कक्ष होता था जिसे रंग-मण्डप, नवरंग या नृत्य-मण्डप कहते हैं जिसमें नृत्य एवं नाटकीय कलाओं के प्रदर्शन किये जाते थे। तीसरा मण्डप, बलन-मण्डप या मुख-मण्डप कहलाता था जो प्रवेश-मण्डप होता था, जिससे होकर मंदिर में पदार्पण किया जाता था। इसी प्रकार लंबरूप धुरी के आधार पर मंदिर के तीन भाग होते थे। मंदिर का निचला आधार-भाग अधिष्ठान कहलाता था, मध्य का भाग मण्डोवर तथा ऊपरी भाग शिखर होता था जो आमलक से मण्डित होता था। यह ग्रंथ मंदिर के आधार-

---

1 अग्रवाल (वी एस) स्टडीज इन इण्डियन आर्ट. 1965. वाराणसी. पृ 271-75. वास्तु-सार के मूलपाठ एवं उसके हिन्दी अनुवाद का एक संस्करण जैन-विविध-ग्रंथ-माला सीरीज, 1936, जयपुर, से भगवानदास जैन द्वारा प्रकाशित कराया गया है. ठक्कर फेरु के समय के लिए इस संस्करण का पृष्ठ 10 देखिए.

भाग अधिष्ठान को भी दो भागों, जगती-पीठ तथा प्रासाद-पीठ, में विभक्त करता है। जगती-पीठ भू-सतह से ऊपर उठा हुआ मंचाकार भाग है जबकि प्रासाद-पीठ मंदिर के ठीक नीचे की चौकी है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में तलघर के विभिन्न स्तरों (सतहों), शिखर के विभिन्न भागों तथा मण्डोवर-भाग की संरचनाओं आदि का विवरण दिया गया है और उनके लिए विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस ग्रंथ का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इसने तेरहवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक की उस महतावधि में जबकि पश्चिम-भारत में मंदिर-वास्तु की पुनर्नवीनीकरण की प्रक्रिया पूर्ण पराकाष्ठा पर थी, नागर-शैली के मंदिरों की समृद्ध परंपरा को आगे बढ़ाया।

प्रतीत होता है कि पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य राणा कुंभा द्वारा दी गयी राजनैतिक स्थिरता ने जैनों के लिए एक ऐसे वातावरण का निर्माण किया जिसमें जैनों ने मात्र मेवाड़ में ही नहीं अपितु समीपवर्ती अन्य क्षेत्रों में भी मंदिरों का निर्माण कराया। राणा कुंभा और उसके उत्तराधिकारी के शासन-काल के अंतर्गत चित्तौड़ में दिगंबर जैनों के अनेकानेक मंदिरों का निर्माण हुआ जिनमें जैन कीर्ति-स्तभ के निकटवर्ती आदिनाथ का मंदिर सबसे प्राचीन है। गिरनार पहाड़ी के तीन प्रसिद्ध मंदिर—समरसिंह का मंदिर (सन् १४३८), संप्रति राजा का मंदिर (सन् १४५३) तथा मेलक-वसही (सन् १४५५) पंद्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल की निर्मितियाँ हैं। ये समस्त मंदिर नागर-शैली-मंदिरों के सोलंकी रूपांतरण पर आधारित हैं; जो ठक्कर फेरू द्वारा वास्तु-सार में उल्लिखित इस प्रकार के मंदिर के सामान्य विवरण को पूर्णत: प्रमाणित करते हैं।

जैनों द्वारा कराये गये स्थापत्यीय निर्माणों की दृष्टि से पंद्रहवीं शताब्दी पश्चिम-भारत के लिए विशेष उल्लेखनीय प्रतीत होती है। इस काल में इस क्षेत्र के उस मध्यकालीन स्थापत्य को सुस्थिर किया गया जिसे जेम्स फर्ग्यूसन[1] ने मध्य शैली (मिडिल स्टाइल) कहा है। इस मध्य शैली की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति इस युग के वास्तुविदों द्वारा तीर्थंकरों के लिए निर्मित एक अनूठे प्रकार के मंदिर में देखी जा सकती है। यह शैली नागर-शैली मंदिरों की सोलंकी एवं बघेल-शैलियों के पूर्ववर्ती अनुभवों पर आधारित है। इन मंदिरों में अधिष्ठान, देवकुलिकाएँ (चारों ओर देवालय के आकार की संरचनाएँ), अंग-शिखरों के समूह से युक्त शिखर, स्तंभों पर आधारित मण्डप, गवाक्ष (छतदार खिड़कियाँ) आदि प्रमुख भाग होते हैं। मध्य में केंद्रवर्ती वर्गाकार गर्भगृह-युक्त इन मंदिरों की विन्यास-रूपरेखा की विशदता ने एक नये रूपाकार को जन्म दिया है। इस प्रकार के मंदिर जैनों में प्राय: चौमुख (चतुर्मुख) के नाम से जाने जाते हैं जो भारतीय वास्तुविद्या-विषयक ग्रंथों में उल्लिखित सर्वतोभद्र-प्रकार के मंदिरों के सामान्यत: अनुरूप हैं।

चौमुख-प्रकार के मंदिर का श्रेष्ठतम उदाहरण मेवाड़ में सदरी के निकट रणकपुर अथवा रनपुर स्थित आदिनाथ या युगादीश्वर-मंदिर है। यह मंदिर नैसर्गिक सौंदर्यमयी उपत्यका में अनेकानेक जैन मंदिरों के मध्य उस स्थान पर स्थित है जिसे मेवाड़ के पाँच पवित्र स्थलों के अंतर्गत माना जाता है।

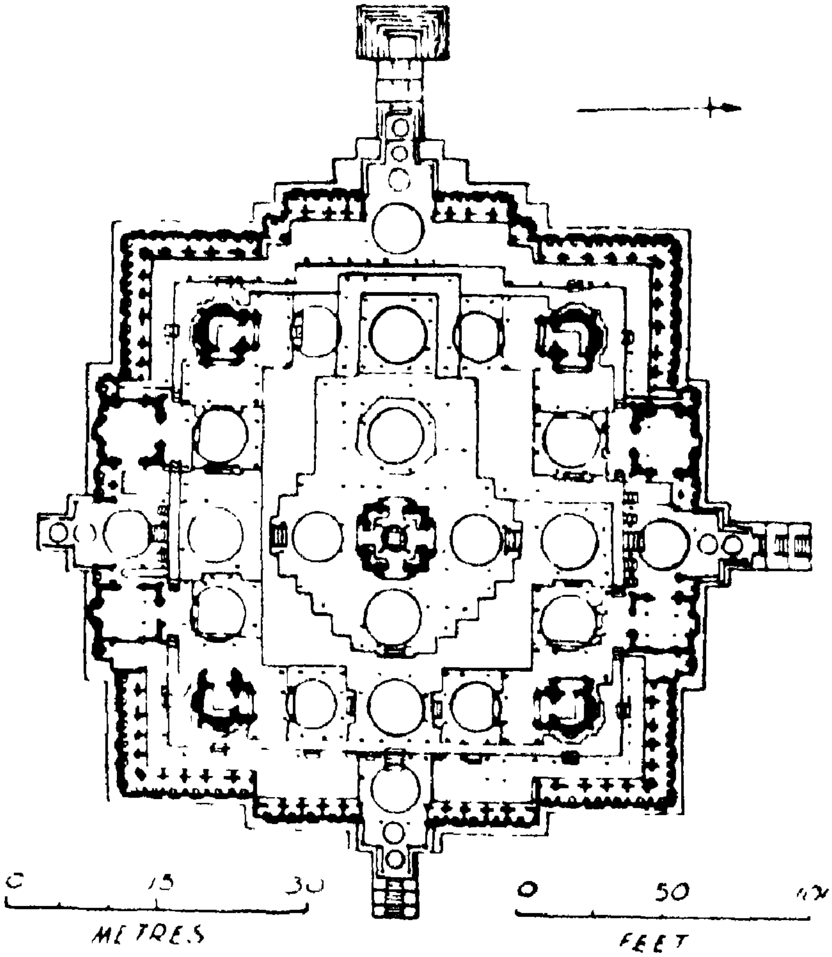
1 फर्ग्यूसन (जेम्स) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, 1, पुनर्मुद्रित. 1967. दिल्ली. पृ 60.

मंदिर के मुख-मण्डप के प्रवेश-द्वार के पार्श्व में लगे एक स्तंभ पर अंकित अभिलेख के अनुसार इस मंदिर का निर्माण सन् १४३९ में एक जैन धर्मानुयायी धरणाक के आदेशानुसार देपाक नामक वास्तुविद् ने किया था। इस अभिलेख में राणा कुंभा के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस भव्य चौमुख-मंदिर के निर्माण में कला और स्थापत्य के महान् प्रश्रयदाता राणा कुंभा का योग रहा है। यह मंदिर ३७१६ वर्ग-मीटर क्षेत्र में फैला है, इसमें उनतीस बड़े कक्ष तथा चार सौ बीस स्तंभ हैं। इससे स्पष्ट है कि इस मंदिर की योजना निस्संदेह ही महत्त्वाकांक्षी रही है।

इस मंदिर की विन्यास-रूपरेखा यद्यपि जटिल है तथापि भारी या बेडौल नहीं है (रेखाचित्र २३)। जब इस मंदिर के वर्गाकार गर्भगृह से, जिसमें चौमुखी प्रतिमा स्थापित है, अध्ययन प्रारंभ करते हैं तो इस मंदिर की एक सुस्पष्ट ज्यामितीय क्रमबद्धता दीख पड़ती है। पश्चिमवर्ती पहाड़ी ढलान पर स्थित होने के कारण मंदिर के जगती या अधिष्ठान-भाग को इसके पश्चिम दिशा में यथेष्ट ऊँचा बनाया गया है। उस मंच के, जिसके अंदर कक्ष हैं, ऊपर केंद्रवर्ती भाग में वर्गाकार गर्भगृह स्थित है। इसके चारों ओर की प्रत्येक भित्ति के मध्य एक-एक द्वार है। प्रत्येक द्वार रंग-मण्डप में खुलता है और इस रंग-मण्डप का द्वार एक दोतल्ले प्रवेश-कक्ष में खुलता है। इस मण्डप के बाद एक अन्य कक्ष आता है जो आकर्षक है। यह कक्ष भी दोतल्ला है; इस भाग में सीढ़ियाँ हैं, इसलिए इसे वलन या नाली-मण्डप कहा जाता है। लगभग ६२ मीटर तथा ६० मीटर लंबे-चौड़े क्षेत्रफल के आयताकार (प्रायः वर्गाकार) दालान जिसमें चारों ओर प्रक्षिप्त बाह्य भाग की मुख्य संरचनाएँ सम्मलित नहीं हैं, के चारों ओर की दीवार मंदिर की ऊँचाई की बाह्य संरचना में मुख्य स्थान रखती है। इस सीमा-भित्ति के भीतर की सतह पर ८६ देवकुलिकाओं (चित्र २३५) की एक लंबी पंक्ति है। ये देवकुलिकाएं अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की स्थापना के लिए लघु देवालय के आकार की हैं। देवकुलिकाओं के शिखर, बाह्य ओर से देखने पर, इस भित्ति के शीर्ष पर किये गये अलंकरण से भी ऊपर निकली हुई स्तूपिकाओं की पंक्ति की भाँति दिखाई पड़ते हैं। इनसे परे मंदिर के शीर्ष पर पाँच शिखर हैं, जिनमें से सबसे बड़ा और प्रमुख शिखर गर्भगृह को मण्डित किये हुए है (चित्र २३६)। शेष चार शिखर चारों कोनों पर स्थित देवालयों को मण्डित किये हुए हैं। इसके अतिरिक्त बीस गुंबद और भी हैं जो स्तंभाधारित प्रत्येक कक्ष के ऊपर छत के रूप में निर्मित हैं। इस आयताकार मण्डप में किसी भी प्रवेश-मण्डप से प्रवेश किया जा सकता है। ये प्रवेश-मण्डप दो तल वाले हैं और तीन ओर की भित्तियों के मध्य में स्थित हैं। प्रवेश-मण्डप अत्यंत मनोहारी हैं। इन प्रवेश-मण्डपों में सबसे बड़ा पश्चिम की ओर है जिसे निस्संदेह मुख्य प्रवेश-मण्डप माना जा सकता है। इन प्रवेश-मण्डपों से होकर स्तंभों पर आधारित अनेकानेक बरामदों तथा मुख्य मण्डप को पार करते हुए केंद्रवर्ती वर्गाकार गर्भगृह तक पहुँचा जा सकता है। गर्भगृह २ मी०×३०.५ मी० लंबा-चौड़ा आयताकार (प्रायः वर्गाकार) कक्ष है जिसके चारों ओर स्तंभों पर आधारित कक्ष हैं। गर्भगृह की आंतरिक संरचना स्वस्तिकाकार कक्ष के रूप में है जिसमें संगमरमर की चौमुख-प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

इस मंदिर की विशेषता उसकी ऊँचाई या विशद विन्यास-रूपरेखा और उसपर सुदक्षतापूर्ण निर्माण ही नहीं वरन् उसकी विविधता तथा उसके विभिन्न भागों की बहुलता है। उसका मात्र

कोई एक भाग पर ही नहीं वरन् उसका समूचा रूप ही विशिष्ट है, जिसके लिए जेम्स फर्ग्यूसन द्वारा उसकी की गयी प्रशंसा यहाँ उद्धृत की जा सकती है।[1] फर्ग्यूसन के अनुसार: 'इसके अनेकानेक मंदिर और इन भागों के सामान्यतः लघु आकार यद्यपि इस मंदिर के एक स्थापत्यीय वैभवपूर्ण संरचना होने के दावे में बाधक हैं परंतु इन भागों की विविधता, प्रत्येक स्तंभ पर किया गया



रेखाचित्र 23. रणकपुर: युगादीश्वर-मंदिर की रूपरेखा (कज़िन्स के अनुसार)

एक दूसरे से सर्वथा भिन्न सूक्ष्मांकन का सौंदर्य, उनका व्यवस्था-क्रम, उसकी मोहकता, सपाट छतों पर विभिन्न ऊँचाईयों के गुंबदों का सुरुचिपूर्ण समायोजन तथा प्रकाश के लिए बनायी गयी संरचनाओं की विधि—ये समस्त विशेषताएँ मिलकर एक अत्युत्तम प्रभाव की सृष्टि करती हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भारत में वस्तुतः इस प्रकार का कोई अन्य मंदिर या भवन नहीं है जिसके अंतर्भाग में स्तंभों का इतना लावण्यपूर्ण संयोजन रहा हो और उसकी संरचना कुल मिलाकर इस मंदिर की भाँति प्रभावोत्पादक रही हो।'

1 फर्ग्यूसन (जेम्स), पूर्वोक्त, पृ 47-48

रणकपुर का यह चौमुख-मंदिर यद्यपि स्थापत्य-कला का एक उत्कृष्टतम उदाहरण नहीं है तथापि यह विवेच्य काल के पश्चिम भारत के शिखर-मण्डित 'मध्य शैली' में निर्मित जैन मंदिरों में दर्शनीय स्थान रखता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकालीन जैन मंदिरों के पीछे बहुविविधिता की भावना मुख्य प्रेरणा-रूप में कार्यरत रही है। यह चौमुख-मंदिर बहुविविधिता की इसी भावना पर आधारित है। यही समय है कि पश्चिम भारत के अन्य प्रमुख जैन केंद्रों में भी इसी प्रकार के मंदिरों का निर्माण हुआ। माउण्ट आबू (आबू की पहाड़ी) पर स्थित प्रसिद्ध दिलवाड़ा-मंदिर-समूह में भी तीर्थंकर पार्श्वनाथ को समर्पित इसी प्रकार का एक चौमुख-मंदिर है। इस मंदिर की चौमुख-प्रतिमा पर उत्कीर्ण अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि इस मंदिर का निर्माण सन् १४५९ में हुआ था। यह मंदिर रणकपुर के चौमुख-मंदिर के नितांत अनुरूप है। इसकी विन्यास-रूपरेखा के अनुसार इसमें चार मण्डप हैं जो गर्भगृह के चारों ओर संलग्न हैं। इसका मुख्य प्रवेश-द्वार पश्चिम दिशा में है। यह मंदिर रणकपुर-मंदिर की अपेक्षा यथेष्ट बड़ा है और इसकी छत-रचना में यहीं के अति प्रसिद्ध तेजपाल-मंदिर से प्रेरणा ली गयी है। दो तलवाले गर्भगृह तथा मण्डपों की बाह्य भित्तियाँ जैन देवी-देवताओं की प्रतिमाओं से पूर्णरूपेण अलंकृत हैं। भूरे पत्थर से निर्मित यह मंदिर अपने शिखर सहित ऊँचाई में दिलवाड़ा के समस्त मंदिरों में सबसे ऊँचा है।

एक अन्य उल्लेखनीय चौमुख-मंदिर पालीताना की निकटवर्ती शत्रुंजय पहाड़ी स्थित जैन मंदिरों के एक महान् नगर करलवासी-टुक में निर्मित है। यह मंदिर उत्तरी शिखर के शीर्ष पर अवस्थित है। इसका निर्माण सन् १६१८ में हुआ। चतुर्मुख योजना वाले इसके गर्भगृह का क्षेत्रफल ७ वर्गमीटर है और इसकी ऊँचाई ३० मीटर से अधिक है। यह मंदिर एक उत्तुंग शिखर से मण्डित है। इसमें चारों दिशाओं में अपेक्षित चार द्वार हैं लेकिन इसमें मण्डप मात्र एक ही है जो गर्भगृह के पूर्वी द्वार से जुड़ा हुआ है। मुख्य प्रवेश-कक्ष में पहुँचने का मार्ग इस कक्ष से होकर है। यद्यपि इस मंदिर की विन्यास-रूपरेखा पश्चिम-भारत के प्रचलित नागर-शैली के मंदिरों के अनुरूप है और इसे सर्वतोभद्र-शैली की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, फिर भी इसमें अन्य तीन प्रवेश-मण्डपों, उनके चारों ओर बरामदों, प्रत्येक प्रवेश-मण्डप के ऊपर दूसरे तल्ले और उसमें गवाक्ष-युक्त खिड़कियों के कारण यह माना जा सकता है कि इसके नियोजन में चौमुख-मंदिर की अभिकल्पना का ज्ञान निहित है। इस मंदिर में पश्चिमी भित्तियों से संलग्न बाह्य कक्षों की एक पंक्ति है जो स्तंभ-युक्त बरामदे द्वारा विभक्त की गयी है। कुल मिलाकर यह मंदिर एक सजीव स्थापत्यीय संरचना का उदाहरण है जो जैनों के विशदीकरण तथा बहुविविधिता की भावना के अनुरूप है।

विशदीकरण एवं बहुविविधिता की यही भावना जैन स्थापत्य में कई पीढ़ियों तक क्रियाशील रही प्रतीत होती है। जैन अनेक पवित्र स्थानों पर मंदिर-नगरों का निर्माण कराने के लिए सुविदित रहे हैं। उनके बनवाये मंदिर-नगरों में बिहार की पारसनाथ पहाड़ी (सम्मेदशिखर), गुजरात में शत्रुंजय एवं गिरनार की पहाड़ियों, राजस्थान में आबू की पहाड़ी एवं कर्नाटक (श्रवणबेलगोला) की विंध्यगिरि पहाड़ी में स्थित मंदिर-नगर उल्लेखनीय हैं। इन मंदिर-नगरों में पश्चिम

भारत की शत्रुंजय एवं गिरनार की पहाड़ियों में स्थित दो मंदिर-नगर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं (चित्र २३७, २३८)। शत्रुजय पहाड़ी-स्थित मंदिर-नगर इन सबों में सबसे बड़ा है और यह पलिताना शहर के दक्षिण में है। यहाँ के मंदिर इस पहाड़ी की दो जुड़वाँ चोटियों पर हैं जो समुद्र की सतह से ६०० मीटर ऊँची हैं। ३२० मीटर लंबी इस प्रत्येक चोटी पर ये मंदिर पंक्तिबद्ध रूप से निर्मित हैं। यह पंक्ति प्रायः अँग्रेजी के 'एस' अक्षर के आकार की है। मंदिरों की कुल संख्या ८६३ है। विभिन्न आकार और प्रकार के इन बहुसंख्यक मंदिरों के अतिरिक्त यहाँ पर एक चौमुख-शैली का सर्वाधिक उल्लेखनीय आदिनाथ का मंदिर भी है जो उत्तरी शिखर के शीर्ष पर स्थित है। इस मंदिर के विषय में पहले ही विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। इसके दूसरी ओर शत्रुजय के दक्षिणी शिखर और विमल-वसही के मध्य में प्रथम तीर्थंकर मूलनायक श्री-आदीश्वर का मंदिर एक प्रमुख स्थान रखता है। यह समूचा तीर्थ-क्षेत्र ही मुख्य रूप से प्रथम तीर्थंकर को समर्पित है। प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार इस मंदिर का वर्तमान प्रवेश-मण्डप मंदिर के सातवें पुनर्निर्माण के अंतर्गत चित्तौड़ (राजस्थान) के रत्नसिंह के मंत्री कर्मसिंह द्वारा सन् १५३० में बनवाया गया है। सन् ९६० के बने इस प्राचीन मंदिर की अपेक्षा यह प्रवेश-मण्डप स्पष्टतः उत्तरवर्ती है जिसे जीर्णोद्वार करते समय संभवतः किसी प्राचीन प्रवेश-मण्डप के स्थान पर बनवाया गया है। यह मंदिर दोतल्ला दिखाई देता है जिसपर एक उत्तुंग शिखर मण्डित है तथा आधार के चारों ओर छोटे-छोटे बहुत-से देवालय निर्मित हैं। इस मंदिर में मात्र एक कक्ष है। मंदिर की विन्यास-रूपरेखा उत्तर शिखरवर्ती चौमुख-मंदिर की अपेक्षा अत्यंत सरल है। बाह्य संरचना उल्लेखनीय रूप से अति अलंकृत है और विशिष्ट गुणों को प्रदर्शित करती है। यह मंदिर पूर्व-दिशावर्ती बाह्य-भित्ति के सम्मुख भाग, स्तंभ-युक्त प्रवेश-द्वार तथा उसका ऊपरी तल, अर्द्धवृत्ताकार तोरण जिसे विशेष प्रकार के परिवलित स्तंभ अतिरिक्त आधार प्रदान किये हुए है—आदि समस्त विशेषताओं के लिए उल्लेखनीय है। पर्सी ब्राउन के अनुसार[1], 'इस मंदिर के विभिन्न अंग किसी भी प्रकार से एक दूसरे के समरूप नहीं हैं। अतः यह मंदिर अपने समग्र रूप में असमरूप है। यह मंदिर उन विभिन्न मंदिर-भागों का एक सम्मिश्रण है जो स्वयं में उत्तम माने गये हैं। परंतु इन विभिन्न सर्वोत्तम उपांगों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया इस मंदिर में भली-भाँति संपादित नहीं हो सकी है।' शत्रुंजय पहाड़ी के ये मंदिर अलग-अलग अपनी स्थापत्यीय विशेषता नही रखते परंतु इन असंख्य मंदिरों का समग्र प्रभाव, वातावरण में व्याप्त नीरवता कुछ ऐसी विशेषताएँ है जो दर्शकों के लिए अत्यंत आकर्षक हैं। इस मंदिर-नगर की एक विशेषता यह भी बतायी जाती है कि आज तक किसी भी व्यक्ति ने साँझ के बाद इस नगर में प्रवेश नहीं किया।

दूसरा मंदिर-नगर शत्रुंजय के पश्चिम में १६० किलोमीटर दूर, समुद्र-तल से लगभग ६०० मीटर ऊँचे गिरनार की विशाल पहाड़ी चट्टान पर स्थित है। यद्यपि यहाँ शत्रुंजय की भाँति मंदिरों की बहुलता नहीं है किन्तु गिरनार के अनेक मंदिर वहाँ की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। यहाँ के मंदिर-समूह में सबसे बड़ा नेमिनाथ-मंदिर है जिसका यहाँ के शिलालेख के अनुसार तेरहवीं शताब्दी में जीर्णोद्धार हुआ था।

1 ब्राउन (पर्सी) इण्डियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू). 1965. बंबई. पृ 135.

जिस कालावधि की हम चर्चा कर रहे हैं उस काल के भी कुछ मंदिर यहाँ हैं जिनमें समरसिंह और संप्रति राजा के मंदिर और मेलक-वसही नामक मंदिर उल्लेखनीय हैं। ये सभी मंदिर पंद्रहवीं शताब्दी के हैं और इनके विषय में ऊपर लिखा गया है।

जहाँ तक आबू पहाड़ी स्थित दिलवाड़ा के मंदिरों का प्रश्न है उनमें से अधिकांशत: मंदिर सन् १३०० से पूर्व के निर्मित हैं। इनमें से विमल-वसही (सन् १०२१) तथा लूण-वसही (सन् १२३०) दोनों ही भारत के समूचे जैन स्थापत्य में सर्वोत्कृष्ट मंदिर होने का दावा कर सकते हैं। यहाँ हमें इस तथ्य के उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि दिलवाड़ा के मंदिरों द्वारा जो कलात्मक विशेषताएँ प्रस्तुत की गयी हैं वे समूचे मध्यकाल के अंतर्गत पश्चिम-भारत के जैन मंदिरों में न्यूनाधिक क्षेत्र में अपनायी जाती रही हैं। दिलवाड़ा का पित्तलहर-मंदिर भी उल्लेखनीय है जिसे भीमशाह ने चौदहवीं शताब्दी में तीर्थंकर आदिनाथ की प्रतिष्ठा के लिए निर्मित कराया था। इस मंदिर की विन्यास-रूपरेखा पश्चिम भारतीय नागर-शैली के मंदिरों की-सी है जिसमें गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और नवचौकी, ये तीन भाग हैं। गर्भगृह में आदिनाथ की १०८ मन (४०३१ किलोग्राम) भारी एक पीतल की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि इस प्रतिमा का निर्माण सूत्रधार मण्डन के पुत्र देव ने किया था।

इन प्रसिद्ध मंदिर-नगरों के अतिरिक्त पश्चिम भारत में जैन धर्म के अनेक केंद्र रहे हैं जहाँ अनेक उल्लेखनीय मंदिर विद्यमान हैं। इनमें से रणकपुर का उल्लेख उसके प्रसिद्ध चौमुख-मंदिर के कारण पहले ही किया जा चुका है। रणकपुर का उल्लेख यहाँ पर उसके १५वीं शताब्दी में निर्मित दो अन्य मंदिरों के लिए भी किया जा सकता है। इन मंदिरों में से एक मंदिर पार्श्वनाथ का है जो अलंकरण रहित जगती पर आधारित है। इसकी विन्यास-रूपरेखा नागर-शैली के एक सामान्य मंदिर के समान है। इसकी गवाक्ष-युक्त खिड़कियाँ अत्यधिक अलंकृत होने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजस्थान के पश्चिम-दक्षिणवर्ती रेगिस्तानी जैसलमेर के क्षेत्रीय मंदिरों में भी जैन कला का प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ के दो मंदिरों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। पहला मंदिर गढ़ के भीतर सन् १५४७ में राउक जयसिंह द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ का मंदिर है जिसमें तोरण, मण्डप और गर्भगृह जैसे सामान्य भाग हैं परंतु इसकी भित्तियों पर लगभग एक सहस्र प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। दूसरा मंदिर, सन् १६७५ में सेठ थारुशाह द्वारा निर्मित लुधेर्व का मंदिर है। यह मंदिर भित्तियों की पाषाण-निर्मित खिड़कियों पर की गयी तक्षण-कला के लिए विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार का तक्षण, और वह भी इतने बड़े पैमाने पर, भारत के किसी अन्य मंदिर में मिलना दुर्लभ है। मंदिर की भित्तियाँ झरोखों से अलंकृत हैं जो इसके बाह्य दृश्य को अतिरिक्त सौंदर्य प्रदान करती हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य पश्चिम भारत में स्थापत्य-कला के अतिरिक्त प्रतिमा-कला भी व्यापक रूप से प्रचलित रही है। इस काल में प्रतिमाओं का निर्माण पाषाण और धातु दोनों में ही होता रहा है। प्रतीत होता है कि इस काल में प्रतिमाओं का निर्माण प्रचुर संख्या में होता था। प्रतिमाओं की यह प्रचुर संख्या मंदिरों के लिए आवश्यक प्रतिमाओं की संख्या के अनुरूप रही होगी।

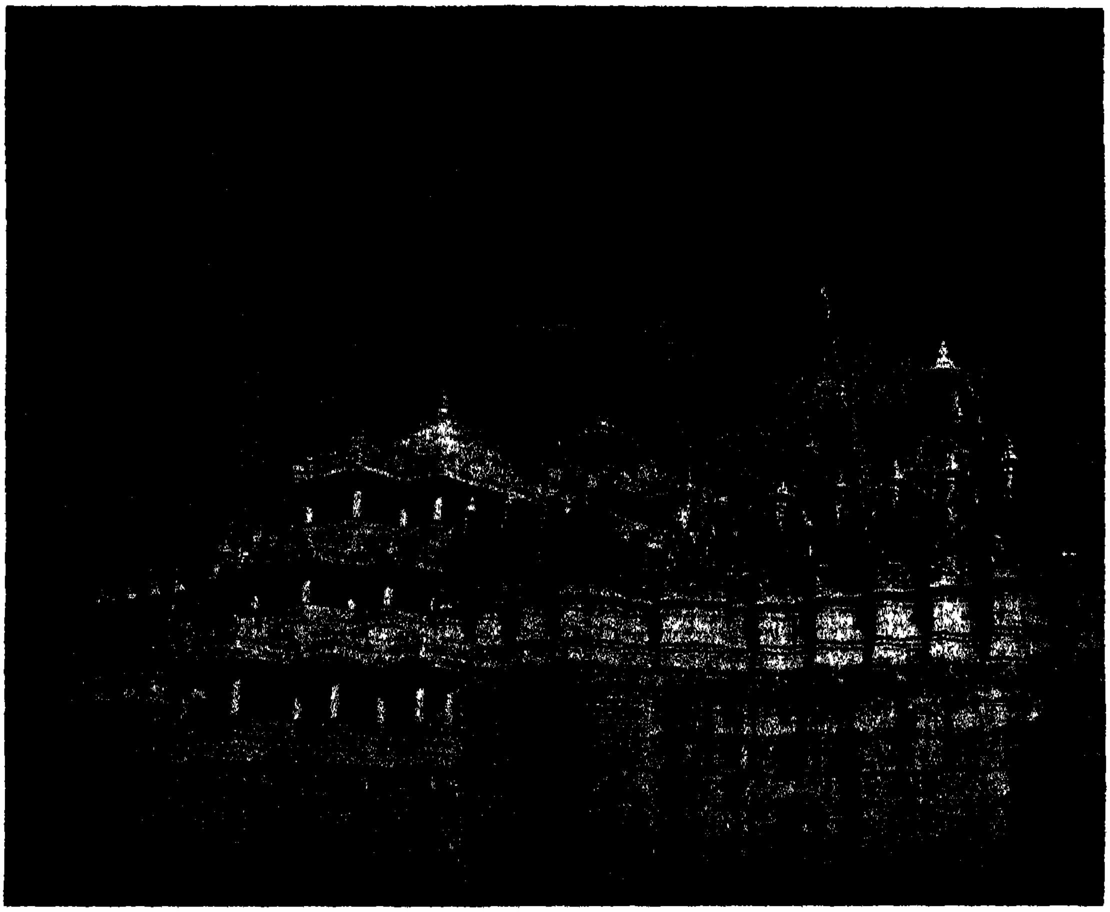
इस विषय में शाह का कथन सत्य प्रतीत होता है कि 'पश्चिमी भारत में यत्र-तत्र पायी गयीं सहस्रों जैन कांस्य प्रतिमाओं के लिए एक विशेष अध्ययन की आवश्यकता है क्योंकि इनमें से अधिकांशतः प्रतिमाएँ शैलीगत रूप में पश्चिम शैली के उन लघुचित्रों से संबंधित हैं जिनका पल्लवन मध्यकाल में हुआ ।[1] यहाँ यह उल्लेख भी उपयुक्त रहेगा कि दक्षिण-पश्चिम राजस्थान के डूंगरपुर निकटवर्ती क्षेत्र से कुछ ऐसी अभिलेखांकित धातु-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें अनेक दक्ष धातु-मूर्तिकारों के नाम अंकित हैं[2] ; जिनमें से एक अभिलेख में लुम्बा या लुम्भा, नाथा, लेपा, आदि मूर्तिकारों के नाम मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार चित्तौड़ के जैता और मण्डन जैसे सूत्रधार वास्तु-निर्माण में विशेष दक्ष थे इसी प्रकार कुछ अन्य धातु-मूर्ति-निर्माण के दक्ष सूत्रधारों ने दक्षिण-पश्चिम राजस्थान में धातु-प्रतिमाओं के निर्माण का केंद्र स्थापित किया, जिससे वे पश्चिम भारत में अकोटा (बड़ौदा) तथा सवंतगढ़ (जिला सिरोही) के मूर्ति-निर्माण-केंद्रों की प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित कर सके ।

मध्यकालीन पश्चिम भारत के जैन मंदिर इस काल की पाषाणों से गढ़ी गयी प्रतिमाओं, उनकी कलात्मकता, उनके आकार-प्रकार की विविधता और उन प्रतिमाओं द्वारा की गयी जैन धर्मानुयायियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के मूक साक्षी हैं । ये प्रतिमाएँ प्रायः कठोर संगमरमर में उत्कीर्ण की गयी हैं जिससे स्वतः ही स्पष्ट है कि इन प्रतिमाओं के गढ़ने में मूर्तिकारों को कितना अधिक परिश्रम करना पड़ा होगा । दिलवाड़ा के मंदिरों के अंतर्भाग में उत्कीर्ण प्रतिमाओं की संपन्न परंपरा ने इस काल के मूर्तिकारों को अमूल्य प्रेरणा प्रदान की है । रणकपुर स्थित पूर्वोक्त चौमुख-मंदिर के स्तंभ भी अभिकल्पनाओं की विविधता के लिए अद्भुत हैं, क्योंकि, मंदिर के ४२० स्तंभों में से किसी भी स्तंभ की अभिकल्पना एक दूसरे के समरूप नहीं है (चित्र २३६) । मूर्तिकार ने छेनी को इस निपुणता से चलाया है कि वह संगमरमर में हाथी-दाँत की-सी नक्काशी करने में सफल सिद्ध हुआ है (चित्र २४०, २४१) । इस काल के मूर्तिकारों की मुख्य अभिरुचि आलंकारिक अभिकल्पनाओं के उत्कीर्णन में ही रही है। मानव-आकृति के अंकन की अपेक्षा मूर्तिकारों ने देव-प्रतिमाओं के अंकन में निस्संदेह धर्म-ग्रंथों एवं शिल्प-कला संबंधी ग्रंथों का अध्ययन कर उनके निर्देशन का परिपालन किया है, तभी वे इन देव-प्रतिमाओं द्वारा तत्कालीन धार्मिक माँगों को पूरा कर सके हैं । इन देव-प्रतिमाओं, जिनमें नायकों, विद्याधरों, अप्सराओं, विद्यादेवियों तथा जैन धर्म के अन्य देवी-देवताओं का अंकन सम्मिलित है, तथा आलंकारिक आकृतियों, जो सामान्यतः मंदिरों की भित्तियों, छतों तथा बेड़े आदि पर उत्कीर्ण हैं, के अंकन में उनका प्रयास यंत्रीकृत तथा अत्यंत रूढ़िबद्ध रहा प्रतीत होता है (चित्र २४२ तथा २४३ से तुलना कीजिए) । ये मूर्तिकार अपनी कृतियों में अभीष्ट आकृतियों का मात्र बाह्य आकार ही पकड़ सके हैं, उसकी अंतरात्मा को नहीं; जिसके परिणामस्वरूप आकृतियाँ सामान्यतः अरोचक बनकर रह गयी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रतिमाओं को गढ़नेवाले हाथ पर्याप्त अभ्यस्त हैं लेकिन उनके

---

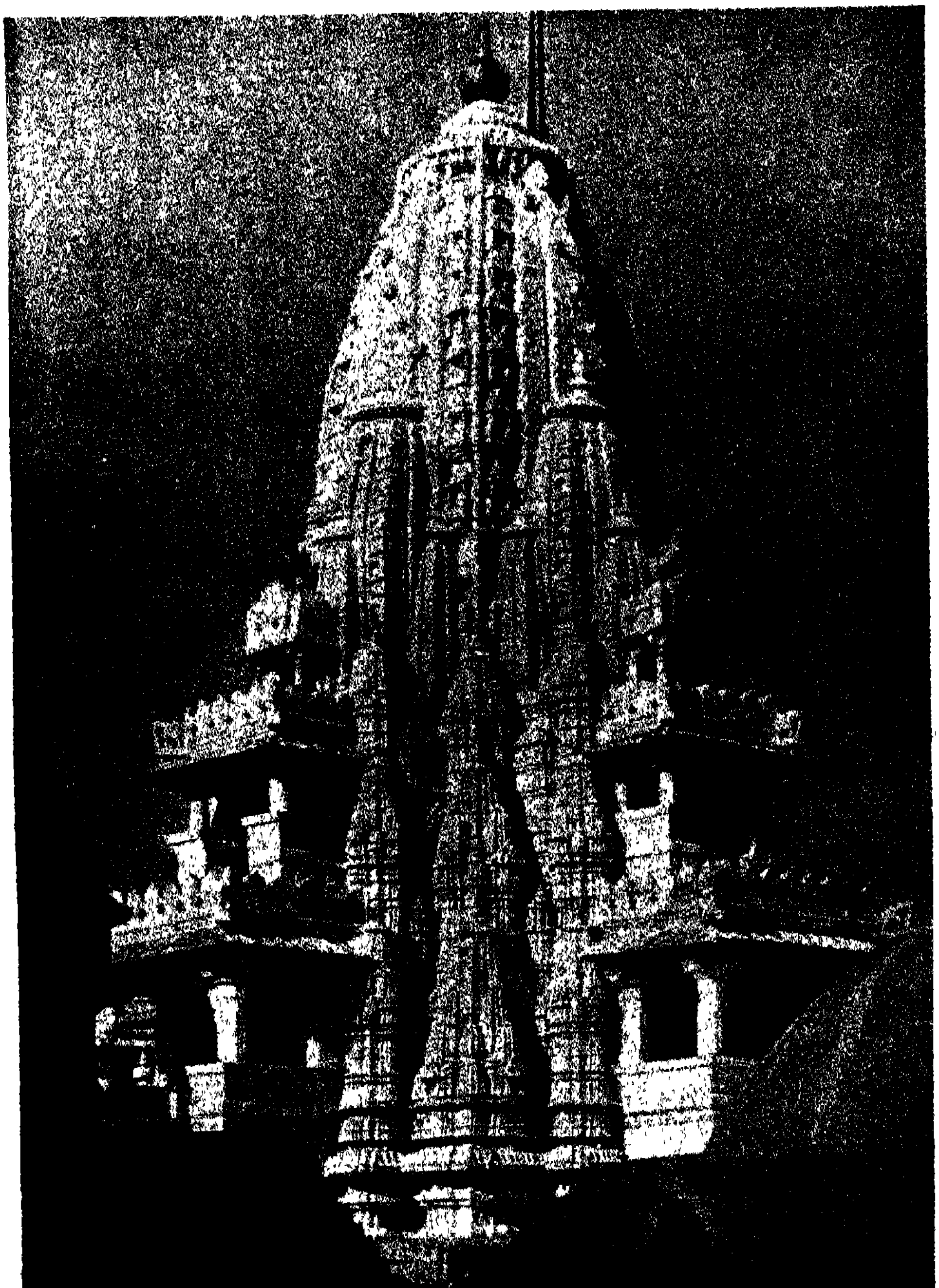
1 शाह (उमाकांत प्रेमानंद) **स्टडीज इन जैन आर्ट**. 1955. बनारस. पृ 24.

2 अग्रवाल (आर सी) . **सम फेमस स्कल्पटर्स एण्ड आर्कीटेक्ट्स ऑफ मेवाड़, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली**, 33. 1958. पृ 332-33.



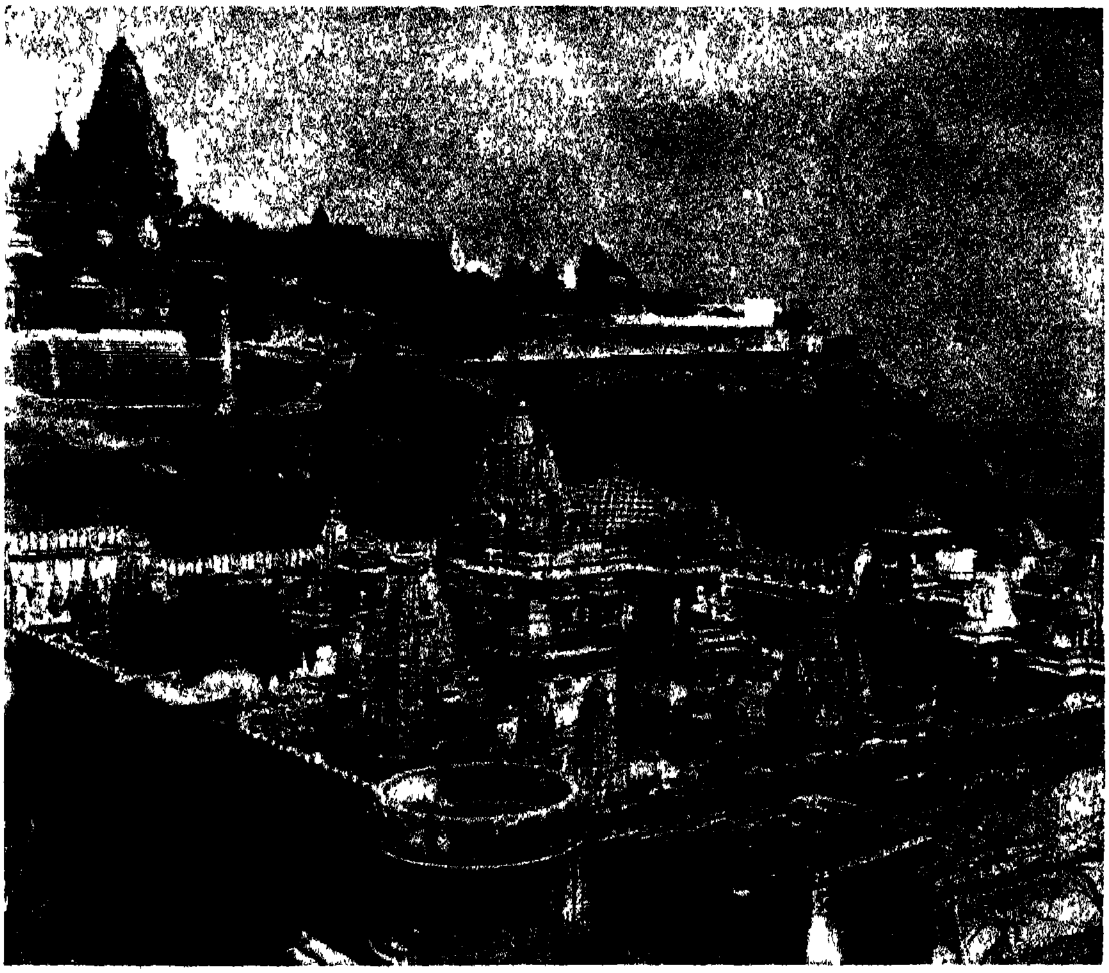
राणकपुर -- आदीश्वर-मंदिर, बहिर्भाग

चित्र 235



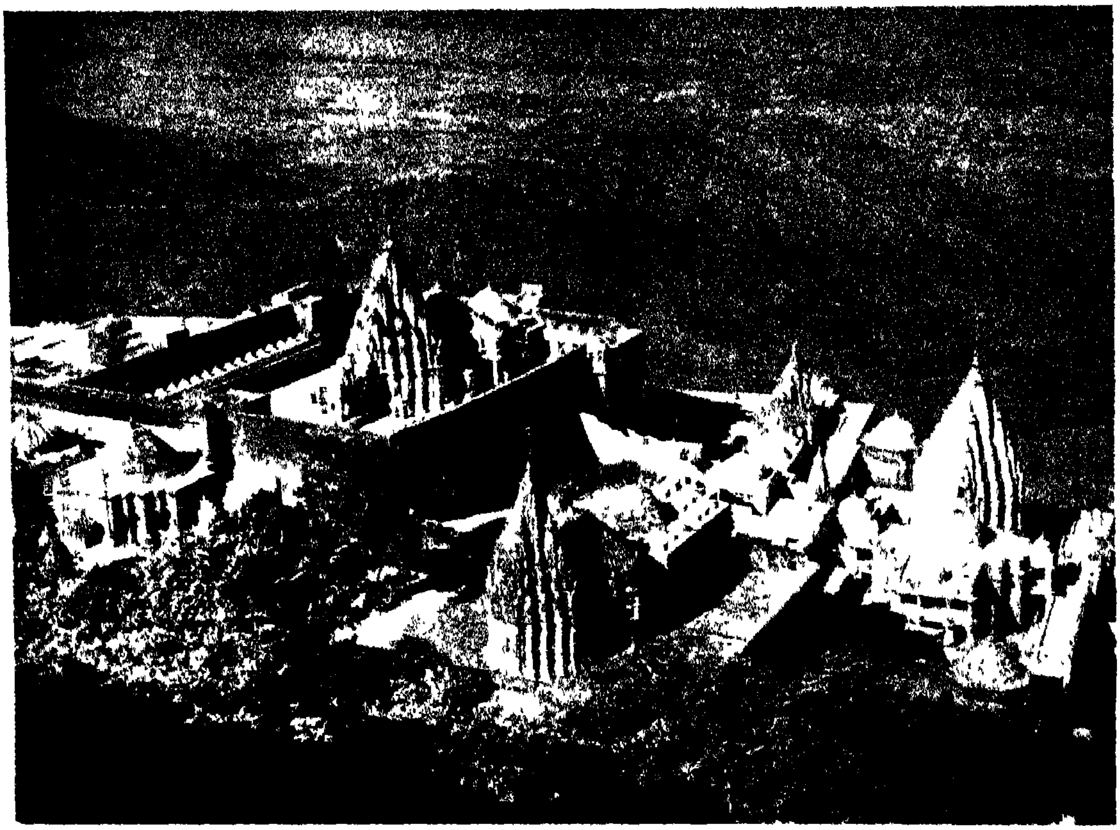
राणकपुर — आदीश्वर-मंदिर, मध्यवर्ती गर्भगृह

चित्र 236



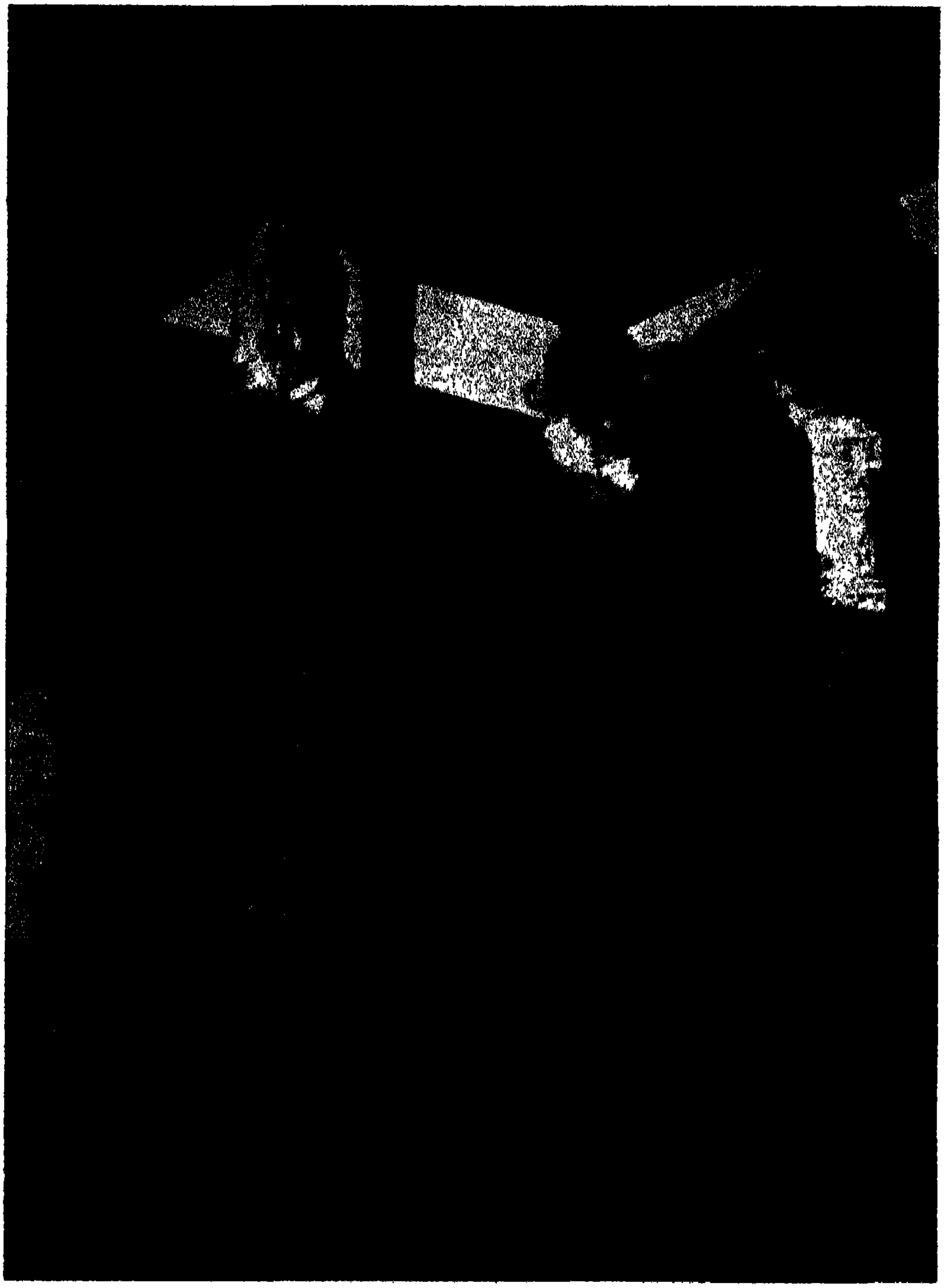
शत्रुंजय — मंदिर-नगर का एक भाग

चित्र 237



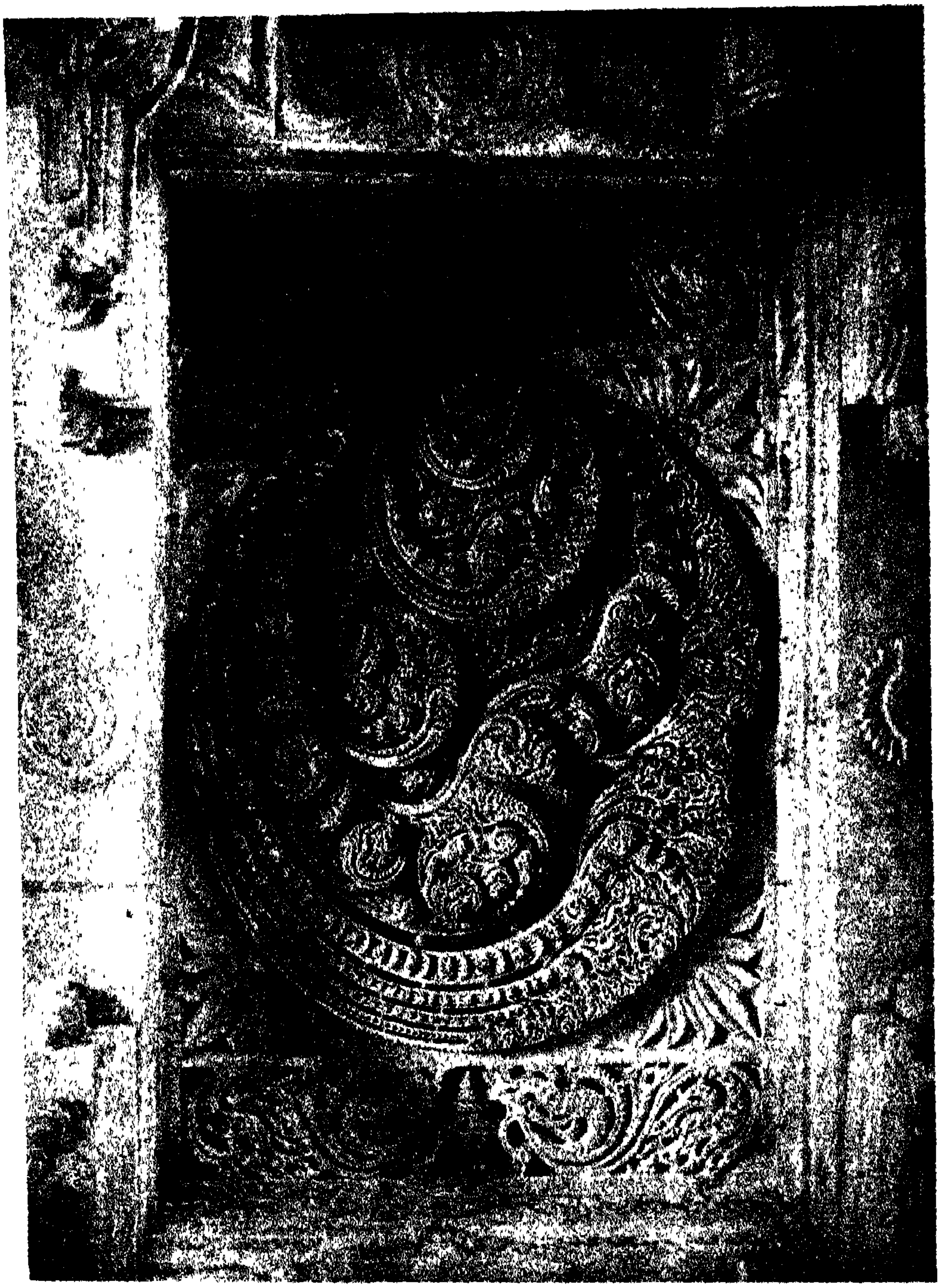
गिरनार — मंदिर-नगर का एक भाग

चित्र 238



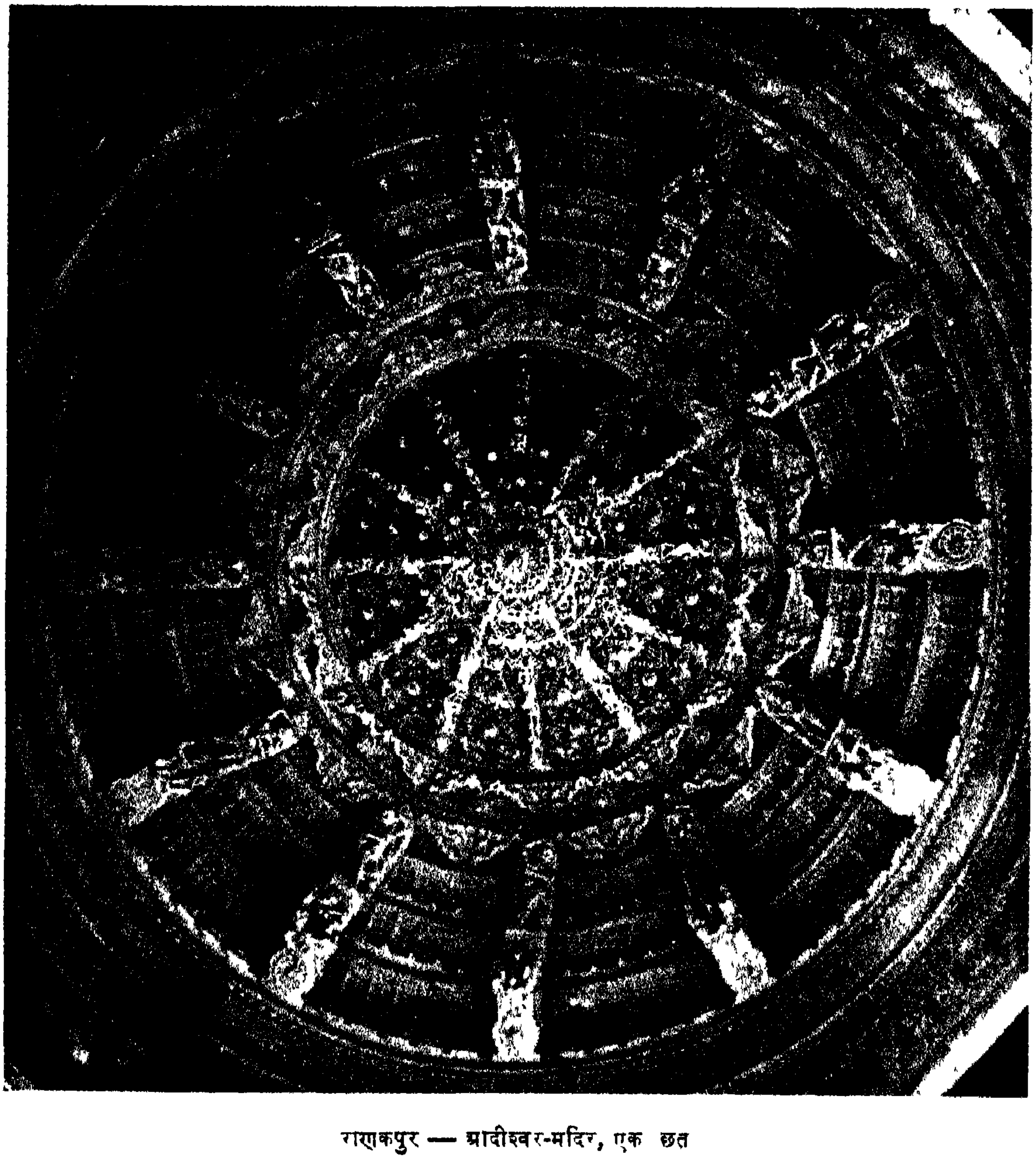
राणकपुर — आदीश्वर-मंदिर, एक मण्डप

चित्र 239



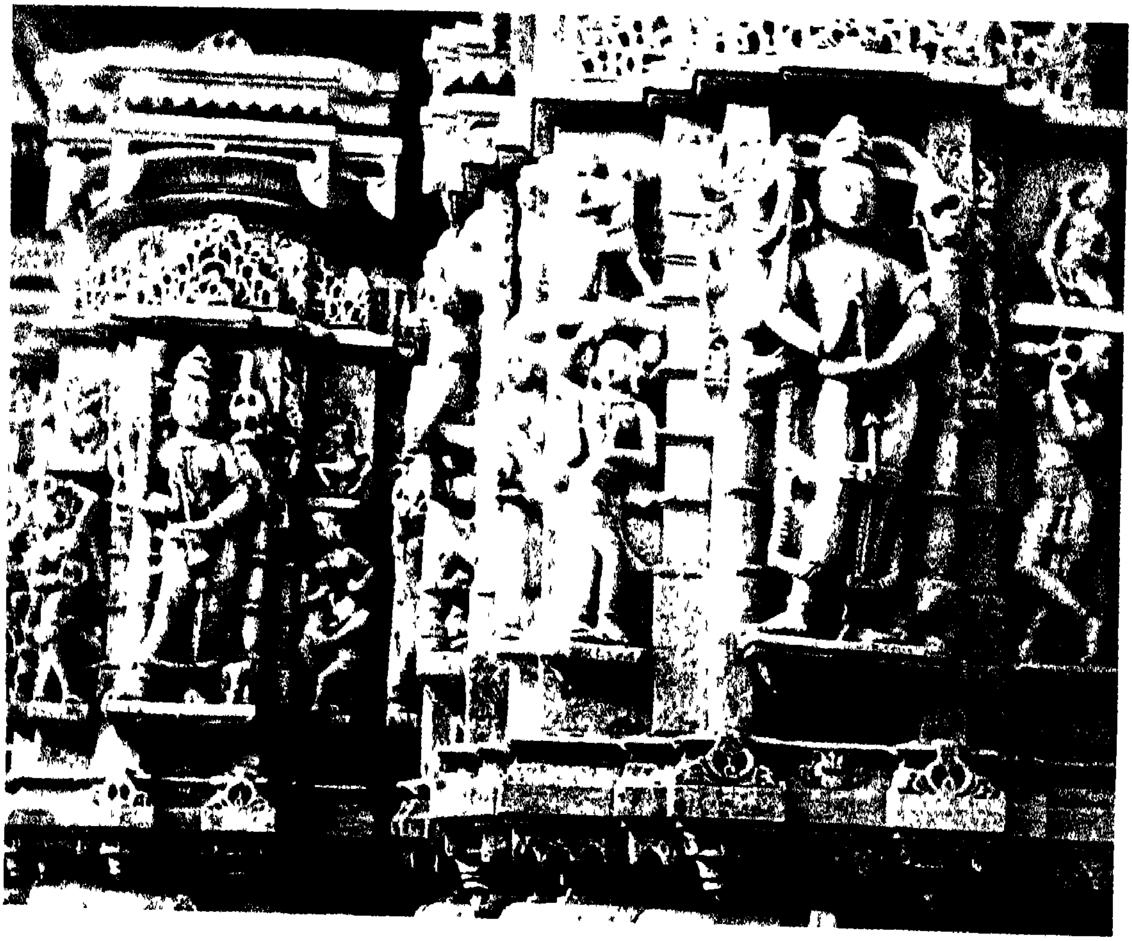
राणकपुर — आदीश्वर-मंदिर, एक छत

चित्र 240



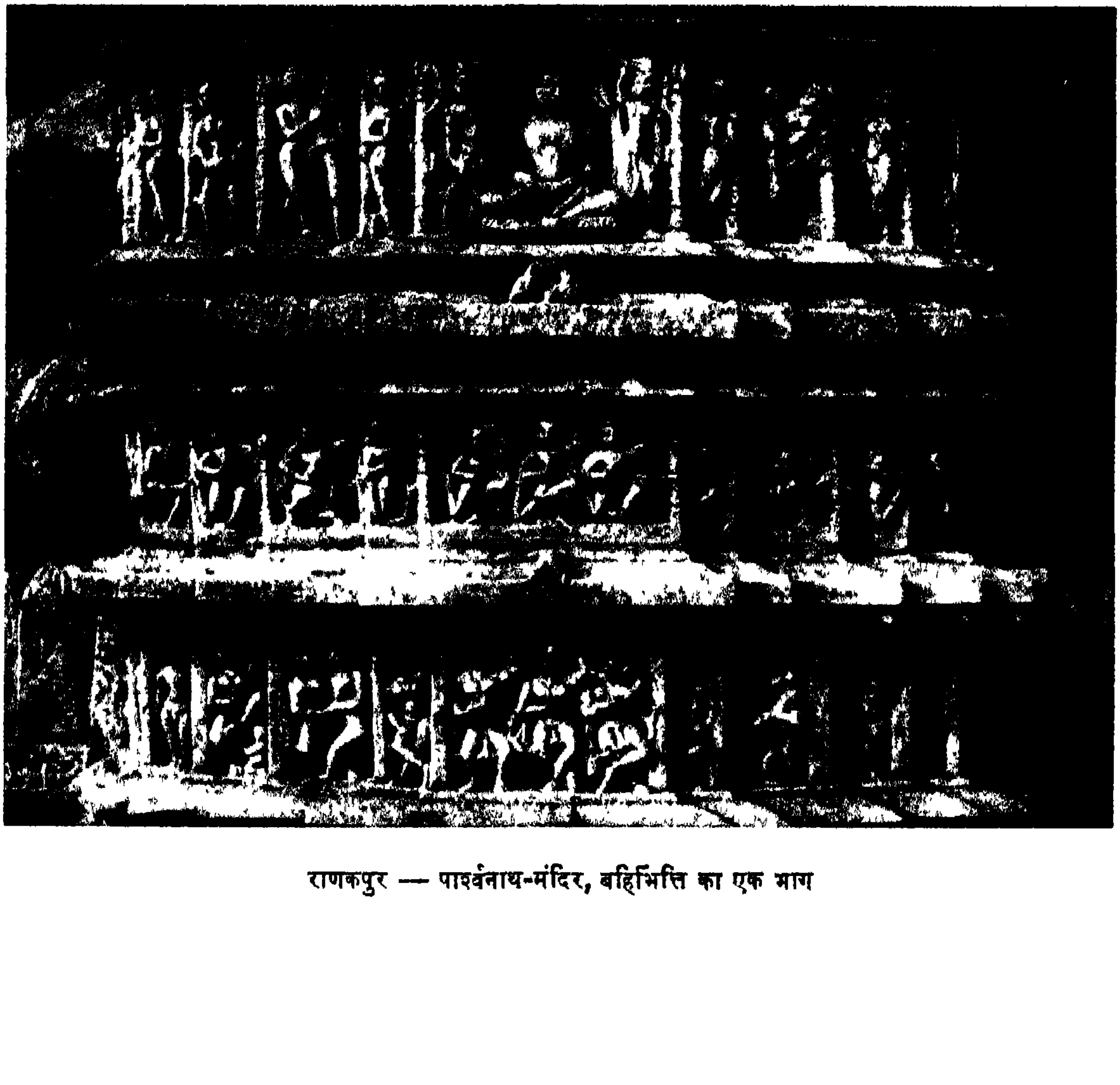
राणकपुर — आदीश्वर-मंदिर, एक छत

चित्र 241



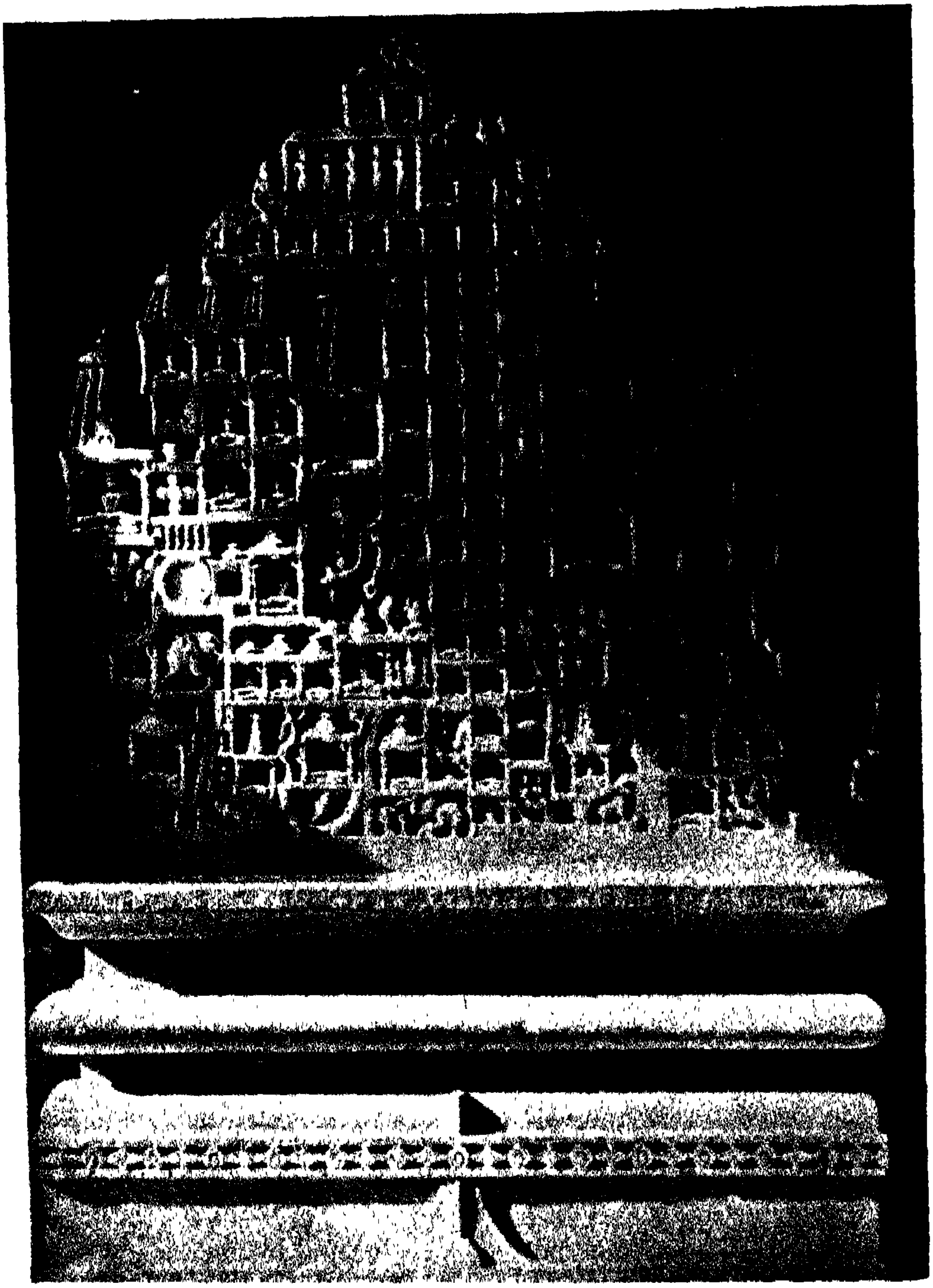
राणकपुर — पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति का एक भाग

चित्र 242



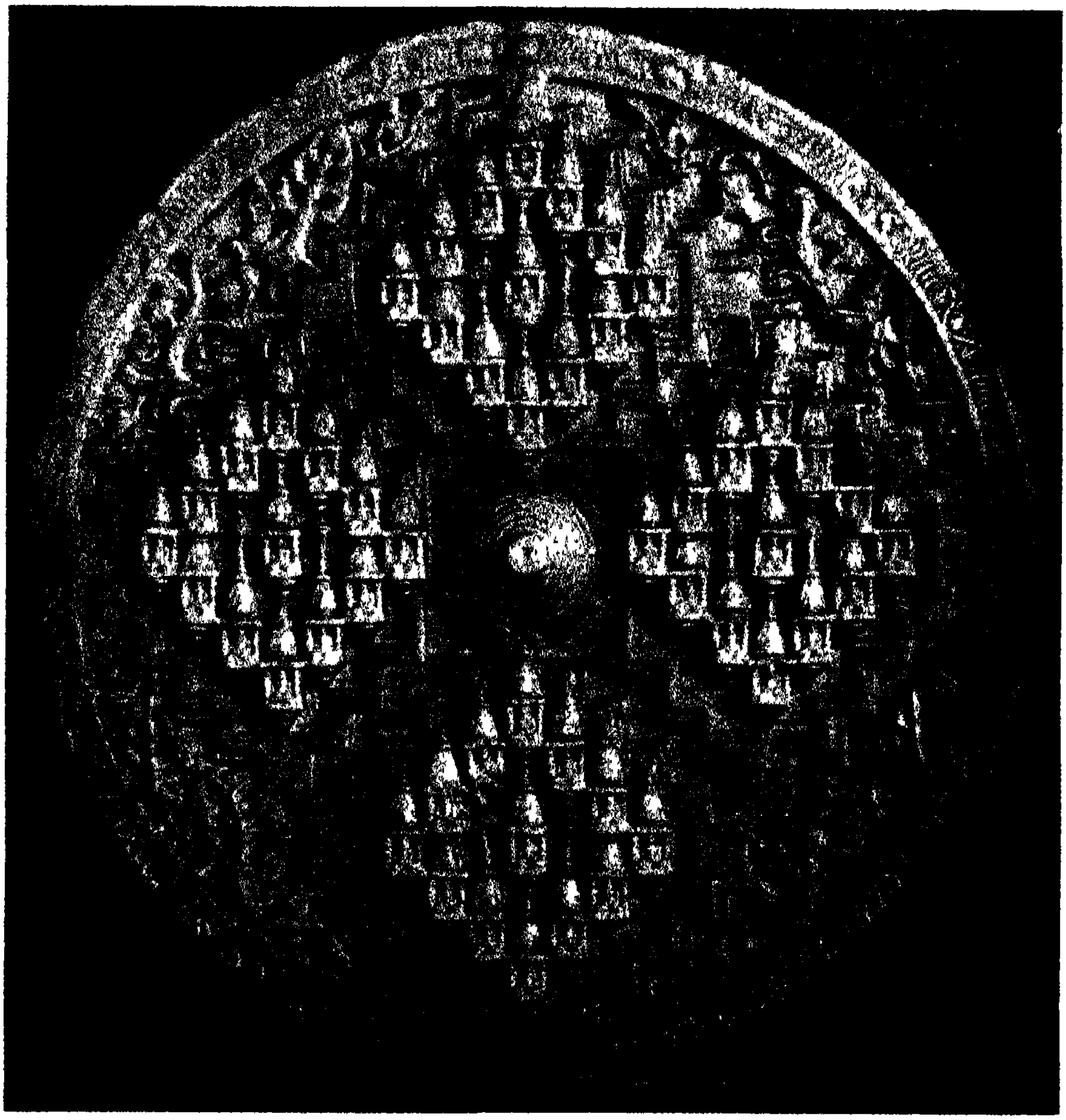
राणकपुर — पार्श्वनाथ-मंदिर, बहिर्भित्ति का एक भाग

चित्र 243



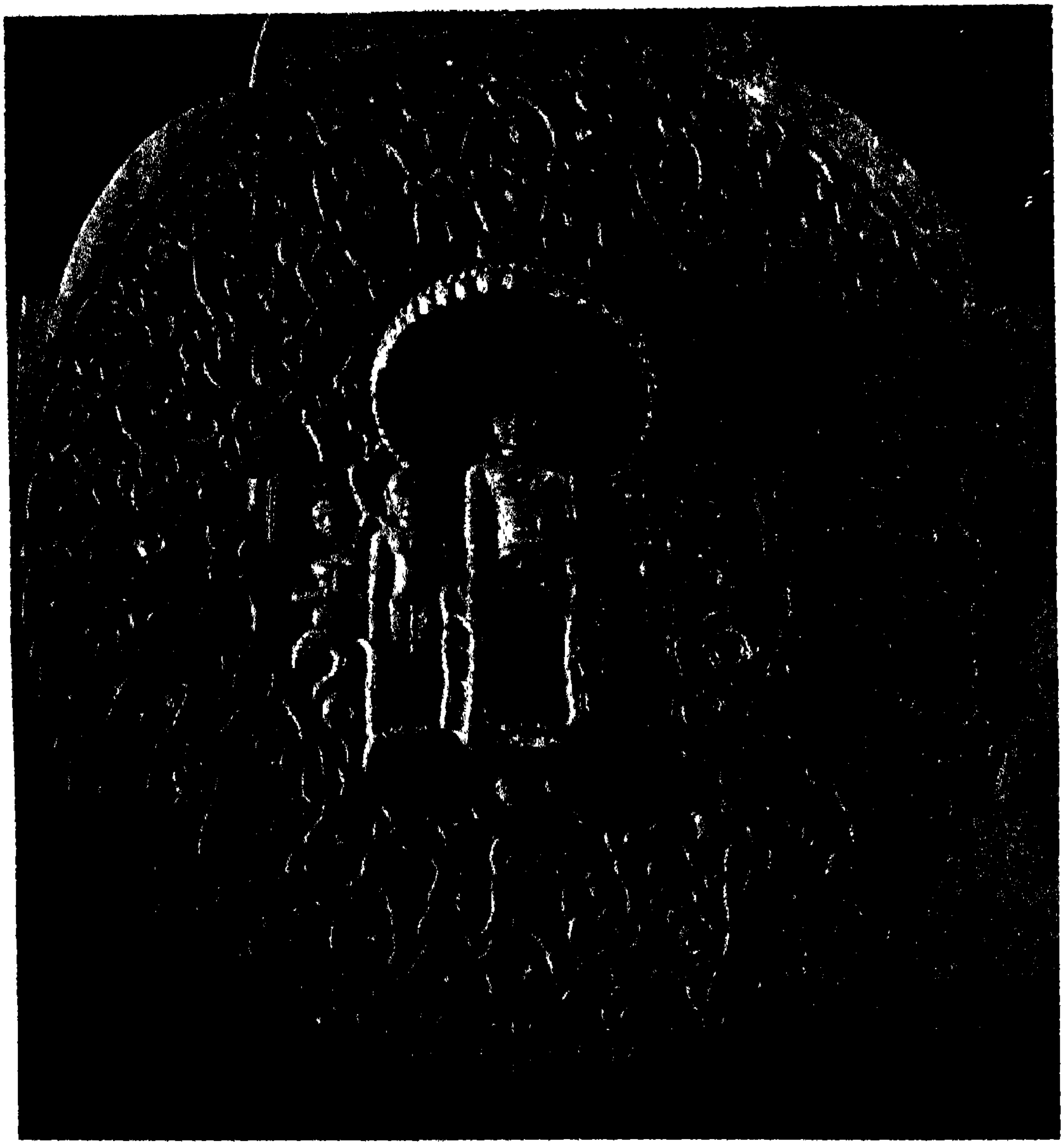
राणकपुर — शत्रुंजय-गिरनार-पट्ट

चित्र 244



राणकपुर — नंदीश्वर-द्वीप-पट्ट

चित्र 245



राणकपुर — सहस्रफण पार्श्वनाथ

चित्र 246

पीछे कार्य करनेवाला मस्तिष्क यदा-कदा ही उत्प्रेरणा ग्रहण कर सका है। इस प्रकार, मध्यकालीन जैन प्रतिमाएँ अपने पूर्ववर्ती शास्त्रीय काल के उत्तरवर्ती मूर्तिकारों द्वारा छोड़ी गयी परंपरा का पालन करनेवाली सर्वोत्तम उत्तराधिकारिणी के रूप में हमारे सामने आती हैं।

यदि हम पश्चिम भारत के समसामयिक लघुचित्रों के शिल्पियों का उल्लेख करें तो हम पायेंगे कि उन्होंने भी मानव-आकृति को जैसा होना चाहिए वैसा ही चित्रित करने में अपनी अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की। इन लघुचित्रों में अंकित मानव-आकृतियाँ अपने आकार और ऐंद्रिक सौंदर्य खो चुकी हैं। मानवाकृतियाँ विशुद्ध चमकदार रंगों और 'जरखेज' रेखाओं में मात्र एक सपाट अभिकल्पना की भाँति अंकित हैं। इस काल की प्रतिमाओं ने अपने सुघड़ आकार को बनाये रखा है क्योंकि यह मूर्ति-रूपायन का एक अनिवार्य पक्ष है लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसके विषयगत या विषयगत तत्त्व को, जैसे मुखाकृति पर सार्थक भावों की अभिव्यक्ति को, प्रायः पूर्णतः नकार दिया गया है। मूर्तिकारों ने समकालीन चित्रकारों का अनुकरण कर पत्र-पुष्पों तथा ज्यामितीय आलंकारिक अभिकल्पनाओं के प्रति एक गहरी अभिरुचि प्रदर्शित की है और उन्होंने इन आलंकारिक अभिकल्पनाओं का प्रयोग पाषाण या धातु-निर्मित प्रतिमाओं में किया है। अलंकरण की इस भावना ने समूचे पश्चिम भारत के मंदिरों की भित्तियों, छतों एवं स्तंभों पर उत्कीर्ण लहरदार पत्रावलियों तथा पत्र-पुष्पों की अभिकल्पनाओं में स्थान पाया है। इन अभिकल्पनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण से ज्ञात होता है कि इनके अंकन में शिल्पी के हाथ और मस्तिष्क दोनों ही प्रायः सदैव समान-रूप से सजग रहे हैं। आलंकारिक रूपाकारों के प्रति उनकी सृजनात्मक अभिरुचि इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि उन्होंने इन अलंकरणों में अरब-देशज अभिकल्पनाओं का भी समावेश किया है, जिन्हें उदाहरण के रूप में रणकपुर के चौमुख-मंदिर के कुछ स्तंभों में देखा जा सकता है।

इस काल में बहुविविधिता पर जो बल दिया गया है वह प्रतिमाओं में भी पाया जाता है। मध्यकालीन जैन प्रतिमा-कला का विशिष्ट योगदान उन उच्च रूप से विकसित परंपराबद्ध शिल्प-प्रतीकों में निहित है जो अपना धार्मिक महत्त्व रखते हैं। रणकपुर के पाषाण निर्मित शत्रुंजय-गिरनार-पट्ट (चित्र २४४), नंदीश्वर-द्वीप-पट्ट (चित्र २४५), सहस्र-फण-पार्श्वनाथ, तथा पाटन[1] से प्राप्त कांस्य-निर्मित सहस्रकूट, कोल्हापुर[2] से प्राप्त नंदीश्वर और सूरत[3] से प्राप्त पंच-मेरु—ये कुछ ऐसे उल्लेखनीय शिल्प-प्रतीक हैं जिनके निर्माण के पीछे शिल्पियों के लिए एक ही आकार की बहुविविधिता मुख्य प्रेरक शक्ति रही प्रतीत होती है। मध्यकालीन पश्चिम भारत की जैन कला और स्थापत्य के इस सर्वेक्षण से एक ही समरूप तथ्य उद्घाटित होता है और वह है रूपाकारों को बहुविविधिता के साथ पुनःप्रस्तुतीकरण की प्रबल भावना।

अशोक कुमार भट्टाचार्य

1 शाह, वही, पृष्ठ 64.
2 वही, चित्र, 63.
3 वही, चित्र 78.

अध्याय 29

दक्षिणापथ

सामान्य विशेषताएं

दक्षिणापथ के तेरहवीं शती से पूर्व के सामाजिक-धार्मिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने के उपरांत जैन धर्म को इस क्षेत्र के उत्तरी और पूर्वी भागों में शक्तिसंपन्न वीरशैव मत के और दक्षिणी भाग में सात्विक श्रीवैष्णव मत के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। चौदहवीं शती के आरंभ से भारत के अन्य धर्मों के साथ इस धर्म को भी इस्लाम के कारण आघात पहुँचा। इस्लाम उन मुस्लिम शासकों का धर्म था जो तुंगभद्रा से उत्तर के क्षेत्र के अधिपति बन गये थे। कहा जाता है, इस ज्वार पर अधिकार पाने के लिए १३४६ ई० में हरिहर और बुक्क नामक दो भाइयों ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। इस राजघराने के सदस्य यद्यपि स्वयं ब्राह्मण्य धर्म का पालन करते थे तथापि उन्होंने जैन धर्म तथा अन्य धर्मों को सदा समर्थन दिया। इस तथ्य की अत्यंत सार्थक पुष्टि बुक्क-प्रथम के उस प्रसिद्ध अभिलेख से होती है जिसमें वृत्तांत है कि एक बार १३६८ ई० में जब श्री-वैष्णवों और जैनों में गंभीर विवाद छिड़ गया तब स्वयं सम्राट् बुक्क-प्रथम ने ही उन दोनों की मध्यस्थता की और उनकी स्थायी संधि करा दी। इस प्रकार साम्राज्य से समर्थन प्राप्त करके जैनों ने अपने क्रिया-कलाप को—क्रमशः साहित्य और ललित कलाओं—पूर्व-परिचित क्षेत्र में विस्तृत किया। विजयनगर-साम्राज्य-काल में आदि से अंत तक ब्राह्मण्य धर्म के अनुयायियों ने साहित्यिक कृतियों का सृजन किया और सर्जनात्मक कलाओं का विकास किया; उनके साथ ही साथ जैन धर्म के अनुयायियों ने भी वैसी ही अत्यंत भव्य कृतियों की सर्जना की। इस प्रकार की कृतियों की संख्या दक्षिणापथ के कन्नड भाषी भागों और पश्चिमी समुद्र-तट के क्षेत्रों में उन भागों से अधिक है जो दक्षिणापथ के आंध्र प्रदेश या दक्षिणी महाराष्ट्र के अंतर्गत आते हैं। वास्तव में, इस धर्म को उत्तरी कर्नाटक में मुस्लिमों की यातनाओं का सामना करना पड़ा, इसका प्रमाण लगभग सोलहवीं शती के धारवाड़ जिले मे स्थित मुलगुण्ड के एक कन्नड अभिलेख से मिलता है जिसमें वृत्तांत है कि जब ललितकीर्त्ति के शिष्य जैन गुरु सहस्रकीर्त्ति पार्श्वनाथ-जिनालय में थे कि उसमें मुस्लिमों ने आग लगा दी और वे निर्विकल्प भाव से बैठे-बैठे भस्मसात् हो गये।[1] यह घटना वास्तव में रोमांचकारी थी किन्तु इस गुरु ने भी अपने

1 **साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस**, 15, क्र० 695.

उस धर्म के गौरव की रक्षा का एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया जो इस बात पर बल देता है कि उसके अनुयायी अहिंसा के मार्ग पर चलें, चाहे यातनाएँ कितनी ही कठोर हों।

विजयनगर शासक देवराय-प्रथम (१४०४-२२ ई०) की रानी भीमादेवी एक जैन महिला थी। उसने श्रवणबेलगोला की मंगायि-बस्ती में शांतिनाथ की एक मूर्ति की स्थापना की।[1] उसने जैन आचार्यों को भी संरक्षण दिया। इसके बाद का शासक देवराय-द्वितीय (१४२२-४६ ई०) भी जैन धर्म को संरक्षण देता रहा। १४२४ ई० में उसने वरांग नेमिनाथ की वसदि को तलुव का वरांग नामक ग्राम दान किया।[2] इसके अतिरिक्त १४२६ ई० में उसने राजधानी हम्पी में भी एक चैत्यालय का निर्माण कराया।[3] कृष्णदेवराय (१५०९-२९ ई०) के शासन की यह विशेषता थी कि उस समय सभी धर्मों के अनुयायियों को उदारता और समान रूप से संरक्षण प्राप्त था। १५१६ ई० और १५१९ ई० में उसने जैन वसदियों को दान दिया और १५२८ ई० में बेल्लारी जिले के चिप्पगिरि में भी एक वसदि को दान दिया।[4] सम्राट् के अतिरिक्त, उसके कुछ अधिकारियों ने भी जैन धर्म को महान् उत्कर्ष प्रदान किया। इस संदर्भ में एक धर्मनिष्ठ जैन सेनापति इरुगप्प (१३८४-१४४२ ई०) का उल्लेख किया जाना चाहिए जिसने हरिहर-द्वितीय और देवराय-द्वितीय के अधीन अपने सेवाकाल में इस साम्राज्य के विभिन्न भागों में मंदिरों का निर्माण कराकर, उन्हें उदार सहायता देकर और जैन गुरुओं को संरक्षण प्रदान करके इस धर्म की स्वेच्छापूर्वक सेवा की।[5]

जैन धर्म के अनुयायियों ने विभिन्न प्रादेशिक राजदरबारों में भी अपना स्थान बनाया क्योंकि धर्म का प्रचार साम्राज्य की राजधानी की अपेक्षा वहाँ अधिक सरलता से किया जा सकता था। इस प्रकार यह धर्म कोंगाल्वों, चंगाल्वों, संगीतपुर (हडुवल्लि) के शालल्वों तथा अन्य सामंतों के और गेरसोप्पा राजाओं और कार्कल के भैररस ओडेयरवंशियों के राजदरबारों में लोकप्रिय हो गया। आविलनाड के प्रभुओं और कप्पटूर, मोरसुनाड, बिदनूर, बागुनजिसीमे, नुग्गेहल्लि तथा अन्य स्थानों के महाप्रभुओं के छोटे-बड़े सामंतों की कृपा भी इस धर्म को प्राप्त हुई जिन्होंने पश्चिमी दक्षिणापथ के विभिन्न भागों पर पंद्रहवीं से सत्रहवीं शती तक शासन किया।[6] इन्होंने जैन धर्म को जो संरक्षण प्रदान किया उसकी पुष्टि अनेकानेक अभिलेखों और स्मारकों से होती है। यद्यपि, जैसा कि कहा भी जा चुका है, तेलंगाना और दक्षिणी महाराष्ट्र में यह धर्म इस काल में इतना स्वल्प प्रचलित रहा कि उसकी कड़ी जुड़ी रही।

1 एपिग्राफिया कर्नाटिका, 2, प्रस्तावना, पृ 29.
2 सालेतोर, (बी ए) मिडीवल जैनिज्म, पृ 301.
3 वही, पृ 302-03.
4 वही, पृ 301.
5 वही, पृ 306 तथा परवर्ती.
6 वही, पृ 313 तथा परवर्ती. / राइस (बी एल) मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रॉम इंस्क्रिप्शंस. 1909. लंदन. पृ 203.

जिनालय या वसदि के स्थापत्य का विवरण देते समय उसके विभिन्न भागों का परिज्ञान कर लेना उपयोगी होगा। विभिन्न भागों की संयोजना की दृष्टि से जैन मंदिर और किसी समकालीन ब्राह्मण्य मंदिर में अधिक अंतर नहीं होता। तथापि, यह उल्लेखनीय है कि कुछ अभिलेखों में जैन मंदिर की रचना के विषय में सूचना विद्यमान है। उदाहरण के लिए, निडुगल्लु में स्थायी रूप से निवास करते हुए शासन करनेवाले इरुंगोणदेव-चोल नामक सामंत के समय का १२७८ ई० की तिथि से अंकित एक अभिलेख अनंतपुर जिले के अमरपुरम[1] से प्राप्त हुआ है जिसमें वृत्तांत है कि एक विशेष दान द्वारा जो भी आय हो उसका उपयोग ब्रह्म-जिनालय नामक मंदिर के 'उपान से स्तूपी तक' (उपनादि-स्तूपी-पर्यंतम्) पाषाण से पुनर्निर्माण में किया जाये जिसमें महा-मण्डप, भद्र-मण्डप, लक्ष्मी-मण्डप, गोपुर, परिसूत्र, वंदनमाला, मान-स्तभ और मकर-तोरण सम्मिलित हों।[2] उत्तरी कनारा जिले के बीलगि से प्राप्त, १५८१ ई० के एक कन्नड अभिलेख में[3] लिखा है कि किसी सामंत ने रत्नत्रय-वसदि का और मण्डप, मुनिवास, चंद्रशाला आदि का निर्माण कराया तथा एक राजवश की महिला ने शांतीश्वर के लिए गंधकुटी-वस्ती का निर्माण कराया।

जैन स्थापत्य के उदाहरण चार वर्गों में रखे जा सकते हैं। प्रथम वर्ग में हम्पी के मंदिर[4] आते हैं जिनमें शिखर-भाग सोपानबद्ध और सूच्याकार होता है। इसमें संदेह नहीं कि शिखर की यह विधा ब्राह्मण्य मदिरों की रचना में भी स्वीकृत हुई पर बहुत-से जैन मंदिरों की यह विशेषता उनकी अपनी है। दूसरा वर्ग उत्तर कनारा जिले के भटकल और दक्षिण कनारा जिले के मूडबिद्री (मूडबिदुरे) के कुछ विशाल पाषाण-निर्मित मंदिरों का है। इन मंदिरों की सबसे प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि इनकी छतें ढालदार किन्तु समतल होती हैं, और इनके पार्श्वभागों में एक विशेप प्रकार की पाषाण-निर्मित जाली की संयोजना होती है। इन मंदिरों में और नेपाल के अधिकांश भाग में विद्यमान काष्ठ-निर्मित भवनों में अत्यधिक समानता है। पर, इस समानता का कारण इससे अधिक कुछ नहीं प्रतीत होता कि दोनों क्षेत्रों की समान परिस्थितियों ने समान रचनाओं को जन्म दिया। इस प्रकार की छतें भटकल की प्रत्येक घास की झोंपड़ी में, यहाँ तक कि द्वितल आवास-गृह में भी देखी जा सकती हैं। छत का इस पद्धति से पाषाण द्वारा निर्माण इस क्षेत्र में प्रचलित घास की छत का अनुकरण मात्र है, जिसकी आवश्यकता यहाँ की जलवायु ने अनिवार्य कर दी और यह संभव इसलिए हुआ क्योंकि इस क्षेत्र में जहाँ चाहें वहीं लैटराइट पाषाण की बड़ी-बड़ी चट्टानें काटकर निकाली जा सकती हैं।[5] तीसरा

1 एनुअल रिपोर्ट ऑफ साउथ इण्डियन एपिग्राफी, 1916-17, परिशिष्ट सी, क्रमांक 40.

2 वही, पृ 74, 113-14.

3 एनुअल रिपोर्ट ऑन कन्नड रिसर्च इन बॉम्बे प्राविंस फॉर 1939-40; पृ 75, क्रमांक 88.

4 लांगहर्स्ट/हम्पी रुइंस. 1933. दिल्ली. पृ 94-95, रेखाचित्र 44.

5 कजिन्स (एच). द चालुक्यन आर्किटेक्चर ऑफ द कनारीज़ डिस्ट्रिक्ट्स, आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंपीरियल सीरिज, 42; 1926, कलकत्ता, पृ 134-35./पर्सी ब्राउन. इण्डियन आर्किटेक्चर, बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू, चतुर्थ संस्करण, 1959. बंबई. पृ 132.

वर्ग विशेष रूप से उल्लेखनीय है, इसके अंतर्गत मूडबिद्री के आसपास निर्मित जैन गुरुओं की निषीधिकाएं आती हैं। इन स्मारकों की रचना पगोडा के समान सूच्याकार है, इनमें एक-के-ऊपर-एक कई तल होते हैं और ऊपर का तल नीचे के तल से छोटा होता जाता है। प्रत्येक तल की सीमा उसका बाहर निकला उत्तीर बनाता है और सबसे ऊपर एक स्तूपी होती है[1]। चौथे वर्ग में वे मंदिर आते है जिनके गर्भगृह पर एक अतिरिक्त तल होता है। इसके उदाहरण हैं दक्षिण कनारा जिले के वेणूर की शांतीश्वर-बस्ती और वेमुलवाड से प्राप्त[2] कुछ अधिक प्राचीन एक ऐसी लघु पूजा-वस्तु जो एक जैन मंदिर की अनुकृति पर बनी है। चौमुखी-बस्ती (चतुर्मुख-बस्ती) नामक एक और भी विधा है, जिसका एक सर्वोत्तम उदाहरण कार्कल में है[3]। यह द्रष्टव्य है कि अधिकांश जैन मंदिर उत्तराभिमुख है। जिनका मुख अन्य दिशाओं में है उनकी संख्या बहुत कम है। उत्तराभिमुख होने की इस विशेषता से प्राचीन तमिल साहित्य में उल्लिखित 'वडक्किरुत्तल' (अर्थात् उत्तराभिमुख आसीन) नामक तपस्या का स्मरण हो आता है जिसे साधु पुरुष या राजपरिवार के सदस्य सांसारिक बंधनों से मुक्ति-लाभ के लिए धारण किया करते थे।

विजयनगर के स्मारक

विजयनगर साम्राज्य की राजधानी हम्पी के जैन मंदिरों में गणिगित्ति-मंदिर (चित्र २४७) उल्लेखनीय है जिसका निर्माण हरिहर-द्वितीय के शासनकाल में बुक्क-द्वितीय के मंत्री इरुग ने १३८५ ई० में कराया था। इस मदिर के सामने एक उत्तुंग मान-स्तंभ है जिसपर उत्कीर्ण अभिलेख में उपर्युक्त वृत्तांत है। इसके अतिरित उसमें इस मंदिर का उल्लेख कुंथु-जिननाथ-चैत्यालय के नाम से हुआ है। आमूलचूल पाषाण से निर्मित इस उत्तराभिमुख प्रासाद में 'गर्भगृह, अंतराल और अर्ध-मण्डप है और महा-मण्डप भी, जिससे एक पूर्वाभिमुख उप-गर्भगृह संलग्न है। स्तंभ प्राचीन शैली के, भारी और चतुष्कोणीय हैं। सोपानबद्ध स्तूपाकार शिखर-भाग में छह तल हैं जिनमें नीचे की अपेक्षा ऊपर का तल लघुतर होता गया है और जिनका निर्माण आड़े शिला-फलकों से हुआ है। ग्रीवा चतुष्कोणीय है और निम्न चतुष्कोणीय शिखर स्तूपी के आकार का है।'[4] 'सम्मुख-द्वार के पाषाण-निर्मित सरदल पर एक साधु की आसीन मूर्ति उत्कीर्ण है जिसके मस्तक पर त्रिछत्रावली है और दोनों ओर एक-एक चमर डुलाये जा रहे हैं। मुख-मण्डप की समतल छत पर ईंट-चूने से बनी एक अलंकृत परिधिका है जिसमें तीन बड़ी देवकुलिकाएँ हैं। उपर्युक्त सरदल की भाँति इनमें भी एक-एक साधु-मूर्ति

1 ब्राउन, पूर्वोक्त, पृ 156-57, चित्र 102, रेखाचित्र 4.

2 श्रीनिवासन. (पी आर) 'एण्टिक्विटीज ऑफ तुलुनाड' ट्रैंजेक्शंस ऑफ द आर्क्यॉलॉजिकल सोसायटी ऑफ साउथ इण्डिया, 1, 1955. पृ 78;/गोपालकृष्ण मूर्ति (एस). जैन वेस्टिजेज इन आंध्र, आंध्र प्रदेश गवर्नमेण्ट आर्क्यॉलॉजिकल सीरीज, 12, रेखाचित्र 26 जी, एच.

3 श्रीनिवासन, पूर्वोक्त पृ 79, रेखाचित्र 1.

4 देवकुंजारि (डी). हम्पी. 1970. नई दिल्ली. पृ 41.

आसीन-मुद्रा में है; पर ये चूने से बनी थीं और अब इनके खण्ड-खण्ड ही बच रहे हैं। यह मंदिर सावधानी से निर्मित हुआ है, इसमें एक भी हिंदू मूर्ति नहीं है और इन खण्डहरों में यह मंदिर निश्चित ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक है।'[1]

हेमकूटम् पहाड़ी पर स्थित मंदिर-समूह साधारणत: जैन मंदिरों का ही समूह माना जाता है। इनमें अधिकतर मंदिर त्रिकूटाचल (तीन गर्भालयों-सहित) हैं और उनके शिखर-भाग उसी विशेष शैली में सोपानबद्ध सूच्याकार हैं (चित्र २४८ और २४९ क)। 'अधिकांश मंदिरों के गर्भालयों में मूर्तियाँ नहीं हैं। इन मंदिरों की विशेषता यही है कि इनमें तीन गर्भालय हैं—पूर्वाभिमुख, पश्चिमाभिमुख और उत्तराभिमुख; तीनों का एक ही अर्ध-मण्डप है; तीनों की एक मुख-चतुष्की है। भित्तियों की संरचना बड़े-बड़े आयताकार शिला-फलकों को सुंदरता से जोड़कर की गयी है और मध्य में एक आड़ी पट्टी अलंकरण के रूप में रखी गयी है। प्राचीन शैली के भारी चतुष्कोणीय स्तंभों से बड़े-बड़े टोडे निकले हैं। सोपानबद्ध सूच्याकार शिखर-भाग पाषाण-निर्मित है और उनका ऊपरी भाग चतुष्कोणीय स्तूपी के आकार का शिखर है।'[2] इन मंदिरों के गर्भालयों में मूर्तियों की अनुपस्थिति और उनके शिखर-भाग की शैली से किसी को संदेह हो सकता है कि वे वास्तव में जैन मंदिर हैं या नहीं। यों भी इन्हें मूलत: जैन सिद्ध करने का कोई आधार भी नहीं। वास्तव में, उनमें निस्संदेह बहुत-से शिव-मंदिर हैं। उनमें से कुछ शैलीगत आधार पर चौदहवीं शती के माने गये हैं। यद्यपि त्रिकूट-शैली के ये मंदिर कुछ ऐसे स्थानों पर स्थित हैं जिससे वे जैन माने जा सकते हैं, जैसे वर्धमानपुर (आधुनिक बड्डमणी) जो एक जैन केंद्र था, और आलमपुर के उत्तर में प्रगतुर जो कदाचित् उससे भी प्राचीन जैन केंद्र था।[3] इस शैली का एक जैन मंदिर बेलगाम में भी है। उसका समय १२०५ ई० से भी पहले का माना जाता है।[4] हम्पी में हस्तिशाला के समीप एक मंदिर हेमकूटम् के मंदिरों की ही शैली का है। उसमें गर्भगृह, अर्ध-मण्डप, महा-मण्डप और मुख-मण्डप हैं, किन्तु उसका शिखर-भाग अब बचा नहीं है। गर्भगृह की भित्तियाँ लम्बे-चौड़े आयताकार शिला-फलकों की सुंदर जुड़ाई से बनी हैं। इसके अर्ध-मण्डप और महा-मण्डप के स्तंभ समतल, भारी घनाकार हैं, और प्राचीन शैली के हैं। यहाँ के अभिलेखों में वृत्तांत है कि पार्श्वनाथ के इस मंदिर का निर्माण देवराय-द्वितीय ने १४२६ ई० में कराया था।

श्रवणबेलगोला के स्मारक

महान् जैन केंद्र श्रवणबेलगोला[5] के अनेक जैन मंदिरों में से कुछ का निर्माण विवेच्य काल में हुआ। ये मंदिर द्रविड़-शैली के हैं और इनके अलंकरण होयसल-शैली में निर्मित किये गये हैं।

1 लांगहर्स्ट, वही, पृ 130-32.
2 देवकुंजारि, वही, पृ 49.
3 गोपालकृष्ण मूर्ति, वही, पृ 50-51. चित्र 14, रेखाचित्र 39 क, ख.
4 कज़िन्स, वही, पृ 121-22, चित्र 135.
5 एपिग्राफिया कर्नाटिका, 2, 1923, पृ 1-32 और उनके चित्र.

मंगायि-बस्ती इस काल का आरंभिक मंदिर है, वह कदाचित् १३२५ ई० में बना। इस मंदिर में उत्कीर्ण अभिलेखों के अनुसार इसे बेलुगुल के मंगायि ने बनवाया था। यह एक साधारण मंदिर है, इसमें गर्भगृह, शुकनासा और नवरंग हैं। इसमें पार्श्वनाथ की एक खड्गासन प्रतिमा है, उसके पादपीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख में वृत्तांत है कि इसका दान पण्डिताचार्य की शिष्या और विजयनगर के देवराय-प्रथम (राज्यारोहण वर्ष १४०६ ई०) की रानी भीमादेवी ने किया था।

इस स्थान पर इस काल का एक और लघु मंदिर है—सिद्धर-बस्ती, (१३९८ ई०) जिसमें लगभग एक मीटर ऊँची एक आसीन सिद्ध-मूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर एक-एक स्तंभ है, उनपर अभिलेख उत्कीर्ण है, शिल्पांकन उच्च कोटि का है और उनके शीर्ष-भाग की संयोजना शिखराकार है। एक उत्तरकालीन मंदिर है चेन्नण्ण-बस्ती (१६७३ ई०)। उसमें गर्भगृह, मुख-मण्डप और बरामदा हैं और चंद्रनाथ की एक आसीन मूर्ति विद्यमान है। उसके समक्ष एक मान-स्तंभ भी है।

दक्षिण कनारा के स्मारक

दक्षिण कनारा में पश्चिमी समुद्र-तट पर जैन धर्म लगभग चौदहवीं शती से प्रचलित हुआ। उत्तरकालीन शतियों में यह धर्म अत्यधिक प्रभावशाली हो गया और उसके अनुयायियों ने साहित्य के अतिरिक्त ललित कलाओं की समृद्धि में भी बहुत योगदान किया। कार्कल, मूडबिद्री और वेणूर जो जैन धर्म के महान केंद्र हैं वे इसी काल में बने। इन स्थानों पर अनेकानेक जैन बस्तियों का होना इस तथ्य के साक्षी हैं। इन स्थानों में से जिन-काशी के नाम से विख्यात मूडबिद्री, वेणुपुर (वंशपुर) और व्रतपुर के कुछ जैन मंदिर इस काल के स्थापत्य के अत्यंत महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। इनमें भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है होस-वसदि या त्रिभुवन-चूडामणि-वसदि जिसे सहस्र-स्तंभ-वसदि कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें अनेक स्तंभों की संयोजना है (चित्र २४९ ख)। यहाँ की वसदियों में यह सुंदरतम है। इसका निर्माण १४२९ ई० में विजयनगर-सम्राट् देवराय-द्वितीय के शासनकाल में हुआ था। दो प्राकारों के मध्य निर्मित इस चंद्रनाथ-वसदि के समक्ष एक उत्तुंग मान-स्तंभ और एक अलंकृत प्रवेश-द्वार है। सबसे ऊपर का तल काष्ठ-निर्मित है। इस पूर्वाभिमुख मंदिर के गर्भगृह के समक्ष तीर्थंकर-मण्डप गड्डिग-मण्डप और चित्र-मण्डप नामक तीन मण्डपों की संयोजना है। इसके सामने इससे अलग एक मंदिर और है जिसे भैरादेवी-मण्डप (चित्र २५० क, ख) कहते हैं; इसका निर्माण १४५१-५२ में विजयनगर-सम्राट् मल्लिकार्जुन इम्मडि देवराय (१४४६-६७) के शासनकाल में गोपण ओडेयर ने कराया था।[1] इस मंदिर की छत की, वरन् उत्तर और दक्षिण कनारा जिलों के कार्कल तथा अन्य स्थानों के मंदिरों की छतों की भी एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनके बरामदा के ऊपर के छदितट का ढाल पीछे की ओर है जिसे आवास-गृहों की घास की छत के अनुकरण पर बना माना जाता है। इस स्थान के अन्य मंदिरों के अतिरिक्त इस मंदिर का भी बहिर्भाग ब्राह्मण्य मंदिरों के बहिर्भागों की अपेक्षा अधिक समतल है। 'उनके स्तंभ पाषाण के होकर भी काष्ठ-निर्मित-से लगते हैं क्योंकि

1 सालेतोर, वही, पृ 352.

अष्टकोणीय बनाने के लिए उनके कोणों को कहीं अधिक और कहीं कम छील दिया गया है, और बरामदों की ढालसहित छतों की शैली तो काष्ठ-निर्मित छतों की शैली के इतने समान है कि इस मंदिर के मूल रूप में काष्ठ-निर्मित होने की संभावना त्यागी नहीं जा सकती . . . स्तंभों के मध्य संयोजित होने वाले फलक यहाँ पाषाण-निर्मित हैं जबकि भारत के किसी भी नगर में ये काष्ठ-निर्मित होते है . . . इन मंदिरों के बहिर्भाग जितने समतल हैं अंतर्भाग उतने ही अलंकृत हैं। उनके शिल्पांकनों की प्रचुरता और विविधता इतनी अधिक है जितनी कहीं भी नहीं देखी जा सकती। कोई भी दो स्तंभ एक-समान नही मिल सकते और उनमें बहुत-से तो इस सीमा तक अलंकृत हैं कि वे विलक्षण ही लगते हैं'।[1] त्रिभुवन-चूडामणि-बस्ती की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसके पीठ के चारों ओर उत्कीर्ण मूर्तियों की एक पट्टी बनायी गयी है जिसके विविध दृश्य कदाचित् जैन साहित्य से लिये गये हैं।

विशेष शैली में निर्मित मनोहर निषीधिकाओं का और एक समूह, साधुओं की स्मृति में, मूडबिद्री के समीप स्थित है (चित्र २५१)। 'उनमें आकार और भव्यता का बड़ा अंतर है; किसी के तीन तल हैं, किसी के पाँच तो किसी के सात। किन्तु ये तल द्रविड़-मंदिरों के तलों के समान नहीं हैं, अर्थात् यहाँ उनकी भाँति कूटाच्छन्न गर्भगृहों और स्तूपाकार छतों की संयोजना नहीं है। एक तल से दूसरा तल ढलवी छत द्वारा विभक्त होता है, जैसा कि काठमाण्डू के पगोडाओं में और चीन या तिब्बत में होता है। भारत में ये बहुत विलक्षण लगते हैं। पहली विलक्षणता तो यही है कि साधुओं के स्मारक इस स्थान के अतिरिक्त कहीं भी नहीं पाये जाते; दूसरी विलक्षणता यह है कि इन वास्तु-कृतियों के अंगोपांग भारत के किसी भी भाग में स्थित किसी भी वास्तु-कृतियों के अंगोपांगों से सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं।'[2]

मूडबिद्री से १५ किलोमीटर उत्तर में स्थित कार्कल में कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण जैन मंदिर हैं। यहाँ के उपग्राम हिरियंगडि में लगभग छह मंदिर हैं जिनमें एक तीर्थंकर-बस्ती है। इनमें से एक शांतिनाथ-बस्ती के विषय में एक अभिलेख में वृत्तांत है कि इसे बहुत-से व्यक्तियों ने दान किया, जिनमें कुछ कुलीन महिलाएँ भी थीं। यह अभिलेख होयसल बल्लाल-तृतीय के शासनकाल में १३३४ ई० में उत्कीर्ण हुआ था।[3] यहाँ की सबसे विशाल बस्ती के समक्ष स्थित मान-स्तंभ स्थापत्य-कला का एक उत्तम निदर्शन है। कार्कल में ही प्रसिद्ध चतुर्मुख-बस्ती (चित्र २५२ क) है; उसका निर्माण १५८६-८७ ई० में हुआ था। इसके चारों द्वारों से श्याम पाषाण द्वारा निर्मित तीर्थंकर अरह, मल्लि और मुनि-सुव्रत की उन मूर्तियों के समक्ष पहुँचा जा सकता है जो आकार और प्रकार में एक-समान हैं। इस मंदिर के स्तंभों की कला साधारण है और ढाल-सहित छदिसट लंबे शिला-फलकों से बने हैं जो एक-के-ऊपर-एक संयोजित हैं और जिनके ऊपर एक दोहरी पट्टी की संयोजना है। उल्लेखनीय है कि इस

1 फर्ग्यूसन (जे) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, 2, 1910, पृ 76-77, वुडकट्स 303-305; /ब्राउन, वही, पृ 156, चित्र 102 क, रेखाचित्र 1.

2 फर्ग्यूसन, वही, पृ 79-80.

3 रमेश (के वी). हिस्ट्री ऑफ़ साउथ कनारा 970. धारवाड़, पृ 298.



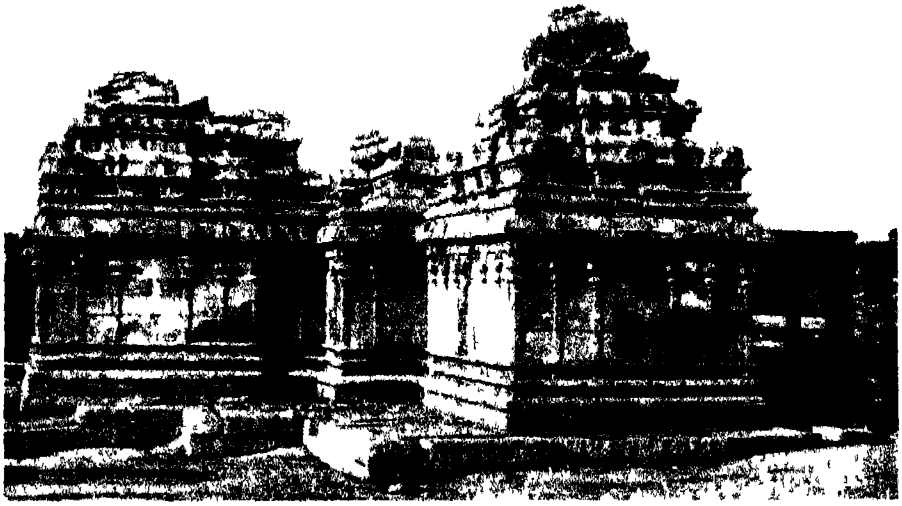
हम्पी — गंगिट्टि-मंदिर और उसके सामने स्तंभ

चित्र 247

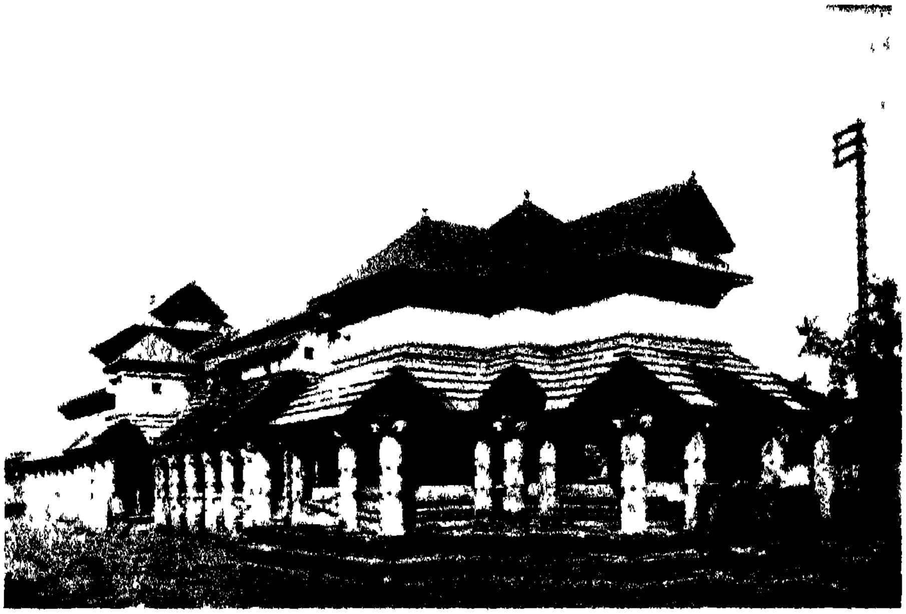


हम्पी — हेमकूट पर्वत पर मंदिर-समूह

चित्र 248



(क) हम्पी — हेमकूट पर्वत पर त्रिकूटाचल मंदिर

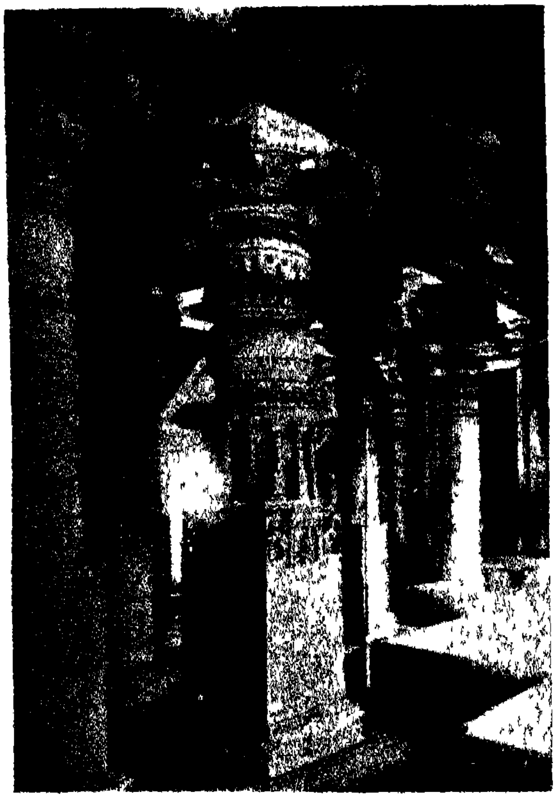


(ख) मूडबिद्री — सहस्र स्तंभों वाला मंदिर

चित्र 249



(क) मूडबिद्री — भैरादेवी मण्डप के स्तंभ



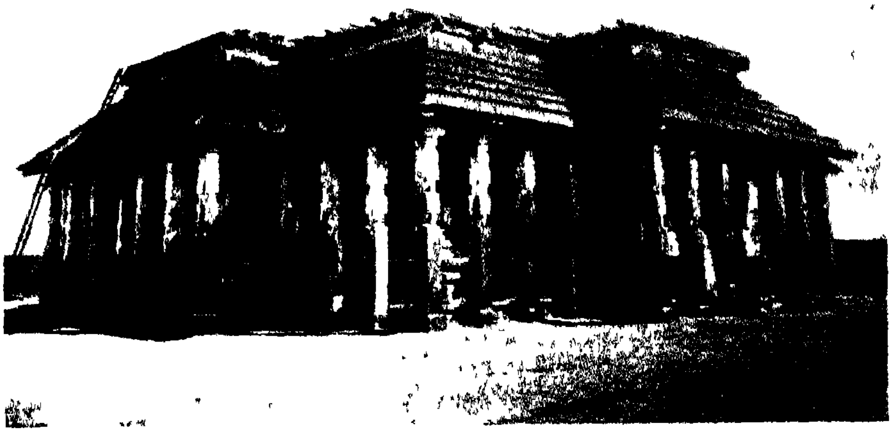
(ख) मूडबिद्री — भैरादेवी मण्डप के स्तभ

चित्र 250

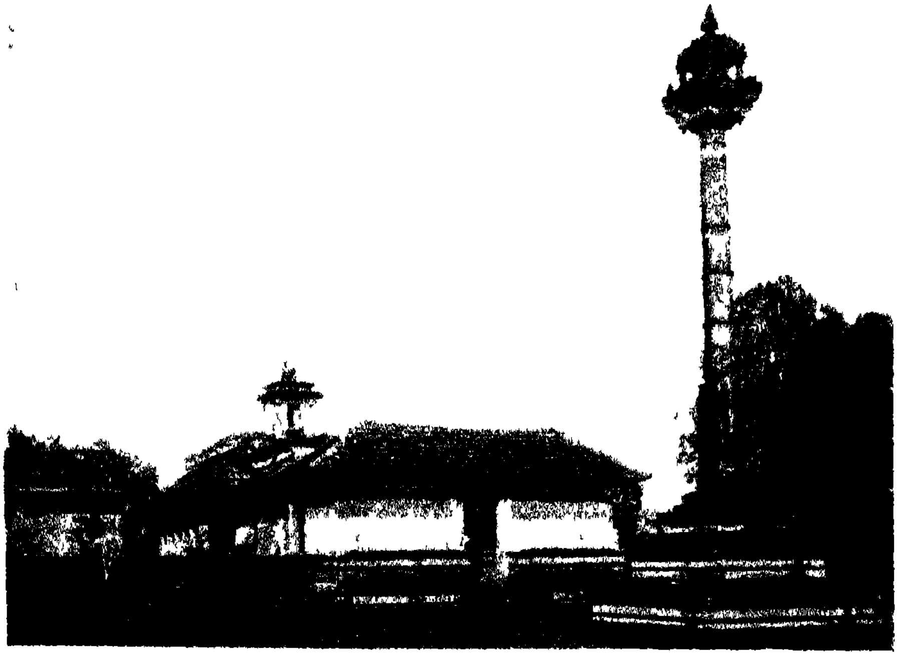


मूडबिद्री — मुनियों के समाधि-स्मारक

चित्र 251

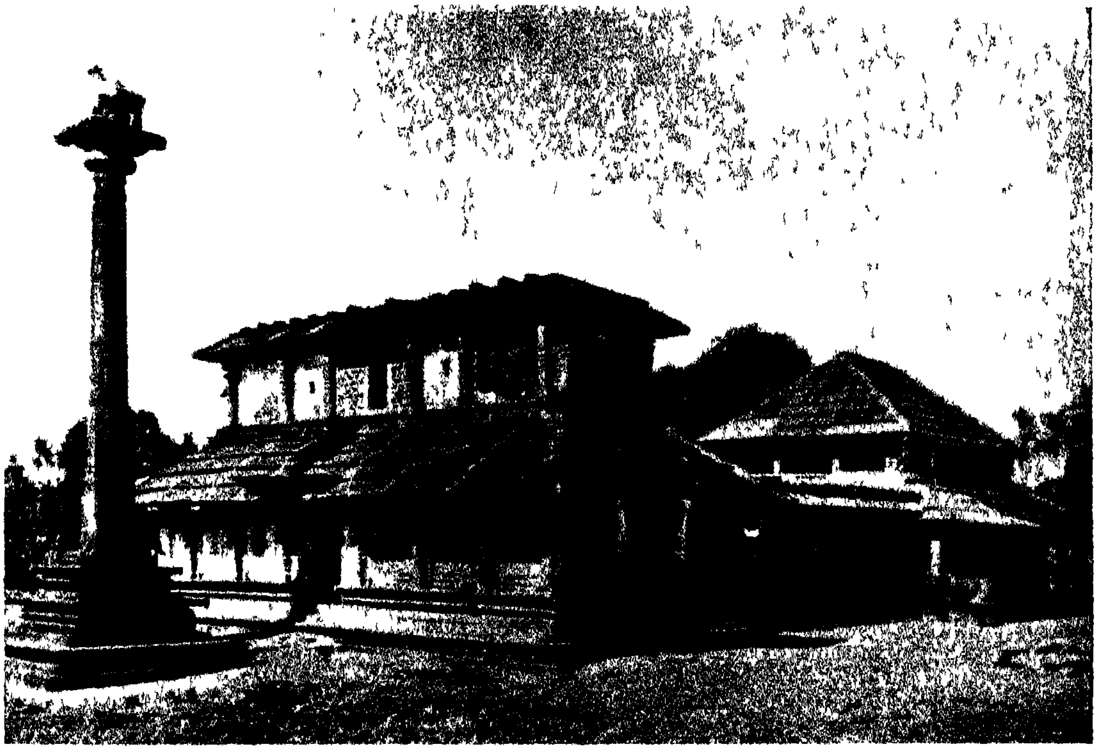


(क) कार्कल – चौमुख-बस्ती



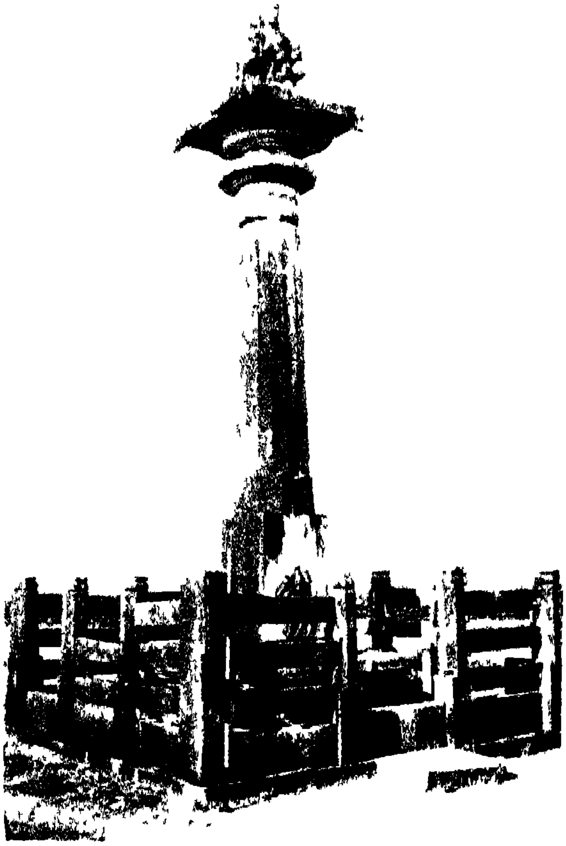
(ख) वेणूर — शान्तीश्वर-बस्ती और उसके सामने स्तंभ

चित्र 252



भडकल — चन्द्रनाथेश्वर-बस्ती और उसके सामने स्तंभ

चित्र 253

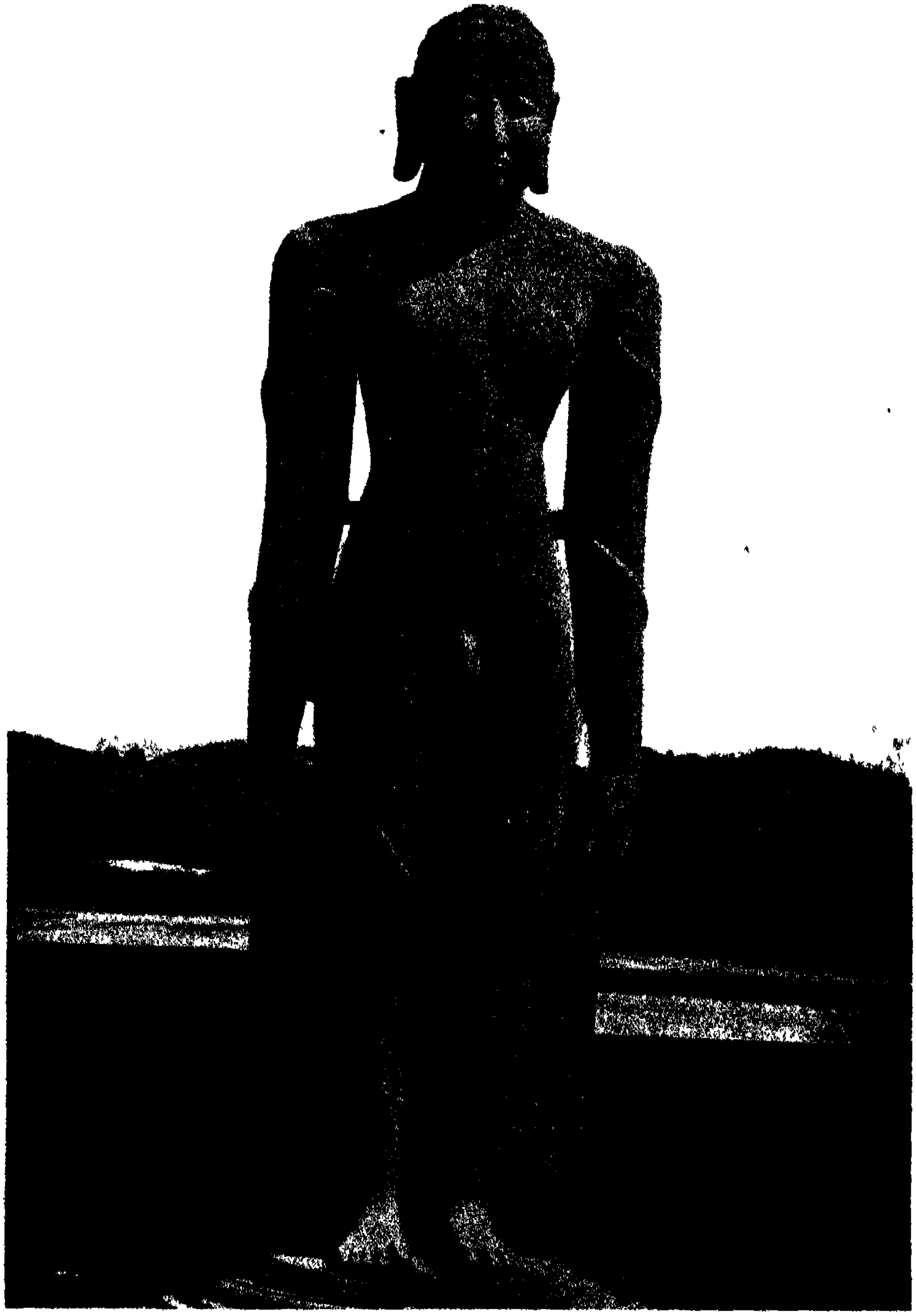


(क) कार्कल — ब्रह्मदेव-स्तंभ



(ख) मूडबिद्री — एक स्तंभ का शीर्षभाग

चित्र 254

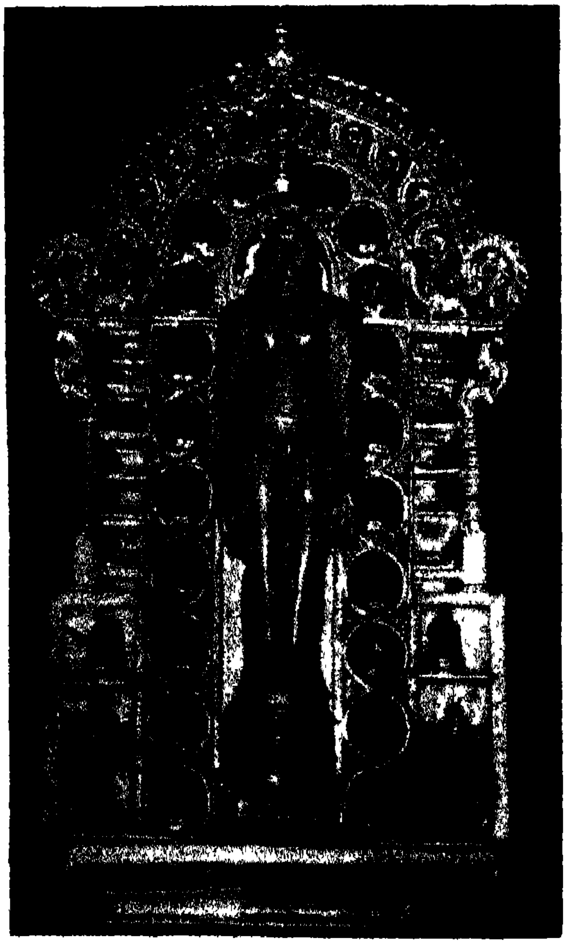


कार्कल — गोम्मटेश्वर-मूर्ति

चित्र 255



(क) वारंगल किला - तीर्थंकर पार्श्वनाथ

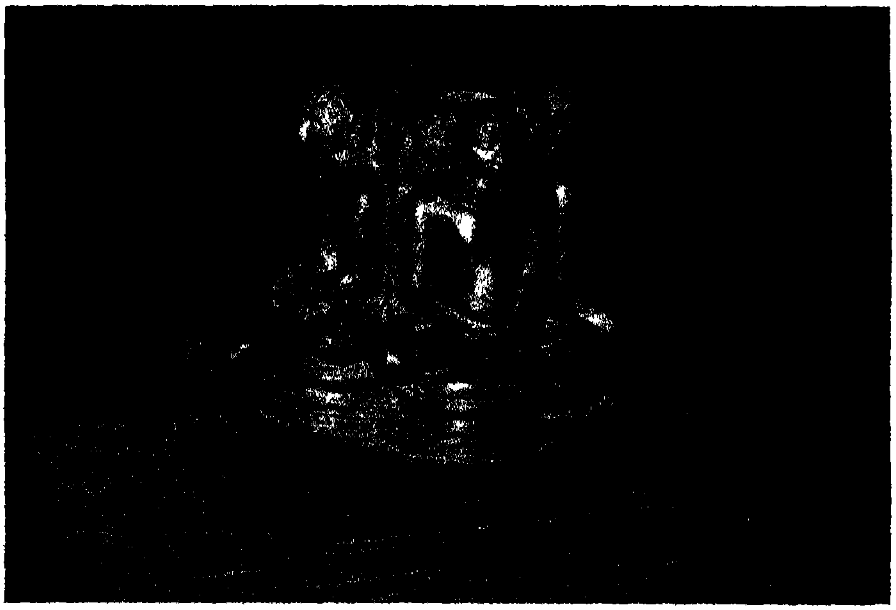


(ख) मूडबिद्री -- तीर्थंकर की धातु-मूर्ति

चित्र 256

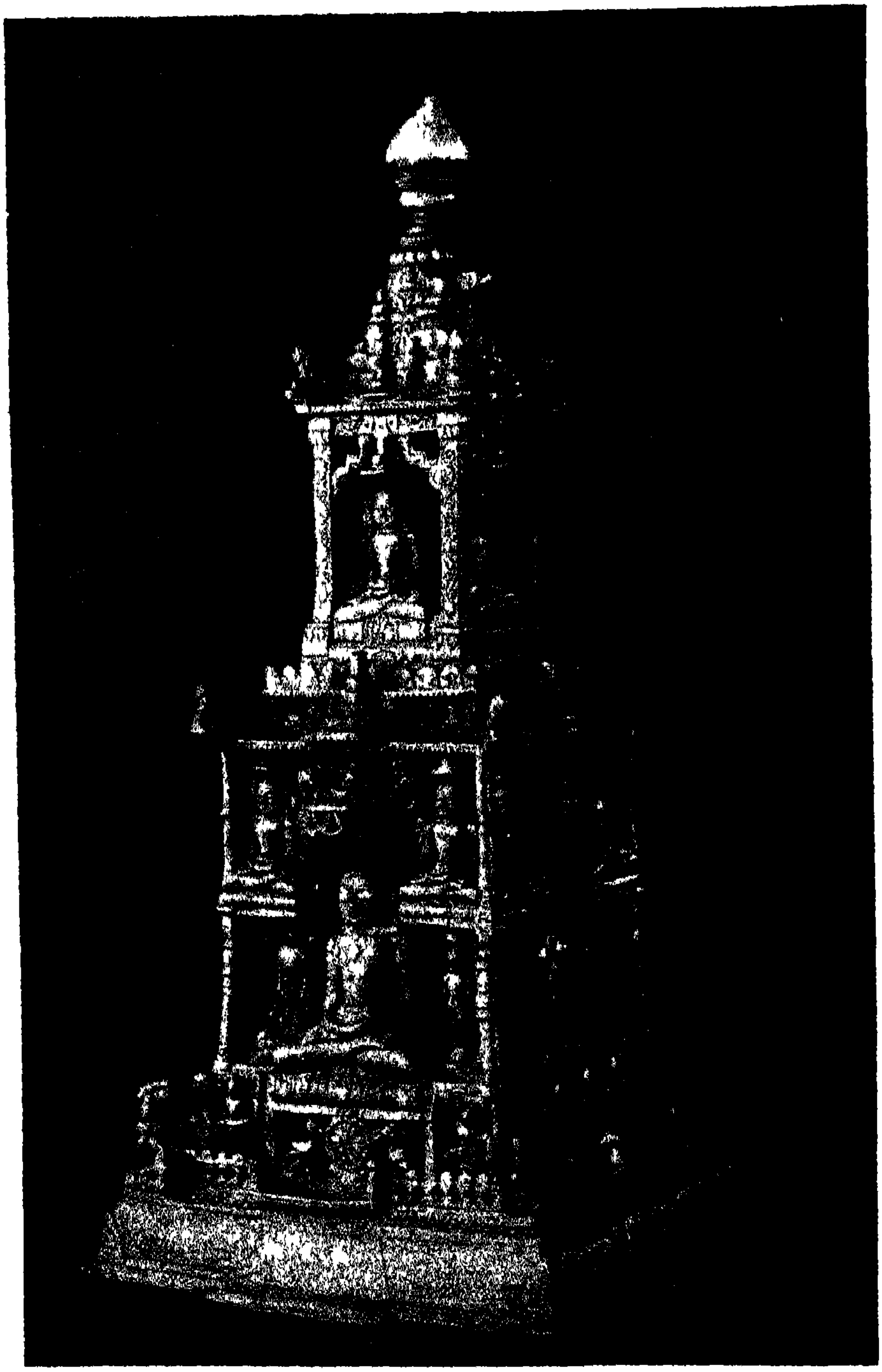


(क) मूडबिद्री — तीर्थंकर की धातु-मूर्ति



(ख) मूडबिद्री — धातु-निर्मित चतुर्मुख-मूर्ति

चित्र 257



मूडबिद्री — धातु-निर्मित मेरु

चित्र 258

मंदिर में शिखर-भाग नहीं है अतः इसे मण्ड-प्रासाद कहा जा सकता है जो सर्वतोभद्र-वर्ग में आता है। इस वर्ग के मंदिर कम ही हैं।[1]

मूडबिद्री से २० किलोमीटर दूर, वेणूर में कुछ जैन मंदिर हैं जिनमें से शांतीश्वर-बस्ती (चित्र २५२ ख) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें १४८९-९० ई० का जो अभिलेख है वह यहाँ सबसे प्राचीन है। आमूलचूल पाषाण से निर्मित इस मंदिर के द्वितीय तल पर भी एक गर्भालय है जिसमें एक तीर्थंकर-मूर्ति है और जिसकी छत कुछ-कुछ स्तूपाकार है। निर्माण की यह प्राचीन पद्धति विशेषतः कर्नाटक क्षेत्र में प्रचलित रही है, इसका एक आरंभिक उदाहरण ऐहोल का लाढ-खाँ-का-मंदिर है।[2] शांतीश्वर-बस्ती के सामने एक सुंदर शिल्पांकन-युक्त मान-स्तंभ है।

दक्षिण कनारा जिले के और भी अनेक स्थानों में इस काल के जैन मंदिर थे पर अब उनके विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है। यही तथ्य उत्तर कनारा जिले के विषय में भी है, यद्यपि यहाँ अभिलेखों की संख्या इतनी अधिक है कि उनसे विजयनगर राज्य में जैन धर्म की अत्यंत लोकप्रियता की व्यापक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।[3] भटकल के जैन मंदिर का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जत्तप्पा नायकन् चंद्रनाथेश्वर-बस्ती (चित्र २५३) के नाम से प्रसिद्ध यह मंदिर भटकल शहर के उत्तर में स्थित है। कज़िन्स के द्वारा दिये गये विवरण के अनुसार उसमें मुख-मण्डप से जुड़े हुए भवनों की दो पूर्व-पश्चिम लंबी पूर्वाभिमुख पंक्तियाँ हैं। पश्चिमी पंक्ति द्वितल है, मुख्य मण्डप प्रथम तल में है जो छह मध्यवर्ती स्तंभों पर आधारित है और जिसके चारों ओर जाली-सहित भित्तियाँ हैं। गर्भगृह और उसके दो समानांतर कक्ष लंबाई में इस मंदिर की पूरी चौड़ाई को काटते हुए संयोजित है। अंतर्भाग अत्यधिक साधारण है। पूर्वी पंक्ति इस मंदिर के अलिंद का काम करती है और इसकी विन्यास-रेखा दक्षिण भारतीय गोपुरम्-शैली के समकालीन मंदिरों की विन्यास-रेखा से बहुत-कुछ मिलती है। कज़िन्स ने यह भी लिखा है कि इन मंदिरों के स्तंभ किसी निश्चित आकार के नहीं हैं, अनुपात में वे हीनाधिक हैं, स्थूलाकार और अमनोज्ञ हैं।[4]

भटकल से पूर्वोत्तर-पूर्व में १८ किलोमीटर दूर स्थित हडुवल्ली में (संगीतपुर की भाँति) चंद्रनाथ स्वामी का एक साधारण मंदिर है। इसकी समतल छत शिलाओं से निर्मित है, और स्थापत्य-कला की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है। उत्तर कनारा के एक अन्य स्थान बिलोगी में सोलहवीं शती में निर्मित विशाल पार्श्वनाथ-बस्ती है, उसमें उक्त शती के चौथे चरण में किसी समय संवर्धन-कार्य हुआ था। यह मंदिर द्रविड-शैली का है। गेरसोप्पा के खण्डहर-मंदिरों में चतुर्मुख-बस्ती सबसे बड़ी है। 'इस मंदिर

1 श्रीनिवासन्, वही, पृ 79, रेखाचित्र 1.

2 वही, पृ 78.

3 एनुअल रिपोर्ट ऑन कन्नड रिसर्च इन बॉम्बे प्राविंस फॉर 1939-40, पृ 58 तथा परवर्ती.

4 कज़िन्स, वही, पृ 135-36.

की बिन्यास-रेखा स्वस्तिक के आकार की है, और इसमें चारों ओर एक-एक मुख-मण्डप है। इस मंदिर के मध्यवर्ती गर्भगृह में चारों ओर द्वार हैं और उसमें एक चौमुख या चतुर्मुख स्थापित है। इसमें शिखर की संयोजना या तो थी ही नहीं या अब वह नष्ट हो चुका है। मंदिर के चारों ओर बरामदा था जिसके अब केवल स्तंभ ही बच रहे हैं और छत के शिला-फलक निकाल लिये गये हैं।'[1] यह मंदिर लगभग सोलहवीं शती का हो सकता है और कार्कल की उपरि-वर्णित चतुर्मुख-बस्ती से इसकी तुलना की जा सकती है जो सर्वतोभद्र-वर्ग का मण्ड-प्रासाद माना जा सकता है।

महाराष्ट्र के स्मारक

महाराष्ट्र में भी जैन धर्म के अनुयायियों ने कला और स्थापत्य के महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किये। यहाँ के जैन मंदिर स्वभावतः स्थानीय शैली में निर्मित हैं जो एक प्रकार की उत्तर भारतीय शिखर-शैली ही है जो बाद में हेमाडपंथी-शैली के नाम से लोकप्रिय हुई, और इसकी शैलीगत विशेषताओं को जैन मंदिरों की स्थापत्य संबंधी विशेषताओं में स्थान दिया गया। बारहवीं शती के भी इस शैली के कुछ मंदिर नासिक जिले के अंजनेरी में विद्यमान हैं।[2] इस क्षेत्र में इस काल के निर्मित दो गुफा-मंदिर महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों नासिक जिले के त्रिंगलवाडी और चदोर नामक स्थानों पर हैं। पहले में १३४४ ई० का एक अभिलेख है और यह एक अत्यत सुंदर गुफा-मंदिर है। इसमें गर्भगृह, अंतराल और मण्डप हैं। 'मण्डप के सामने एक नीची परिधिका है जिसके दोनों छोरों पर एक-एक स्तंभ है, जिनसे लगा हुआ एक-एक द्वार है जिनपर बरामदे का बाहरी छदितट आधारित है'।[3] इसमें संकीर्ण गवाक्ष, छत के अलंकरण, सुंदर शिल्पाकंनों से युक्त स्तंभ, शिल्पांकित सम्मुख-द्वार और घटकों की पट्टियाँ उल्लेखनीय हैं। गर्भगृह में एक खण्डित तीर्थंकर-मूर्ति है। चंदोर की गुफा उसके बाद की प्रतीत होती है। इसमें एक लघु कक्ष है जो साधारण चतुष्कोणीय स्तंभों पर आधारित है। इसमें चंद्रप्रभ की एक मूर्ति है।[4]

बरार में बासिम से उत्तर-पश्चिम में १६ किलोमीटर दूर, सिरपुर में स्थित अंतरिक्ष-पार्श्वनाथ नामक मंदिर उल्लेखनीय है। इसमें संवत् १३३४ (यदि यह विक्रम संवत् है तो १२७८ ई०) का एक घिसा हुआ अभिलेख है जिसमें तीर्थंकर का उपर्युक्त नाम उल्लिखित है। इसकी विन्यास-रेखा तारकाकार है और इसकी भित्तियों पर पत्रावली-युक्त पट्टियों का अलंकरण है। ईंट और चूने से बना इस मंदिर का शिखर बाद में निर्मित प्रतीत होता है। मण्डप के प्रवेश-द्वारों पर आकर्षक शिल्पांकन हैं और

1 वही, पृ 126.

2 कज़िन्स, मेडीएवल टेम्पल्स ऑफ द डेकन, आर्क्यॉलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंपीरियल सीरिज, 47, 1931. कलकत्ता. पृ 43 और परवर्ती.

3 वही, पृ 48.

4 वही, पृ 49.

उनके नीचे दोनों ओर मूर्तियों की संयोजना है जिनमें से कुछ तीर्थंकरों की भी हैं। प्रवेश-द्वार के सरदल पर तीर्थंकर की एक आसीन मूर्ति है।[1]

स्तंभ

स्तंभ, मान-स्तंभ और ब्रह्मदेव-स्तंभ स्थापत्य के अंगों की द्वितीय श्रेणी में आते हैं। स्तंभ मंदिर का एक संपूर्ण अंग होता है किन्तु उसकी अपनी एक वैयक्तिकता भी है और यही उसका आकर्षण है। कनारा के स्तंभों के विषय में स्मिथ ने लिखा है : 'संपूर्ण भारतीय कला में कनारा के इन स्तंभों के समकक्ष कदाचित् ही ऐसा कुछ हो जो इतना रस-विभोर करता हो'।[2] इतना ही आनंद-विभोर होकर फार्ग्यूसन ने लिखा है : 'अनेक मंदिरों के अंगों के रूप में निर्मित ये स्तंभ कनारा की जैन शैली के था पत्य में भव्यतम न भी हों पर सर्वाधिक आकर्षक और सरस रचनाएँ अवश्य हैं'।[3] मान-स्तंभ एक उत्तुंग स्तंभ होता है, उसके शीर्ष पर एक लघु मण्डप होता है, जिसमें स्थापित एक चौमुख पर चारों ओर एक-एक तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण होती है। ब्रह्मदेव-स्तंभों के उक्त मण्डप-सदृश शीर्ष-भाग पर ब्रह्मदेव की मूर्ति होती है। प्रतीत होता है कि जैन मंदिरों में मान-स्तंभ की संयोजना आवश्यक अंग के रूप में होती रही। ब्रह्मदेव-स्तंभों का निर्माण कार्कल (चित्र २५४ क) और वेणूर में गोम्मट-मूर्तियों के सम्मुख हुआ। गुरुवायनकेरी में[4] एक सुंदर मान-स्तंभ विद्यमान है। मूडबिद्री में साढ़े सोलह मीटर ऊँचा एक ऐसा स्तंभ है (चित्र २५४ ख) जो इन दोनों वर्गों में नहीं आता। इसके विषय में स्मिथ ने वॉलहाउस का उद्धरण ठीक ही दिया है : 'संपूर्ण शीर्ष और मण्डप ऐसी मनोज्ञ और अलंकृत पाषाण-कृतियाँ हैं जो आलोक-चकित करती हैं; इन सुंदर स्तंभों की राजोचित गरिमा अनन्य-अपराजेय है, इनकी आनुपातिक संयोजना और आसपास के दृश्यों का आलेखन सभी दृष्टियों से परिपूर्ण है और इनके अलंकरणों की प्रचुरता सदा निर्दोष मानी जायेगी'[5]। निस्संदेह, जैनों ने उत्तर-मध्यकाल में दक्षिणापथ में इन अति सुंदर स्तंभों का निर्माण करके भारतीय स्थापत्य के समृद्ध दिव्य भण्डार में उल्लेखनीय संवर्धन किया है।

गोम्मट-मूर्तियाँ

प्रथम तीर्थंकर के सुपुत्र मुनि गोम्मट की कार्कल और वेणूर में स्थापित विशालकार मूर्तियाँ भी उदाहरण के योग्य मनोरम कलाकृतियाँ हैं। श्रवणबेलगोला की मूर्ति की भाँति ये मूर्तियाँ भी

1 वही, पृ 67-68, यहाँ वर्ष 1334 का शक-संवत के रूप में उल्लेख है.

2 स्मिथ (वी ए) हिस्ट्री ऑफ़ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन. 1911. ऑक्सफोर्ड. पृ 22.

3 फर्ग्यूसन, वही, पृ 80-81.

4 वही, पृ 81.

5 स्मिथ, वही, पृ 22, रेखाचित्र 6.

पहाड़ियों की इतनी ऊँचाई पर स्थापित हैं कि उनके दर्शन बड़ी दूर से हो सकते हैं। कार्कल की (चित्र २५५) लगभग १२½ मीटर ऊँची मूर्ति नाइस नामक कठोर श्याम पाषाण से बनी है। इसका भार अनुमानतः ८० टन है और यह करतलों तक ऊँची पीछे खड़ी एक शिला का आधार लिये हुए है। इसका मण्डलाकार पादपीठ सहस्रदल-कमल के पुष्पांकन में समाविष्ट है। यह विशाल मूर्ति पाषाण-निर्मित अधिष्ठान पर स्थित है जिसके चारों ओर पाषाण से ही निर्मित एक वेदिका और लैटराइट नामक मिट्टी से बने दो प्राकार हैं। अंगूर की बेलें (द्राक्षा-वल्लरी) उसके चरणों और भुजाओं का आलिंगन कर रही हैं। पीछे की शिला पर मूर्ति के चरणों के पास दोनों ओर अनेक सर्पों का अंकन हुआ है। उसी शिला के पार्श्वभागों पर उत्कीर्ण दो अभिलेखों में वृत्तांत है कि बाहुबली अर्थात् गोम्मट-जिनपति की यह मूर्ति १४३१-३२ ई० में भैरव के पुत्र वीर पाण्ड्य नामक सेनापति ने स्थापित की थी। इसी सेनापति का एक अभिलेख बाह्य प्रवेश-द्वार के सम्मुख स्थित एक सुरुचिपूर्ण स्तंभ पर भी उत्कीर्ण है। पाषाण-निर्मित वेदिका से आवेष्टित इस स्तंभ के शीर्ष-भाग पर ब्रह्मदेव की एक आसीन मूर्ति स्थापित है।[1]

वेणूर की लगभग ११ मीटर ऊँची मूर्ति कार्कल की मूर्ति के ही समान है, केवल आलेखनों में कुछ साधारण अंतर है।[2] यहाँ के अभिलेखों के अनुसार इसे एनूरु में चामुण्ड परिवार के तिम्मराज ने १६०३-१६०४ ई० में स्थापित कराया था। 'किन्तु कपोल-कूपक और गंभीर तथा प्रशांत स्मिति' इस मूर्ति की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। कूपक की इतनी गहराई अच्छे प्रभाव में बाधक मानी जाती है।[3]

मैसूर से लगभग २५ किलोमीटर दूर मैसूर-हुंसूर मार्ग की दाहिनी ओर स्थित गोम्मटगिरि नामक पहाड़ी पर भी गोम्मट की एक सुंदर मूर्ति है। इस मूर्ति की संयोजना प्रकृतिरम्य है। अन्य मूर्तियों की भाँति इस खड्गासन मूर्ति के भी चरणों, जंघाओं, भुजाओं और स्कंधों का आलिंगन लताएँ कर रही हैं। मस्तक पर घुंघराले केशों का अंकन रमणीय है। मुख-मण्डल पर ईषत् स्मिति है और नेत्र प्रशांत हैं। करतल दोनों ओर उत्कीर्ण सर्पों की फणावली को छू रहे हैं। किन्तु यहाँ सर्पों को चीटियों की बांबियों से निकलता हुआ नहीं दिखाया गया है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति चौदहवीं शती की मानी जा सकती है।

अन्य मूर्तियाँ

दक्षिणापथ के विभिन्न भागों में इस काल की खड्गासन या पद्मासन में निर्मित असंख्य तीर्थंकर-मूर्तियों का परिज्ञान होता है। सामान्यतः ये मूर्तियाँ उसी पाषाण की होती हैं जो उन स्थानों

1 एनुअल रिपोर्ट ऑफ साउथ इण्डियन एपिग्राफ़ी फ़ॉर 1901, पृ 4.

2 वही, पृ 4-5.

3 स्मिथ, वही, पृ 268.

पर उपलब्ध होता है। ये कांस्य तथा अन्य द्रव्यों की भी हैं। शिला-खण्डों पर भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। आसीन मूर्तियाँ या तो पद्मासन में हैं या अर्ध-पर्यंकासन में और खड़ी मूर्तियाँ कायोत्सर्ग-मुद्रा में। तीर्थंकर-मूर्तियों के अतिरिक्त शासन-यक्षों और शासन-यक्षियों की मूर्तियाँ भी हैं जिनके अंकन में विभिन्न शैलियों और युगों के लक्षण विद्यमान हैं। वस्तुस्थिति यह है कि शैलीगत विशेषता तीर्थंकरों की भी मूर्तियों में देखी जा सकती है।

दक्षिणापथ के अनेक स्थानों की इस काल में निर्मित जैन मूर्तियों के विषय में लिखा तो गया है पर उनके चित्र बहुत कम प्रकाशित हुए हैं। उदाहरण के लिए, गुलबर्गा जिले में स्थित राष्ट्रकूटों की राजधानी मालखेड में, जो बारहवीं या तेरहवीं शती की एक जैन बस्ती है, संगृहीत उत्तर-कालीन जैन मूर्तियाँ हैं। गुलबर्गा जिले के ही सेडम की अनेक जैन बस्तियों में उनकी समकालीन और वैसी ही जैन मूर्तियाँ होने की सूचना प्राप्त है। हम्पी में भी कुछ जैन मूर्तियाँ हैं। इसी तरह श्रवणबेलगोला, मूडबिद्री आदि की मूर्तियाँ भी हैं। वेणूर की एक जैन धर्मशाला में उच्चकोटि की अनेक जैन धातु-मूर्तियाँ संगृहीत हैं। एपिग्राफिका कर्नाटिका और १९५६ ई० तक की मैसूर आर्क्यॉलॉजिकल रिपोर्ट्स में प्रकाशित अनेक अभिलेखों में वृत्तांत है कि विभिन्न स्थानों की जैन बस्तियों में भक्तों ने जैन मूर्तियाँ स्थापित करायीं।

इस प्रकार की अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ हम्पी के ठीक सामने तुंगभद्रा के उत्तरी तट पर स्थित अणेगोण्डी में एक चट्टान पर उत्कीर्ण हैं। यद्यपि उन्हें 'अमनोज्ञ'[1] कहा गया है पर वे लगभग चौदहवीं शती की कला के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। खड़ी मूर्तियाँ कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं, उनके मस्तक पर मुक्कुडे (तीन छत्र) की संयोजना है और उनका आनुपातिक शिल्पांकन सुंदर बन पड़ा है। एक समूह का शिल्पांकन दूसरे समूह के शिल्पांकन से स्पष्टतः भिन्न है, और ठीक बायें उत्कीर्ण एक मूर्ति तो कला का एक सुंदर निदर्शन बन पड़ी है।[2] उसकी मुख-मुद्रा से आंतरिक शांति की अभिव्यक्ति होती है, स्कंध सुपुष्ट हैं, भुजाएँ कुशलतापूर्वक अंकित की गयी हैं और कटि से नीचे का भाग बरबस आकृष्ट करता है। अनुचरों की मूर्तियाँ आसीन-मुद्रा में हैं और वे शरीर की सानुपातिक संयोजना तथा हाथों और मुख-मण्डल की प्रभावक मुद्रा से ध्यान आकृष्ट करती हैं।

पश्चिमी समुद्र-तट के क्षेत्रों की जो मूर्तियाँ परिचय में आयी हैं उनमें हडुवल्ली[3] (संगीतपुर) और भटकल की उल्लेखनीय हैं। हडुवल्ली की मूर्तियों में एक तीर्थंकर की धातु-मूर्ति है जिसपर चौदहवीं शती का अभिलेख है। यह मूर्ति तीर्थंकर ऋषभ की मानी जाती है क्योंकि उसके पादपीठ पर अंकित आकृतियों में एक गोमुख की भी है। यद्यपि इस पर जो सिंह अंकित है वह सामान्यतः

1 क्लाज़ ब्रुन, बुलेटिन ऑफ़ दि आर्क्यॉलॉजिकल सोसायटी ऑफ़ इण्डिया, 1, 1955. पृ 57.

2 वही, रेखाचित्र 15.

3 पंचमुखी (आर एस). एनुअल रिपोर्ट ऑन कन्नड़ रिसर्च इन बॉम्बे प्रॉविन्स फ़ॉर 1939-40, पृ 91 तथा परवर्ती, हडुवल्ली की धातु और पाषाण-मूर्तियों के संदर्भ में.

महावीर की मूर्ति पर होता है, किन्तु पादपीठ मूर्ति से अलग है अतः यह निश्चित नहीं कि वह उसी मूर्ति का है या नहीं। अभिलेख में तीर्थंकर के नाम का उल्लेख नहीं है। मूर्ति पर्यंकासन में है और उसके वक्षस्थल पर श्रीवत्स-लांछन है। मूर्ति के स्कंधों पर कदाचित् लहराती केशराशि दिखाई गयी है जो आदिनाथ की विशेषता है। मूर्ति के पीछे प्रभावली का सुंदर शिल्पांकन है, उसके ऊपर एक सुंदर मकर-तोरण है जिसके दोनों स्तंभों पर विविध अलंकरण हैं। प्रभावली पर इकहत्तर तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं जिनमें से एक ओर सुपार्श्व की और दूसरी ओर पार्श्वनाथ की खड़ी मूर्तियाँ और छत्रत्रय के नीचे चार तीर्थंकरों की आसीन मूर्तियाँ हैं। दोनों छोरों पर एक-एक वृक्ष का आलेखन है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, पादपीठ पर गोमुख यक्ष, चक्रेश्वरी (?), सिंह और गुच्छकों के अंकन हैं। प्रस्तुत कालावधि की आरंभिक कृति के रूप में यह मूर्ति कुछ ऐसी शैली में है जो पूर्वकाल से ही अपने प्रभाव और सुंदरता के लिए विख्यात रही है।

पार्श्वनाथ की यक्षी पद्मावती की एक धातु की और एक पाषाण की मूर्तियाँ बहुत बाद की कृतियाँ हैं और कला के ह्रास की सूचक हैं। फिर भी, इनके मूर्तिकार अपनी कृतियों में शांति और दिव्यता का भाव उभारने में असफल नही हुए, जो उनकी मुख-मुद्रा के अंकन से व्यक्त होते हैं। पद्मावती के हाथों की वस्तुएँ और वाहन वही प्रतीत होते हैं जो तिरुपरुत्तिक्कुण्रम् की पद्मावती की खड़ी कांस्य-मूर्ति में है।[1] पद्मावती की पाषाण-मूर्ति पर सर्प की पंच-फणावली है और वाहन के रूप में हंस है। उसके ऊपर के हाथ में अंकुश और पाश तथा नीचे के हाथों में कमल और फल है। यहाँ एक अनुपम धातु-कृति है—चौमुखी (नंदीश्वर)। यह पंद्रहवीं-सोलहवीं शती की हो सकती है। यह एक धातु-निर्मित लघु-मंदिर (मण्डप) है जिसके चारों ओर तोरण-द्वारों के अंकन हैं।

नंदीश्वर (?) (कदाचित् सहस्रबिंब) का एक सुंदर शिल्पांकन लक्ष्मेश्वर की शंख-बस्ती में है जिसपर एक हजार चौदह लघु और एक पूर्णाकार तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण हैं। पार्श्वनाथ की एक पाषाण-मूर्ति तेरहवीं या चौदहवीं शती का एक सुंदर उदाहरण है।[2]

आंध्र प्रदेश के विभिन्न स्थानों में तीर्थंकरों की अलग-अलग मूर्तियाँ अधिकांशतः पाषाण द्वारा निर्मित हुईं, उनमें से बहुत-सी १३०० ई० से पूर्व की मानी गयी हैं।[3] तथापि, कजुलुर की तीर्थंकर की एक आसीन मूर्ति विजयनगर काल की मूर्तिकला का एक सुंदर उदाहरण मानी जा सकती है। विस्तृत वक्षस्थल, उन्नत स्कधों और सुगठित भुजाओं से तीर्थंकर के बल और वीर्य की सुंदर अभिव्यक्ति होती है। शरीर का ऊर्ध्व और निम्न भाग भी शिल्पांकन की दृष्टि से निर्दोष बन पड़ा है। पुडूर से प्राप्त वर्धमान और पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ भी उसी काल की मानी जा सकती हैं, क्योंकि शैली की दृष्टि से

---

1 रामचन्द्रन (टी एन) तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् एण्ड इट्स टेम्पल्स, बुलेटिन ऑफ द मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियम, न्यू सीरिज, जनरल सेक्शन, 1,3, 1934, मद्रास, चित्र 33,3.

2 पंचमुखी, वही, पृ 94, चित्र 9 (क एवं ख).

3 मूर्ति (गोपालकृष्ण) वही, इस अनुच्छेद में चर्चित सभी कृतियों के चित्र उस पुस्तक में प्रकाशित है.

वे कजुलुर की मूर्ति के समान हैं। वारंगल के किले से प्राप्त पार्श्वनाथ की खड़ी मूर्ति (चित्र २५६ क) चौदहवीं शती की प्रतीत होती है। इसकी शैली में काकतीय कला के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। इस मूर्ति-फलक पर मुख्य मूर्ति के पीछे तेईस तीर्थंकरों की लघु मूर्तियाँ, चमरधारी, सप्त-फणावली-सहित सर्प और ऊपर मुक्कुडे के सुंदर सानुपात अंकन हैं। उत्तरवर्ती कालों की कृतियों में निंद्रा की तीर्थंकर-मूर्ति, चिप्पगिरि की एक निषीधिका के पाषाण-खण्ड पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ, निजामाबाद जिले से प्राप्त एक चौबीसी मूर्ति-फलक और बैरमपल्ली से प्राप्त गोम्मट की एक मूर्ति उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। इनका निर्माण पंद्रहवीं शती में और उसके बाद हुआ।

दक्षिणापथ में जैनों द्वारा उत्तर-मध्यकाल में निर्मित मूर्तियों की यह संक्षिप्त रूपरेखा समाप्त करने से पूर्व यह उल्लेखनीय है कि श्रवणबेलगोला, मूडबिद्री (चित्र २५६ ख, २५७ क, ख और २५८), वेणूर आदि जिन स्थानों पर जैनों को कोई बाधा उपस्थित न की गयी वहाँ उन्होंने विपुल संख्या में मूर्तियों का निर्माण किया जिनमें अधिकांश धातु की हैं और पिछली कई शतियों की कृतियाँ हैं। कला के उत्तरकालीन उदाहरण श्रवणबेलगोला के जैन मंदिरों में विद्यमान हैं।[1]

पी० आर० श्रीनिवासन्

1 एपिग्राफिका कर्नाटिका, 2, 1923, पृ 29 तथा परवर्ती; विशेष रूप से चित्र 44 और 45.

भाग 7

चित्रांकन एवं काष्ठ-शिल्प

अध्याय 30

भित्ति-चित्र

भारत की चित्रकला के पीछे एक महान् परंपरा रही है, परंतु आज ऐसी कृति नहीं बच रही है जो जैन चित्रकला[1] के प्रारंभिक काल पर प्रकाश डाल सके। जैन चित्रकला की आज उपलब्ध प्राचीनतम् कृतियाँ पल्लवकालीन हैं। पल्लववंशी शासक महेंद्रवर्मा-प्रथम एक महान् कलाकार, मूर्तिकार और चित्रकार, संगीतज्ञ, कवि, अभियंता और कला-प्रेमी था। वह मूलतः जैन धर्मानुयायी था परंतु सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में शैव संत तिरुनावुक्करशु अथवा अप्पर ने उसे शैव मत में दीक्षित कर दिया, जिन्हें श्रद्धा के साथ तिरुज्ञान-संबंधर अर्थात् बाल-वेदपाठी के नाम से भी जाना जाता है उन्होंने पाण्ड्य राजा निण्रशीर्नेडुमारन् को भी शैव मत में दीक्षित किया था। यह सुविदित है कि महेंद्रवर्मा ही वह पहला व्यक्ति था जिसने दक्षिण में शैलोत्कीर्ण स्थापत्य का आरंभ किया। वह 'चित्रकारपुली' अर्थात् 'चित्रकारों में सिंह' की उपाधि से विभूषित था। तिरुच्चिरापल्ली के निकटवर्ती शित्तन्नवासल में उसने पर्वत में एक जैन गुफा-मंदिर उत्कीर्ण कराया।[2] बहुत समय तक यह माना जाता रहा कि सातवीं शताब्दी में इस गुफा के समस्त भित्ति-चित्रों की रचना उसके निर्माण के साथ ही साथ हुई, परंतु हाल की खोजों में यहाँ पर भित्ति-चित्रों की दो सतहें पायी गयी हैं जिनमें से एक सतह प्रारंभिक है और दूसरी उसके बाद की। इसके साथ ही नौवीं शताब्दी का एक अभिलेख भी पाया गया है जो प्रारंभिक पाण्ड्य-काल में हुए विस्तार तथा पुनरुद्धार से संबंधित है। इस मंदिर की छत के भित्ति-चित्र का एक अंश ऐसा भी मिला है जिसपर पाण्ड्यकालीन पुनरुद्धार में भित्ति-चित्रों की दूसरी परत नहीं चढ़ायी गयी; अतः यह अंश मूलतः पल्लवकालीन है जिससे पल्लवों के प्रारंभिक चित्रकारों की अलंकरण-पद्धति-योजना के विषय में जानकारी प्राप्त होती है (चित्र २५६)।

इस गुफा-मंदिर के सम्मुख भाग के दक्षिण कोने पर एक अभिलेख प्राप्त है। यह अभिलेख तमिल भाषा में पद्य-बद्ध है जिसमें मदुरै के जैन आचार्य इलन् गौतमन् का उल्लेख है जिन्होंने अर्ध-मण्डप का पुनरुद्धार कराकर उसका अलंकरण कराया तथा मुख-मण्डप का निर्माण कराया।

1 जोगीमारा-सीताबेंगा गुफा के चित्रों के लिए, जिन्हें जैनों से संबंधित बताया जाता है, देखिए पृष्ठ 11—संपादक.

2 इस गुफा-मंदिर की पल्लवों द्वारा निर्मिति पर संदेह किया गया है। देखिए इसी भाग में अध्याय 19—संपादक.



रेखाचित्र 24. शित्तन्नवासल: चित्रित नर्तकी

इतिहास से यह सुविदित है कि जैन धर्मानुयायी पाण्ड्य राजा अरिकेसरी परांकुश ने भी, जो अंतिम दो पल्लव राजाओं का समकालीन था, सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बाल-संत तिरुज्ञान-संबंधर के नेतृत्व में पल्लव राजा महेंद्रवर्मा की भाँति शैव मत ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार इस गुफा-मंदिर में जैन परंपरा की निरंतरता देखी जा सकती है।

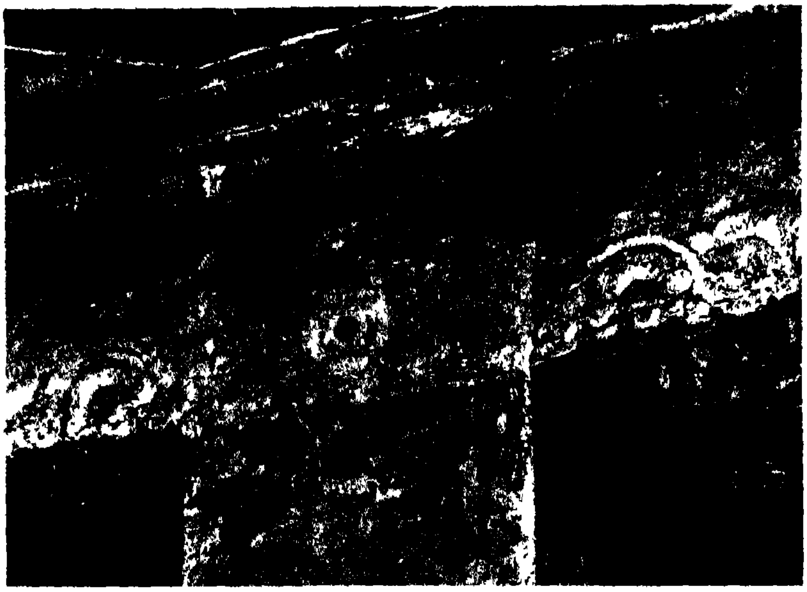
इस गुफा के भित्ति-चित्रों में एक जलाशय का चित्र है जिसमें मछली, पशु, पक्षी तथा पुष्प-चयन करनेवालों का सुंदर चित्रण किया गया है। यह चित्र संभवत: कमल-पुष्प-युक्त सरोवर का नहीं है वरन् सरोवर क्षेत्र का दृष्टांत-चित्रण है। यह क्षेत्र खातिका-भूमि नामक दूसरा भाग है जहाँ भव्य अर्थात् शांत-परिणामी जन, समवसरण में भगवान का धर्मोपदेश सुनने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान जाते समय स्नान कर आनंदित होते हैं।

पुष्प-चयन करती मानवाकृतियों को सुडौल अनुपात में चित्रित किया गया है, उनकी मुखाकृतियाँ अत्यंत आकर्षक हैं। उनके हाथों में जो खिले हुए कमल-पुष्प हैं उनका और कलियों तथा कमलनालों का चित्रण अद्भुत रूप से सजीव है। चित्र में अंकित बत्तखों, मछलियों तथा अन्य जल-जंतुओं तथा विशेष रूप से भैंसों का चित्रण तो चित्रकारों द्वारा इन जीव-जंतुओं एवं पशुओं के आकार, उनकी गति, जीवन और प्रवृत्तियों के गहन अध्ययन के सफल उदाहरण हैं। (रंगीन चित्र १-४)।



शित्तन्नवासल — गुफा की छत पर चित्रांकन

चित्र 259

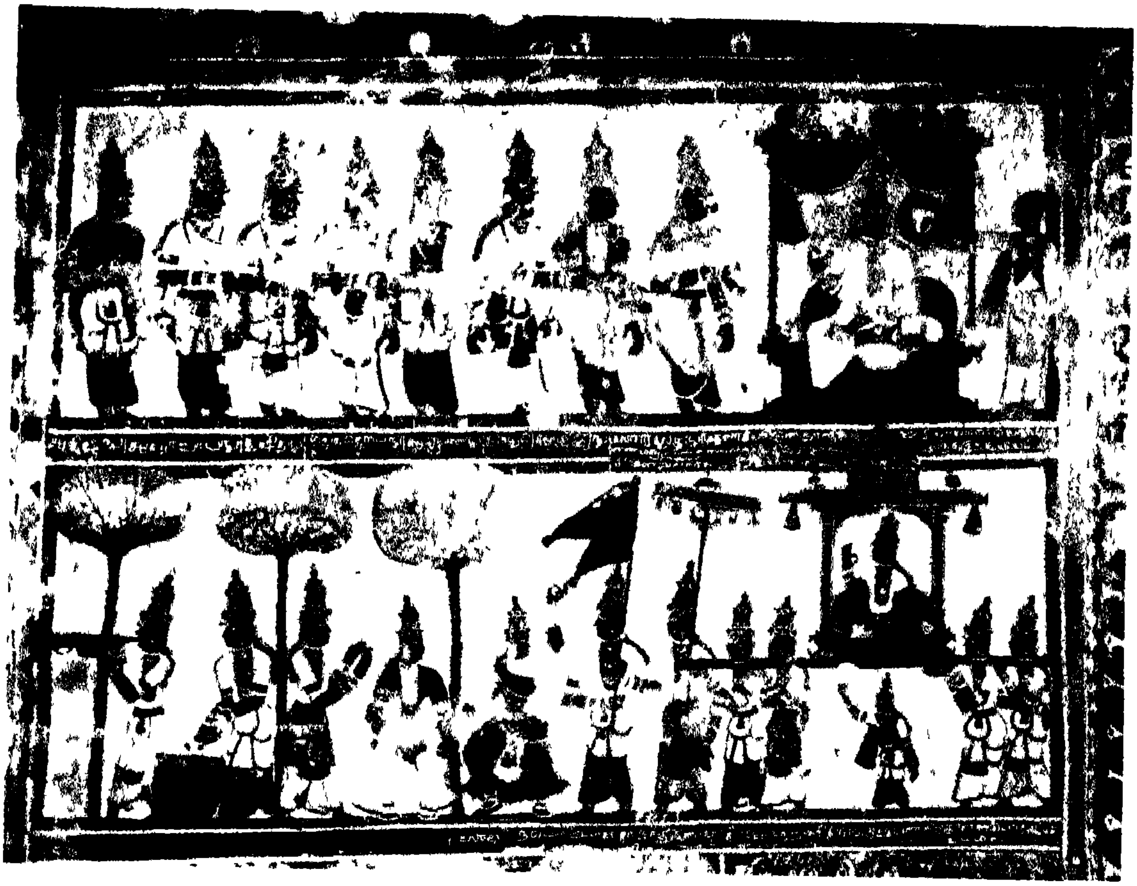


(क) शित्तन्नवासल — स्तभ और तोरण पर चित्रांकन



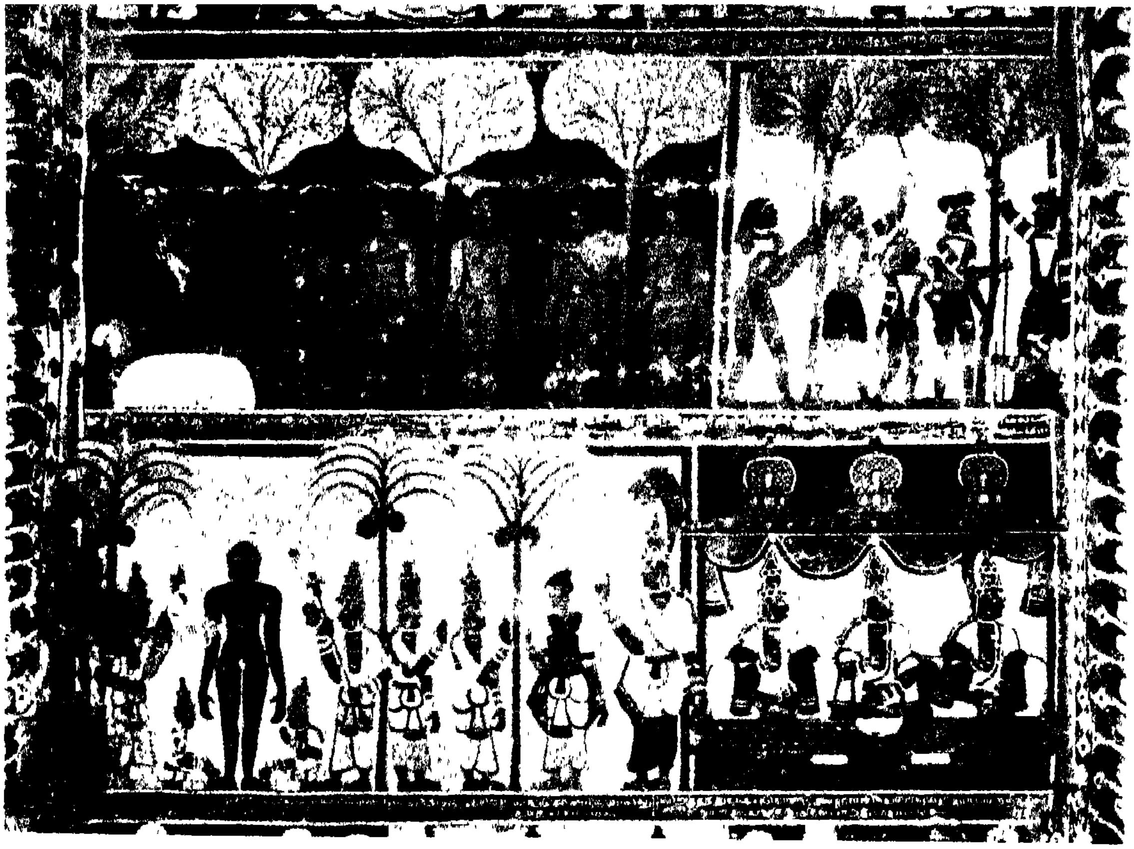
(ख) शित्तन्नवासल — स्तंभ पर चित्रांकित नर्तकी

चित्र 260



तिरुप्परुत्तिक्कुणरम् — महावीर-मंदिर मे चित्रांकन । ऊपर की पंक्ति में ऋषभनाथ और लौकिक देवता, नीचे की पंक्ति मे दीक्षा के लिए उद्यत ऋषभनाथ

चित्र 261



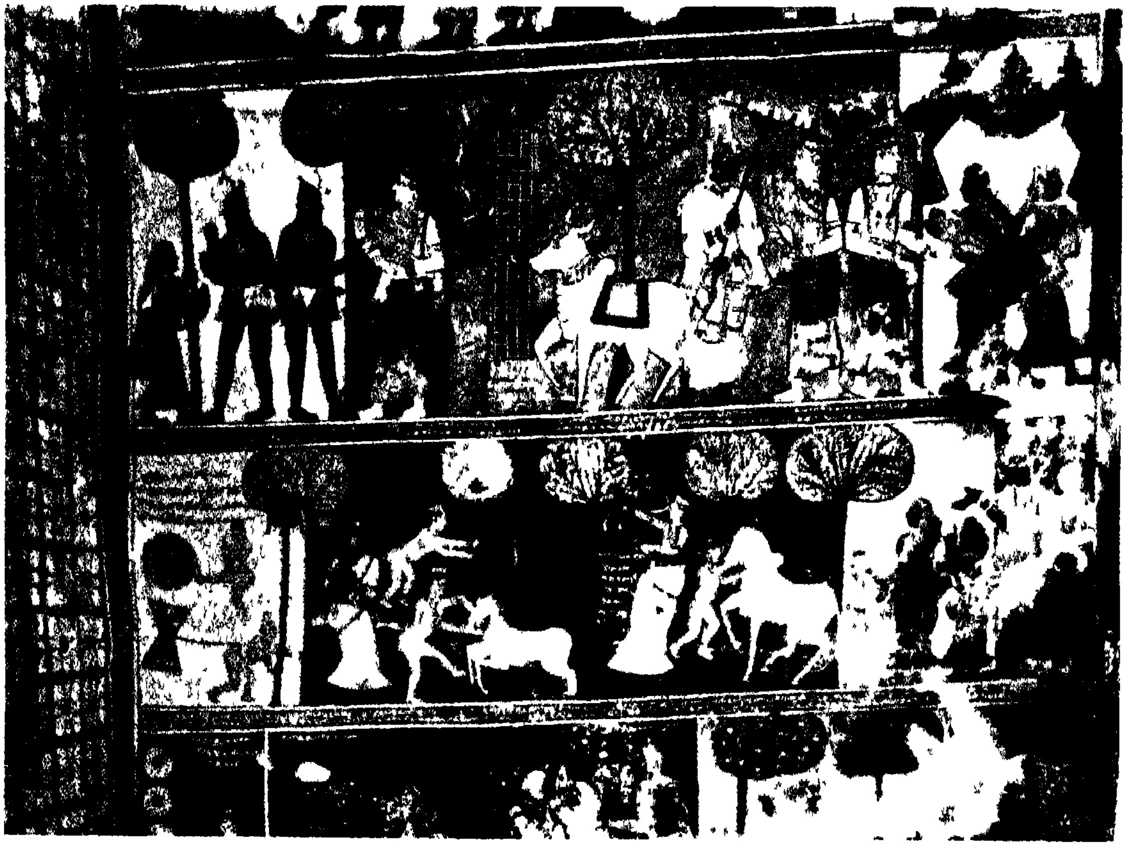
तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् — महावीर-मंदिर में चित्रांकन । ऊपर की पंक्ति में ऋषभदेव का वैराग्य और कच्छ-महाकच्छ का आख्यान; नीचे की पंक्ति मे नमि और विनमि का आख्यान

चित्र 262



तिरुप्परुत्तिक्कुणरम् — महावीर-मंदिर में चित्रांकन। ऊपर की पंक्ति में नमि और विनमि का अभिषेक-समारोह, नीचे की पंक्ति में ऋषभनाथ की प्रथम चर्या

चित्र 263



तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् - महावीर मंदिर मे चित्राकन । कृष्णलीला के दृश्य

चित्र 264



रेखाचित्र 25. शित्तन्नवासल : चित्रित राज-दंपति

अप्सरा (रंगीन चित्र ५)के चित्र में, जिसमें उसके बायें हाथ को दण्ड-मुद्रा में तथा दूसरे हाथ की अँगुलियों को पताका-मुद्रा में दर्शाया गया है, चेहरा जरा-सा तिरछा और आँखें उसी ओर को मुड़ी हुई हैं, जो नटराज की सामान्य भुजंग-त्रासितक (सर्प से भीत)-मुद्रा की भाँति प्रभावशाली है। हाथों की इस प्रकार की मुद्राओं का पुनरंकन प्रारंभिक चोलकालीन तिरुवरंगलम की धातु-निर्मित नृत्यरत शिव की चतुर्मुद्रा वाली प्रतिमा में भी किया गया है जिससे वह अत्यंत सुंदर बन पड़ी है। इसकी तुलना बाराबुदुर[1] से प्राप्त नर्त्तक की ऐसी ही आकृति से अवश्य की जानी चाहिए। इसमें हस्त-मुद्राओं का संयोजन ठीक वैसा ही है जैसा कि शित्तन्नवासल के भित्ति-चित्रों में किया गया है। नर्त्तक के दण्ड और पताका-मुद्रा में अंकित हाथों का संयोजन अत्यंत कमनीय और सुखद है।

एक स्तंभ पर का अन्य चित्र (चित्र २६० क), जिसमें बायें हाथ को हर्षोल्लास में फैले हुए-मतल्ली-मुद्रा में, दायें हाथ को पताका-मुद्रा में तथा समूची देह-यष्टि को कमनीयता के साथ झूमती हुई दर्शाया गया है (चित्र २६० ख; रेखाचित्र २४) बाल-कृष्ण अथवा बाल-सुब्रह्मण्य के आह्लादक नृत्य-मुद्रा के चित्र की याद दिलाता है। कमनीय देहयष्टि जो स्वयमेव अत्यंताकर्षक है, उसपर सायास केश-प्रसाधन जो पुष्पों और मोतियों से मण्डित है, तथा सादा परंतु प्रभावशाली आलंकारिक संयोजना

1 शिवराममूर्ति (कलम्बूर). ले स्तूप दु बाराबुदुर. 1961. पेरिस. चित्र 12, 1.

से युक्त इस रमणीय नारी-अंकन ने इस चित्र को पाण्ड्य चित्रकार की तूलिका से सृजित भव्य कृति बना दिया है।

यहाँ पर एक और उल्लेखनीय चित्र प्राप्त हुआ है जिसका आंशिक रूप ही शेष बचा है। इस चित्र में एक राजा और रानी का आकर्षक रूप-चित्रण है जो एक जैन साधु से वार्तालाप करते दर्शाये गये हैं। यह चित्र चित्रकला-विषयक-ग्रंथ चित्र-सूत्र के अनुसार विद्ध-चित्र-प्रकार का है और इस काल के चित्रकार द्वारा प्रतिकृति-चित्रण-परंपरा के उच्च विकसित तकनीकी दाक्षिण्य का द्योतक है। राजकुमार का आकर्षक मुकुट तथा रानी की प्रभावशाली वेशभूषा और केश-सज्जा, सब कुछ पूर्णरूपेण सुसंयोजित हैं (रेखाचित्र २५) तथा उनके समक्ष चित्रित सादा अलंकरणहीन जैन साधु का चित्र समूचे दृश्य में एक ऐसा विरोधाभास-सा दर्शाता है जो प्रभावशाली है।

एलोरा (देखिए प्रथम भाग में अध्याय १८) की इंद्र-सभा की भित्तियाँ एवं छत की समूची सतह चित्रांकित है। इन चित्रों में विभिन्न दृश्य अंकित हैं जिनमें उनके छोटे से छोटे विवरण को समग्रता से दर्शाया गया है। नौवीं-दसवीं शताब्दी के इन भित्ति-चित्रों में जैन ग्रंथों के चित्रांकनों की अनुकृतियाँ हैं तथा इसके साथ ही पत्र-पुष्प, पशु-पक्षियों पर आधारित कला-रूपों का भी अंकन है। यहाँ गोम्मटेश्वर के चित्र इसी विषय-वस्तु के मूर्तिपरक विधानों की तुलना के लिए उपयुक्त रहेंगे जिसका एक उदाहरण इसी गुफा से उपलब्ध हुआ है तथा उसी प्रकार के अन्य उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध हैं। ये उदाहरण हैं श्रवणबेलगोला की एक ही शिला से निर्मित विशाल प्रतिमा और वह प्रसिद्ध कांस्य-प्रतिमा जो इस समय प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में है। ये प्रतिमाएँ अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करती हैं। इस प्रतिमा में साधु बनने के उपरांत गोम्मटेश्वर को गहन ध्यान की अवस्था में खड़े हुए दर्शाया गया है। उनके पैरों पर चींटियों की बाँबियाँ बन गयी हैं तथा लताओं ने द्रुतगति से फैलकर उनके शरीर को चारों ओर से घेर लिया है। उनके पार्श्व में दोनों ओर उनकी बहनें खड़ी हैं। इस विषय को चित्रित करने वाली समस्त प्रतिमाओं में यह प्रतिमा अति उत्तम रूप से अंकित है। इसी प्रकार यहाँ की छत के एक भाग पर दिक्पाल-समूह अंकित है, जिसमें यम अपनी पत्नी यमी सहित भैंसे पर आसीन है और उनके पीछे उनके अनुयायी सेवकगण हैं। दिक्पाल के गणों का अंकन इसी पद्धति पर है। ये समूह हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इन चित्रों की तुलना हेमवती-स्थित मंदिर की छत पर नोलंब कलाकारों द्वारा अंकित इसी प्रकार के चित्र से की जा सकती है। हेमवती के ये चित्र इस समय मद्रास संग्रहालय में हैं। बादलों का चित्रांकन, मानवाकृतियों में बड़ी-चौड़ी आँखों का अंकन, तथा शैलीकरण का आरंभ, जो अभी तक स्पष्ट नहीं हो पायी थी, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन चित्रों में बादलों के मध्य आकाश में उड़ते हुए आलिंगन-बद्ध विद्याधर-दंपति, उनकी ग्रीवा तथा अन्य अंगों की कमनीय त्रिवलियाँ, अर्पण हेतु पुष्प-पुट में रखे फूल, उनकी पुष्प-धारणी अंजलि (रंगीन चित्र ६-१०), वंदना के लिए हाथों को ऊपर उठाकर तथा साथ-साथ नीचे लाते हुए बौने गणों, जिनमें से कुछ गण शंख बजा रहे हैं तथा कुछ गण वातावरण में आपूरित दिव्य संगीत के साथ तालबद्ध रूप में तालियाँ

बजा रहे हैं (रंगीन चित्र ११), आदि-आदि। ये सब ऐसी उल्लेखनीय उत्कृष्ट कृतियाँ हैं जो नोलंब चित्रकारों की तूलिका से निःसृत हुई हैं। दक्षिणापथ के एक महान् राजवंश राष्ट्रकूट के प्रभुत्व-काल में रचे गये भित्ति-चित्रों में संभवतः ये ही चित्र सुरक्षित बच रहे हैं। इस काल की कला ने समूचे भारत—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम—की समकालीन शासन-काल की कलाओं पर प्रभाव डाला।

चोल, जो नौवीं शताब्दी में एक बार पुनः विजयालय के अंतर्गत राजसत्ता में आये थे, उदार शासक थे। उन्होंने अपने धर्म शैवमत के प्रति विशेष अनुरक्ति के साथ-साथ सभी धर्मों को समान भाव से प्रश्रय दिया। राजराज, जिसने तंजावुर में अपने नाम पर राजराजेश्वर नामक भव्य शिव-मंदिर का निर्माण कराया, कला के प्रति इतनी गहरी अभिरुचि रखता था कि उसे 'नित्य-विनोद' अर्थात् 'सदैव कला में आनंद लेने वाले' के उपनाम से जाना जाता था। जैन धर्म को दिये गये उसके उदार दानों से ज्ञात होता है कि वह जैन धर्म का एक महान् प्रश्रयदाता था। उसकी बहन कुंदवइ ने भी तिरुमलै तथा अन्य स्थानों पर जैन मंदिरों का निर्माण कराया तथा दान दिये। जैन स्मारकों में जो चोल-कालीन चित्र हैं वे नर्त्तमलै के बाद के हैं। तिरुमलै के चित्र और मूर्तियाँ, स्मिथ[1] के अनुसार, एक साथ खराब नहीं हुए। तिरुमलै के चित्र विजयनगर और चोल-शैली के सम्मिलन से निर्मित हैं, जो चोल-कालीन कला के अंतिम चरण की कला है। लक्ष्मीश्वर-मण्डप के निचले तल पर बाह्य कक्ष में ईंट निर्मित भित्तियों पर चित्रित कल्पवासी देवों का समूह प्रारंभिक चित्रित सतह के चित्र हैं। ये चित्र प्रायः उत्तरवर्ती शैली में अंकित हैं जिनमें उनकी आकृतियाँ मोहक हैं। आकृतियाँ रत्नाभूषणों से अलंकृत एवं उनकी आँखें विस्तृत रूप से अंकित हैं। भित्ति-चित्रों की दूसरी सतह लगभग विजय-नगर-शैली में चित्रित है।

लगभग इस काल में पश्चिम मैसूर में होयसल-वंशीय शासक राजसत्ता में आये। इस वंश के शासकों में विष्णुवर्धन (सन् ११०६-४१) एक महान् शासक था जो मूलरूप में बित्तिदेव या बित्तिग के नाम से जाना जाता था। इसे रामानुज द्वारा जैन धर्म से परिवर्तित कर वैष्णव धर्म में दीक्षित किया गया था। इसने बेलुर और हलेबिड में कुछ ऐसे अत्यंत सुंदर मंदिरों का निर्माण कराया जिन्होंने होयसल-कला को प्रसिद्धि प्रदान की है। यह शासक एक निष्ठावान् वैष्णव मतावलंबी था और इसकी रानी जैन धर्मानुयायी थी लेकिन यह उन इक्ष्वाकु शासकों की भाँति उदार-हृदय व्यक्ति था जो स्वयं तो ब्राह्मण धर्मानुयायी थे लेकिन परिवार की राजकुमारियाँ बौद्ध धर्मानुयायी थीं। विष्णुवर्धन के गंगराज और हुल्लि दण्डनायक जैसे मंत्री एवं सेनानायक भी जैन धर्मानुयायी थे। यद्यपि होयसल शासकों के समूचे साम्राज्य क्षेत्र में उपलब्ध होयसल-कला की प्रतिमापरक अमूल्य निधि स्थापत्य और शिल्पकला की उत्कृष्टतम कलाकृतियों के माध्यम से प्रकट है तथापि, अभी तक भित्ति-चित्र-कला का कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सका है। लेकिन, सौभाग्यवश होयसल-काल

---

1 स्मिथ (वी ए). हिस्ट्री ऑफ़ फ़ाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन, द्वितीय संस्करण, तथा कॉड्रिंग्टन द्वारा संशोधित, 1930, ऑक्सफ़ोर्ड, पृ 140.

की चित्रकला के उदाहरण मूडबिद्री के मंदिर के पाण्डुलिपि-भण्डारों में सुरक्षित हैं। ये चित्र इस भट्टारक-पीठ की ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के चित्रों के रूप में तथा उपासना-उपादानों के रूप में हैं। पाण्डुलिपियों में षट्खण्डागम की वीरसेन-कृत टीकाएँ हैं जो धवला, जयधवला, महाधवला या महाबंध के नाम से जाने जाते हैं। दिगंबर-परंपरा के अनुसार धवला, जयधवला, और महाधवला में जैनों के मूल बारह अंगों का वह भाग सुरक्षित है जो लुप्त होने से बच सका है। षट्खण्डागम की टीका धवला के आरभ में उसकी रचना के विषय में एक कथानक दिया गया है। महावीर के उपदेशों को उनके गणधर इंद्रभूति गौतम ने बारह अंगों में व्यवस्थित किया। ये अंग मौखिक परंपरा के रूप में अगली पीढ़ियों में प्रचलित रहे लेकिन ये इस सीमा तक उपेक्षित रहे कि उन्हें पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता पड़ी। गुणधर (ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी) तथा धरसेन (प्रथम शताब्दी) नामक दो आचार्यों ने महावीर के उपदेशों को, जो उस समय जितने भी और जिस रूप में भी बच रहे थे, संगृहीत कर क्रमशः कषायपाहुड तथा षट्खण्डागम नामक अपने जैन-कर्म-दर्शन के ग्रंथों में लिपिबद्ध कर व्यवस्थित किया। इस श्रृंखला में अंतिम ग्रथ धवला है जो कि षट्खण्डागम की टीका है। इस टीका के लेखक वीरसेन नें कषाय-पाहुड नामक ग्रंथ का भी भाष्य लिखा था जो जयधवला के नाम से जाना जाता है। धवला का रचना-काल शक-सवत् ८१६ (सन् ८९४) है जो राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष-प्रथम के राज्यकाल का समय था। इस लेख के लेखक का ध्यान इसकी सचित्र पाण्डु-लिपियों की ओर कुछ वर्ष पहले मान्य मित्र श्री छोटेलाल जैन ने उस समय आकृष्ट किया था जबकि जनवरी १९६४ में राष्ट्रीय संग्रहालय में आयोजित सचित्र पाण्डुलिपियों की प्रदर्शनी के लिए उनके संग्रह से प्रदर्शनी हेतु पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की गयी थीं।

सौभाग्य से, इन पाण्डुलिपियों की मूडबिद्री स्थित प्राचीन ग्रथ-भण्डारों में भली-भाँति सुरक्षा की गयी है। ये पाण्डुलिपियाँ पुरालिपि के आधार पर स्पष्टतः होयसलकालीन है जो लिथिक तथा विष्णु-वर्द्धन-कालीन ताम्रपट-अभिलेख से घनिष्ठ रूप से मिलती-जुलती हैं। इनके चित्र चमकदार रंगों में अंकित है जो हमें होयसल-काल के चित्रकारों की कला-दक्षता का परिचय देते हैं। इन पाण्डु-लिपियों के हस्तलेख का बेलुर-मंदिर से प्राप्त धातुपत्रों पर पुष्पाकार रेखांकनों सहित लेख से अत्यंत निकट का साम्य है। ये चित्र विष्णुवर्द्धन और उसकी जैन धर्मानुयायी पत्नी शांतला के समकालीन होने चाहिए।

ये चित्र जो असामान्य रूप से बड़े ताड़पत्र पर अंकित हैं, मूलपाठ के हस्तलेख की सुंदरता तथा मूलपाठ को चित्रांकित करनेवाले उसके साथ के चित्रों, इन दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। इसके दो पत्रों पर अंकित चित्र सबसे प्रारंभिक काल के हैं जिनके अक्षर कुछ मोटे हैं, इनका विन्यास अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक कोमल हैं। रंग का प्रभाव कुछ ऐसा कोमल है कि वह अन्य रंगों के रंग-विरोधाभास के प्रभाव को कम कर देता है तथा उनपर आकृत्ति-रेखाएँ एक सुखद अनुपात में खींची गयी हैं। धवला की यह पाण्डुलिपि सन् १११३ की है। इसपर सुपार्श्वनाथ की यक्षी काली अंकित है लेकिन वह अपने नाम के विपरीत गौर वर्ण की अंकित की गयी है। उसका वाहन वृषभ भी



1. सित्तन्नवासल — कमल-सरोवर में सुमन-संचय



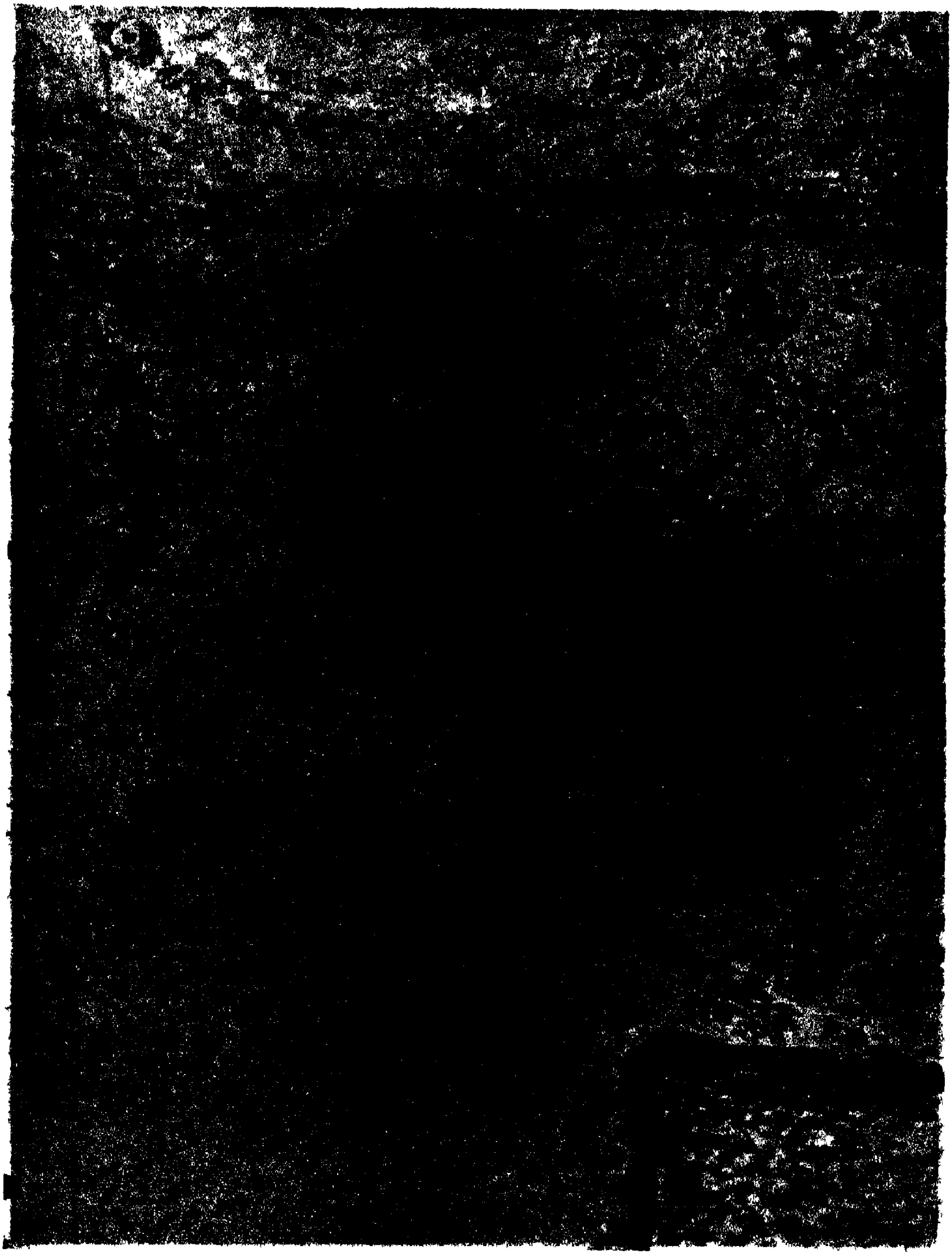
2 सित्तन्नवासल — सरोवर मे कमल ग्रौर हंस



3. सित्तन्नवासल — हस-पक्ति



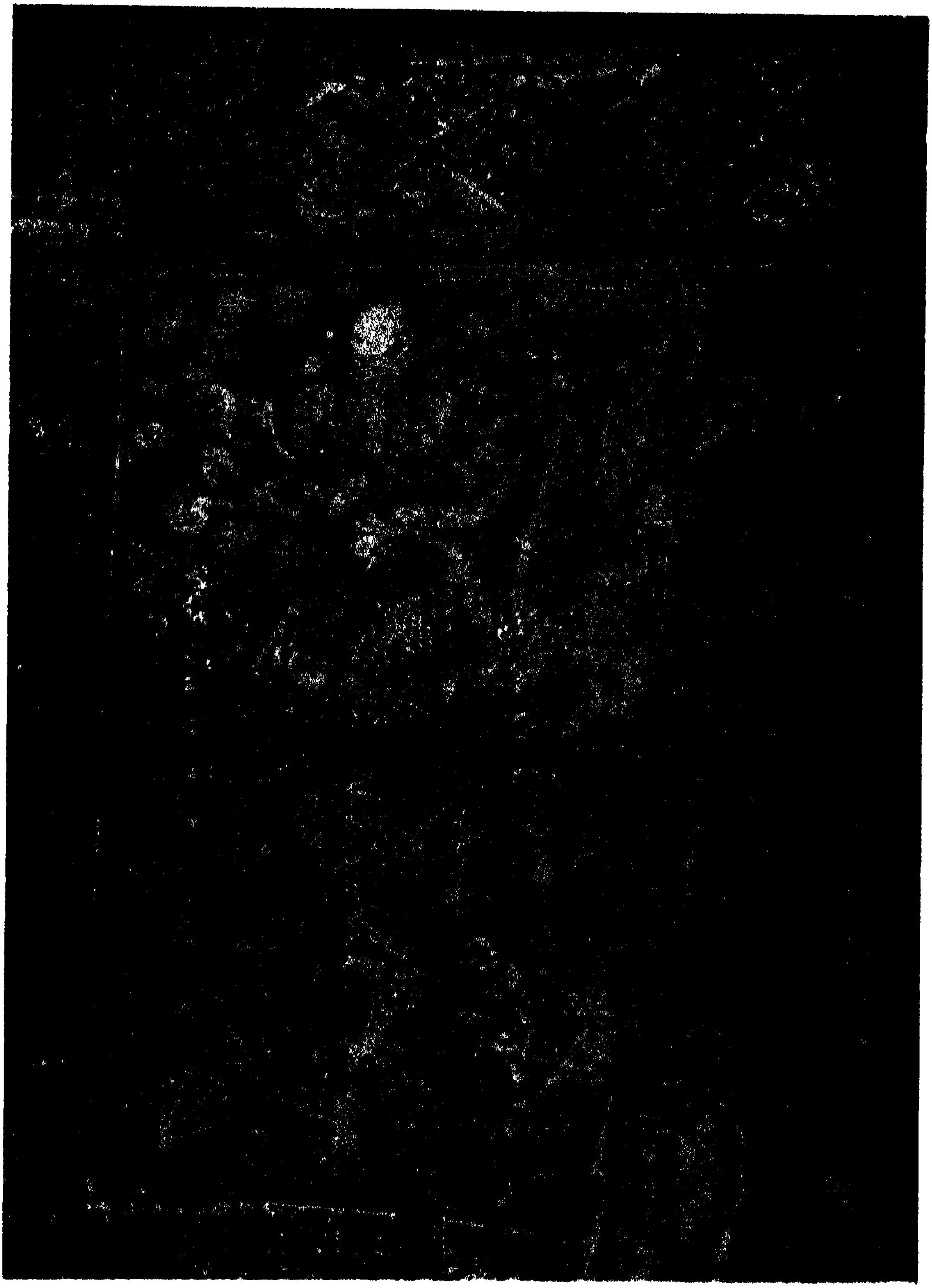
4. सित्तन्नवासल — कमल-सरोवर में सुमन-संचय



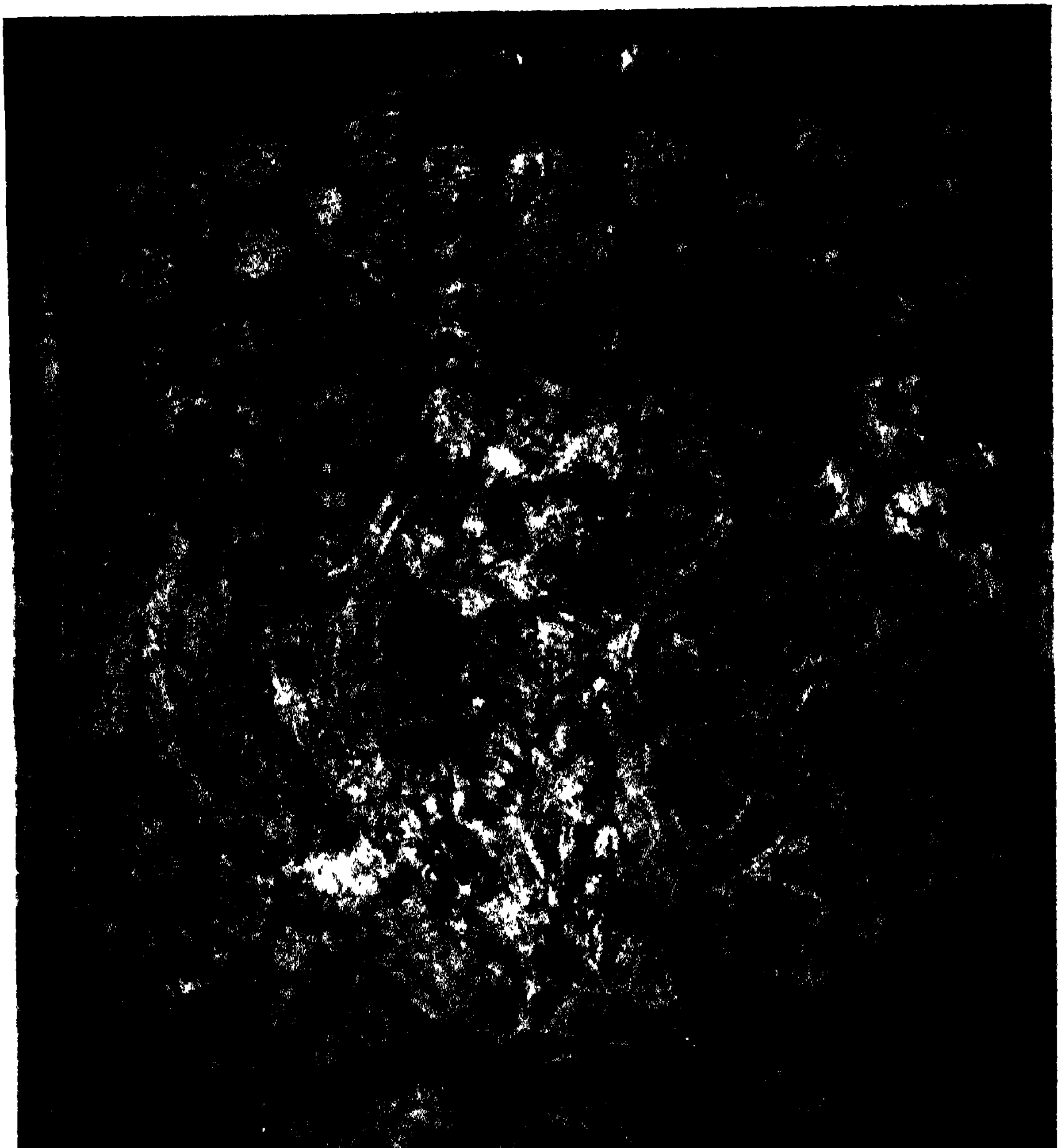
5. शित्तन्नवासल — नृत्य-रत अप्सरा



6. एलोरा — पुष्पोपहार लिये उड़ते देव और देवियां



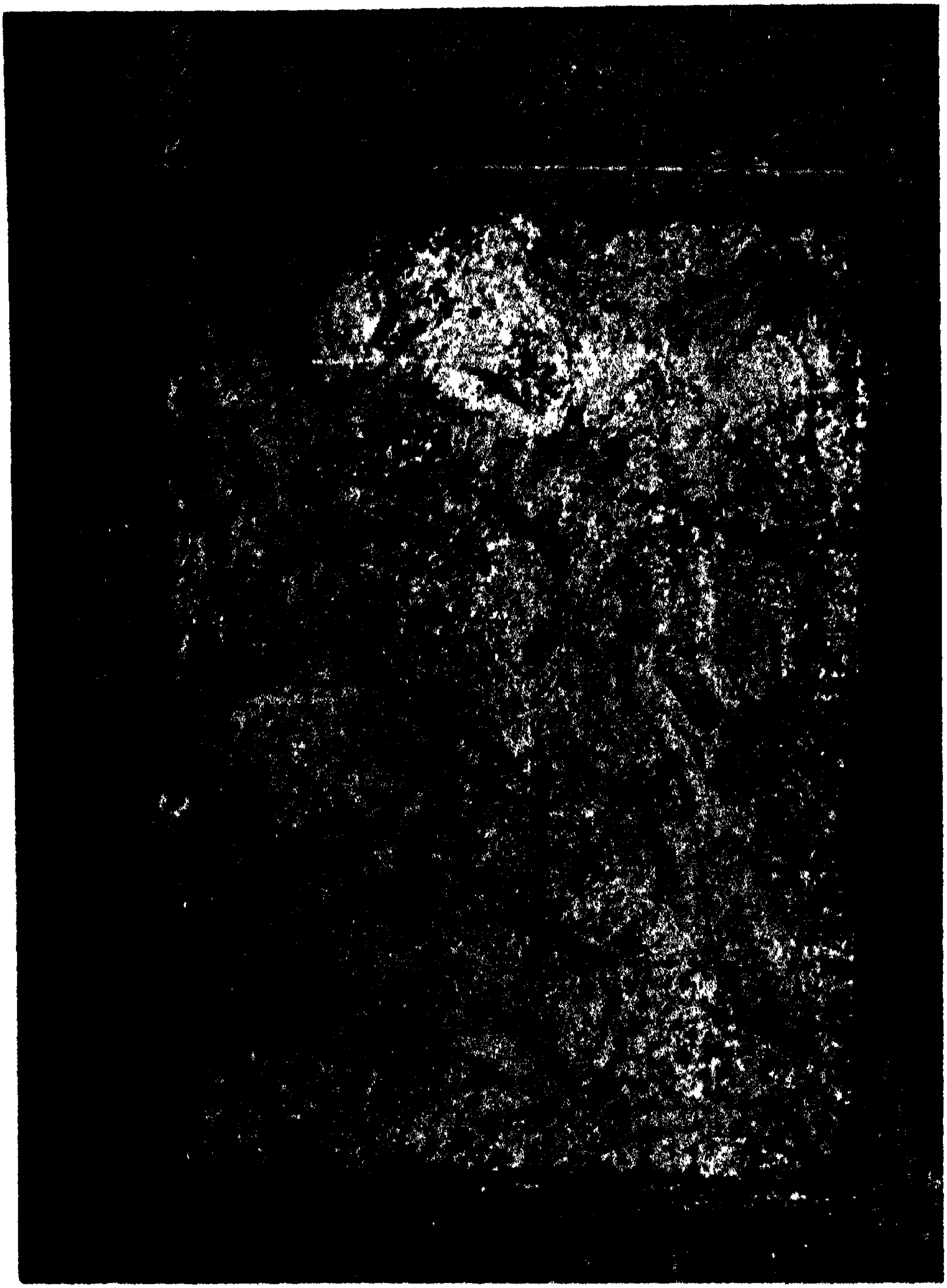
7. एलोरा — व्योमचारी देव-देवियाँ



8. एलोरा — व्योमचारी देव-देवियाँ



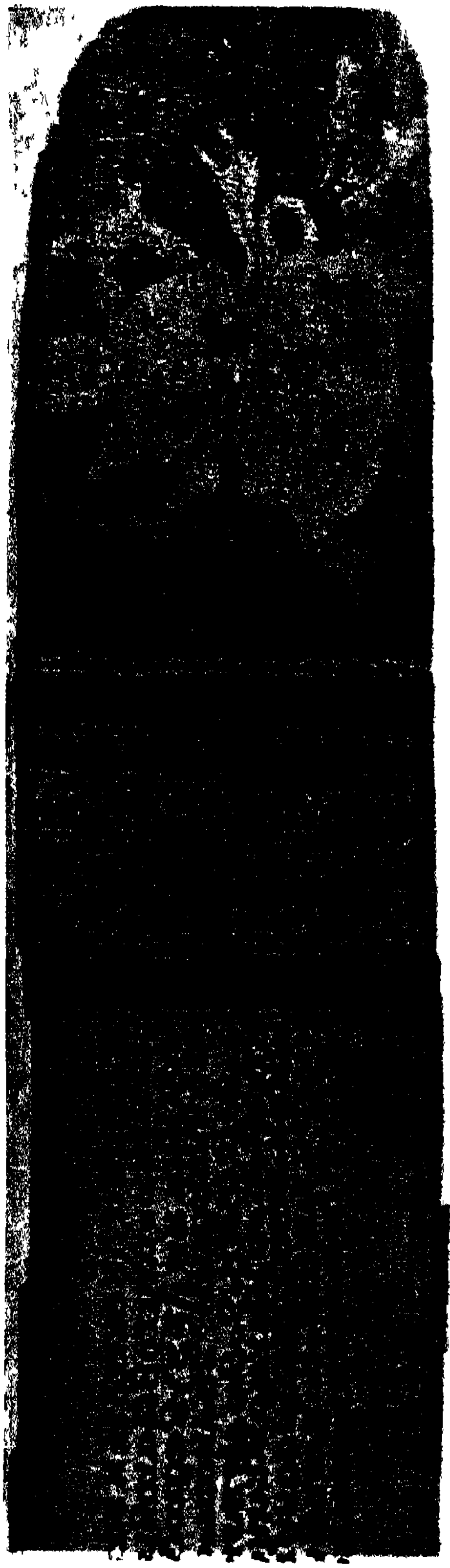
9. एलोरा — व्योमचारी देव-देवियाँ



10. एलोरा — व्योमचारी देव-देवियाँ

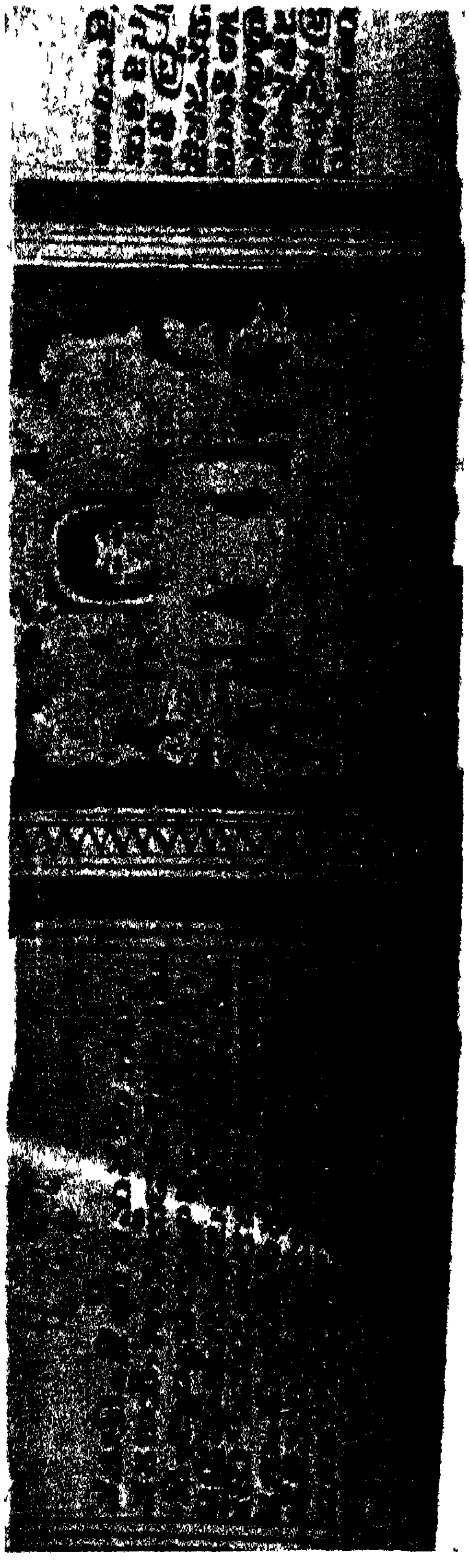


11. एलोरा — व्योमचारी देव-देवियाँ



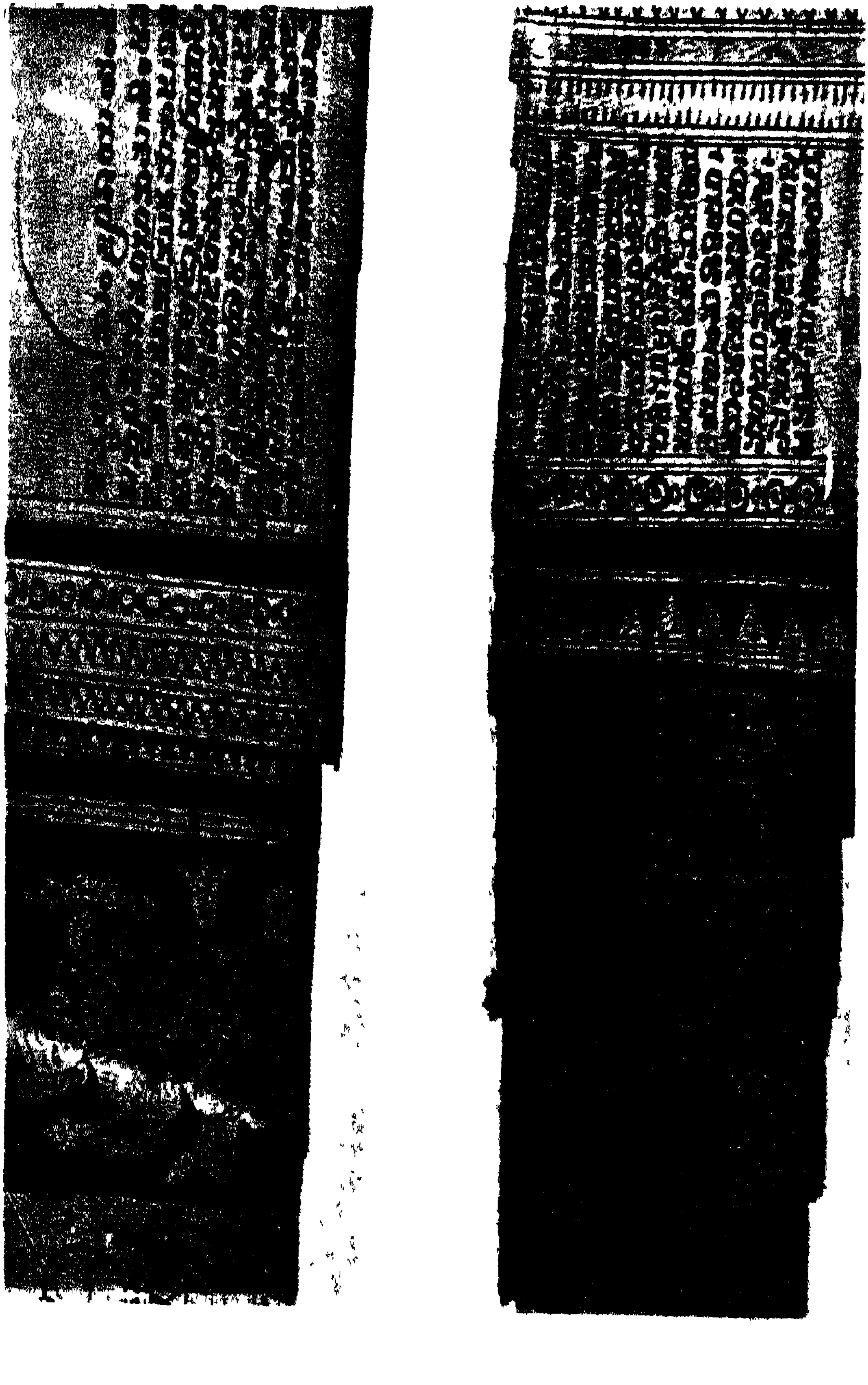


12-13. मूडबिद्री की एक पाण्डुलिपि अपने वाहन पर काली, भक्तगण

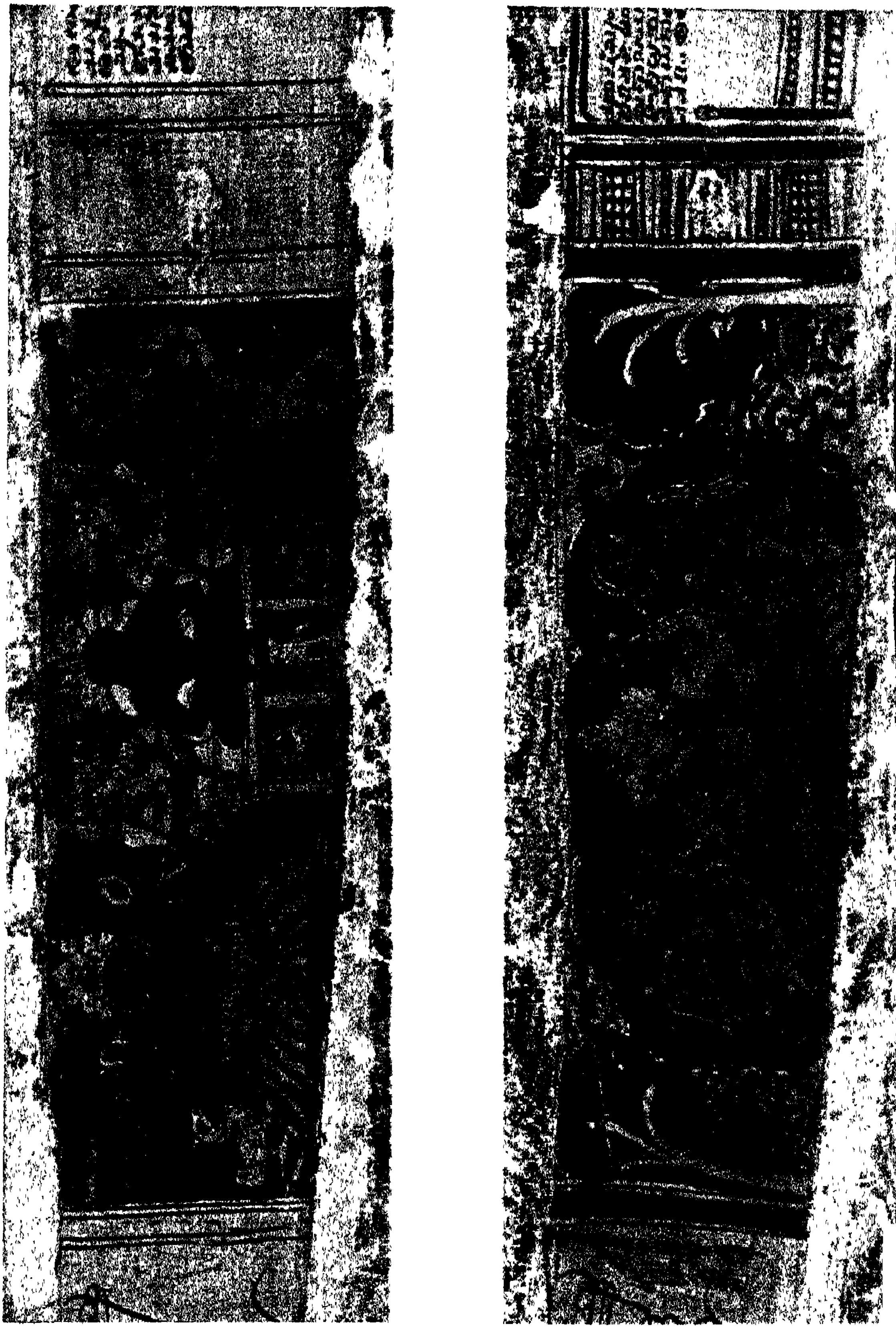




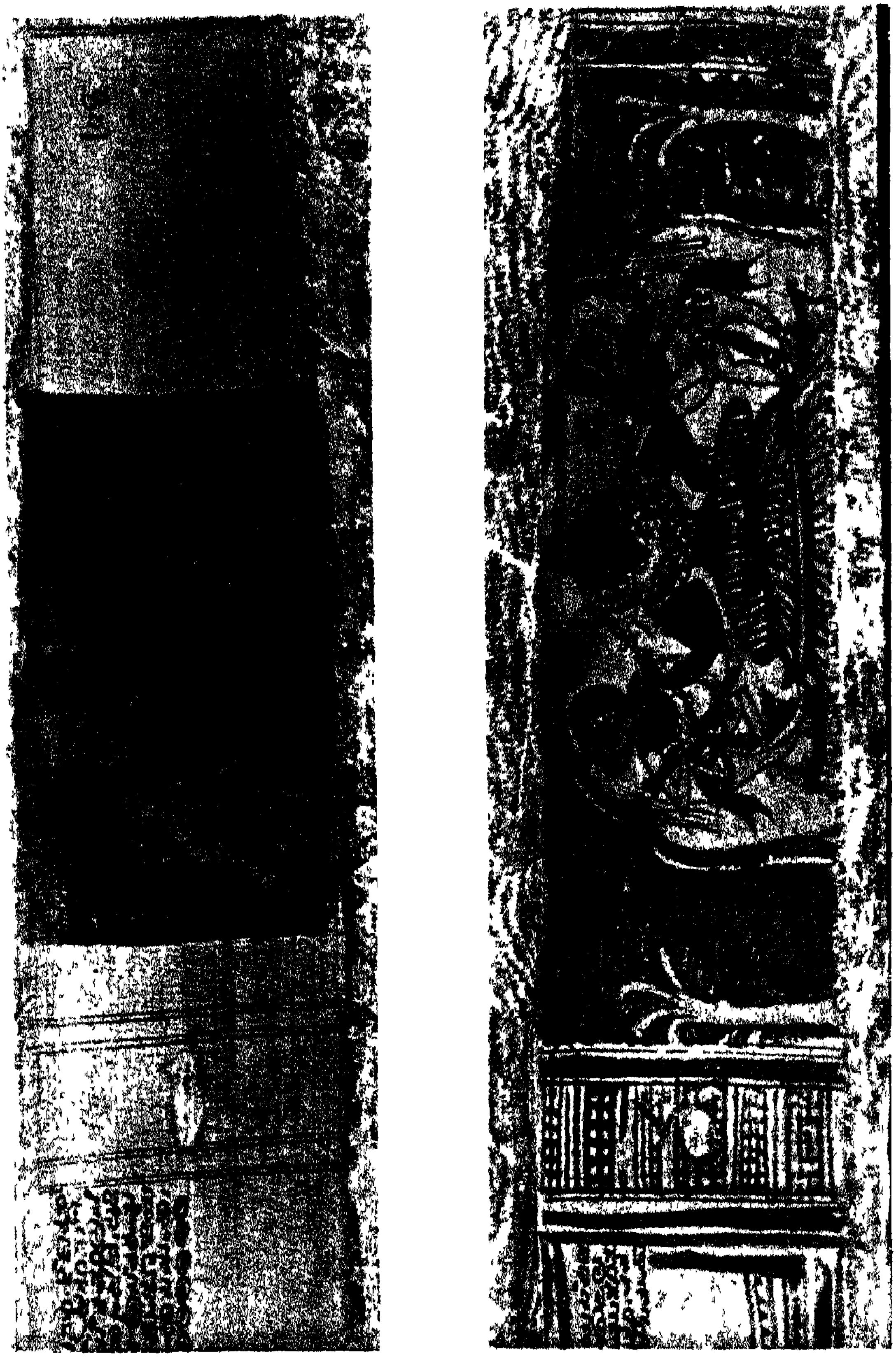
14-15 मूडबिद्री की एक पाण्डुलिपि —पद्मासन तथा खड्गासन-मुद्रा में भगवान महावीर



16-17. मूडबिद्री की पाण्डुलिपि — ग्रन्थ अजित और भक्तगण



18-19. मूडबिद्री की एक पाण्डुलिपि — धरणेन्द्र और पद्मावती सहित तीर्थंकर पार्श्वनाथ; श्रुतदेवी



20-21. मूडबिद्री की पाण्डुलिपि — बाहुबली और उनकी बहनें, तथा श्रुतदेवी

यहाँ दर्शाया गया है। उसकी देह-यष्टि की कमनीयता तथा आकृति को अंकित करने वाली लहरदार रेखाएँ उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार, उसके एक ओर अंकित इसके भक्तों को, जो संभवत: शाही परिवार के सदस्य, राजा, रानी तथा राजकुमारी आदि हैं, अत्यंत कोमलता के साथ अंकित किया गया है। ये ताड़पत्र के छोर की ओर अंकित हैं (रंगीन चित्र १२ और १३)। इन दोनों ताड़पत्रों के चित्रों की केंद्रवर्ती मुख्य आकृति कायोत्सर्ग तथा पद्मासनस्थ तीर्थंकर महावीर की है। यद्यपि तीर्थंकर की निर्वसन-आकृति जैसा विषय अत्यंत सादा है लेकिन इसका अंकन बहुत कठिन है। फिर भी, इन दोनों चित्रों में चित्रकार ने उन्हें अत्यंत कलात्मक ढंग से चित्रित किया है। इन दोनों चित्रों की आकृतियाँ सौंदर्यात्मक दृष्टि से अत्यंत मनोहारी हैं। (रंगीन चित्र १४ और १५) तीर्थंकर का आसन विशद एवं अलंकृत है, जो पीछे की ओर मकर के अलंकरण से अलंकृत है, तथा उसके पीछे सिंह है जो पार्श्व में खड़ी चौरी-धारिणी की मनोरम आकृतियों के अनुरूप है। इस चित्र को देखने पर अविलंब प्रारंभिक चोलकालीन उस श्रेष्ठ कलाकृति का स्मरण हो आता है जिसमें नागपट्टिणम् बुद्ध को उनके पार्श्व में नागराज चौरीधारियों के सहित दर्शाया गया है। इस ताड़पत्र के एक दूसरे किनारे पर पुष्पदंत के यक्ष अजित तथा बैठे हुए भक्तों के एक जोड़े को अंकित किया गया है (रंगीन चित्र १६ और १७)। यह चित्र यहाँ पर प्राय: एक ही रंग में है लेकिन उसे इस कुशलता से अंकित किया गया है कि एक रंग के होते हुए भी चित्र की समूची विशेषताएँ उभरकर सामने आ गयी हैं।

अन्य ताड़पत्रों में, प्रत्येक के एक किनारे पर पार्श्वनाथ अंकित हैं। उनके सिर पर नागफण का छत्र है और वे सिंहों के आसन पर बैठे हैं, उनके पार्श्व में चौरीधारी सेवक हैं तथा उनके एक ओर धरणेंद्र यक्ष एवं दूसरी ओर पद्मावती यक्षी अंकित हैं। एक ताड़पत्र में एक सिरे पर श्रुतदेवी अंकित हैं, जिसके दोनों ओर चौरीधारिणी सेविकाएँ हैं, जिनकी आकृतियाँ कमनीय और सहज हैं। आकृतियों की वक्रता (झुकाव), केश-सज्जा, घूमी हुई मुखाकृति, ग्रीवा का मोड़ तथा पालथी की मुद्रा में पैर आदि सभी अत्यंत कमनीयता के साथ अंकित किये गये हैं (रंगीन चित्र १८ और १९)। इसी प्रकार लगभग ऐसा ही आकर्षक चित्र एक अन्य ताड़पत्र के किनारे की ओर अंकित है। इसी शैली में बाहुबली संबंधी दृश्य अंकित किये गये हैं जिनमें साधनावस्था में खड़े उनके पैरों पर लिपटी लताएँ दिखायी गयी हैं। (रंगीन चित्र २० और २१)। चित्र में उनकी बहनों को उनके पार्श्व में खड़े दर्शाया गया है। यह अंकन एलोरा के उस फलक के अंकन से बिलकुल मिलता है जिसमें इसी विषय को अंकित किया गया है। इस चित्र में बाहुबली के महत्त्वपूर्ण विषय का वैसा ही प्रभावपूर्ण प्रस्तुतीकरण है जैसा कि श्रवणबेलगोला स्थित बाहुबली की विशाल पाषाण-प्रतिमा में तथा बंबई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में उपलब्ध एक धातु-प्रतिमा में हुआ है।

यक्षी अंबिका का भी, जो जैन कला में अत्यंत लोकप्रिय रही हैं, एक चित्र यहाँ पर प्राप्त है। अंबिका यक्षी एक आम के वृक्ष के नीचे दो शिशुओं को लिये हुए अपने वाहन सिंह सहित अंकित हैं। बड़ा शिशु सिंह पर चढ़कर खेल रहा है जबकि छोटे शिशु को अंबिका के अति निकट दिखाया गया है। भक्तों, उपासकों द्वारा पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ की पूजा-अर्चना की विषय-वस्तु

को अत्यंत साधारण रूप में अंकित किया गया है क्योंकि इस विषय-वस्तु को स्वयं में अधिक साज-सज्जा-अलंकरण की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, कुछ ऐसी विषय-वस्तुएँ भी हैं जो अत्यंत मोहक हैं, जैसे मातंग यक्ष की विषय-वस्तु। मातंग यक्ष को अपने वाहन हाथी सहित दिखाया गया है। हाथी अपने पूर्ण वैभव के साथ बैठा हुआ है, जिसका सिर गौरव से ऊपर उठा है। समूचा चित्र दो वृक्षों के मध्य में कलात्मक ढंग से संयोजित है। यह संयोजन परंपरागत पद्धति के अनुकरण के कारण उल्लेखनीय है। यक्षी श्रुतदेवी का अपने वाहन मयूर सहित तथा महामानसी यक्षी का अपने वाहन हंस सहित और अजित यक्ष का अपने वाहन कच्छप सहित अंकन होयसल-चित्रकारों की तूलिका का उल्लासकारी कलात्मक सृजन है। पक्षियों की लहरदार पूँछों तथा आकृति-सूचक रेखाओं का अंकन चित्रकारों की महान् कलात्मक अभिरुचि तथा सृजनशील प्रतिभा का परिचय देता है।

इन पाण्डुलिपियों की बाह्य रेखाओं तक को भी अत्यंत आकर्षणपूर्ण ढंग से चित्रित किया गया है। यद्यपि इन अनेक ताड़पत्रों पर पत्र-पुष्पों की अनेकानेक परिकल्पनाएँ चित्रित की गयी हैं लेकिन इनमें कहीं भी कोई पुनरावृत्ति नहीं है। अभिकल्पनाओं के उच्चतम स्तर की दृष्टि से ये ताड़पत्र विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं।

दक्षिण-वर्ती दक्षिणापथ में सन् १३३५ ई० में हरिहर ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की, जो इस भू-भाग के दक्षिण भाग में एक प्रभुता-संपन्न शक्ति के रूप में उभरा। इस राजवंश के भी उत्तराधिकारियों ने जैन धर्म के साथ अन्य धर्मों का भी अत्यंत निष्ठा के साथ पल्लवन किया। यहाँ से उपलब्ध एक अभिलेख में यह तथ्य विशेष है कि अच्युतराय ने किस प्रकार परस्परविरोधी तथा झगड़नेवाले जैन और वैष्णव धर्म के धर्म-प्रमुखों को एक साथ राज-दरबार में बुलाया तथा अत्यंत सम्मानप्रद समझौता कराकर दोनों धर्मों में परस्पर सद्भाव, आदर-भाव और मैत्री स्थापित करायी। इस वंश के तेरहवीं शताब्दी से प्रारंभ होनेवाले साम्राज्य के चार सौ वर्ष लंबे शासनकाल में स्थापत्यीय निर्माण तथा मंदिरों को चित्र एवं मूर्तियों से सजाने की गतिविधियाँ अपने चरम रूप में क्रियाशील रहीं। इस शासनकाल में मंदिरों, भवनों तथा संभ्रांत नागरिकों के गृहों में अंकित विविधरंगी भित्ति-चित्र कितने आकर्षक और भारतीयों के लिए ही नहीं अपितु विदेशी यात्रियों के लिए भी कितने प्रभावपूर्ण थे इसका पता विदेशी यात्रियों द्वारा किये गये उल्लेखों से प्राप्त होता है, जिनमें प्रसिद्ध पुर्तगाली यात्री पाएस का यात्रा-विवरण उल्लेखनीय है, जिसने विजयनगर राज्य की राजधानी की यात्रा की थी। उसने अपने यात्रा-वृत्तांत में भित्ति-चित्रों की कला की भूरि-भूरि सराहना की है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं, जैसा कि सुविदित है, सम्राट कृष्णदेवराय स्वयं एक कवि तथा कला-प्रेमी, कला और साहित्य का महान् रक्षक था। संभावना से भी अधिक गोपुरों के निर्माण कराने का श्रेय उसे दिया जाता है। यह श्रेय उसे ठीक उसी प्रकार प्राप्त है जिस प्रकार किंवदंतियों के अनुसार सम्राट् अशोक को ८४ हजार स्तूपों के निर्माण कराने का श्रेय प्राप्त है।

विशाल विजयनगर साम्राज्य में सर्वत्र पाये जानेवाले भव्य गोपुरों एवं मण्डपों की छतों तथा मंदिरों की भित्तियों पर विजयनगर-कला-शैली में अंकित असंख्य भित्ति-चित्रों में जैन विषय-वस्तु के

अंकन की दृष्टि से कांचीपुरम् के तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम्-स्थित वर्धमान-मंदिर के संगीत-मण्डप में जैन चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ चित्र प्रारंभिक कालीन हैं जबकि अधिकांशतः चित्र बहुत परवर्ती काल के हैं। प्रारंभिक, जो आंशिक रूप में बच रहे हैं, मात्र विषय-वस्तु के अंकन की दृष्टि से ही नहीं अपितु इस काल की कला के अध्ययन में जो उसे विशेष स्थान प्राप्त है उसकी दृष्टि से भी अत्यंत उल्लेखनीय हैं। यह मण्डप बुक्कराय-द्वितीय के जैन धर्मानुयायी मंत्री इरुगप्प ने बनवाया था, अतः इसके चित्र इस काल के चौदहवीं शताब्दी के अंतिम काल के चित्रकार की कला-कुशलता को प्रदर्शित करते हैं। इसके चित्रों की विषय-वस्तु वर्धमान के जीवन से संबद्ध है। इन चित्रों में एक चित्र तीर्थंकर वर्धमान के जन्म से संबंधित है जिसमें प्रियकारिणी उन्हें जन्म देती दर्शायी गयी हैं। दक्षिण भारतीय चित्रों तथा केरल की शिल्पकला, इन दोनों में, शिशु को जन्म देने की विषय-वस्तु विशेष रूप से लोकप्रिय रही है। केरल के मूर्ति-शिल्पों में रामायण ने इस विषय-वस्तु को चित्रित करने का बहुत अवसर प्रदान किया है। अतः इस विषय-वस्तु के चित्रों के तुलनात्मक अध्ययन की विशेष रूप से आवश्यकता है। सौधर्मेंद्र की अपनी पत्नी शची सहित शिशु-जन्म तथा उसके अभिषेक-संस्कार-उत्सव मनाने का दृश्य आकर्षक रूप से अंकित किया गया है जो आकार, रंग-ढंग, तौर-तरीके, स्वभाव तथा इस काल के वस्त्राभूषण और अलंकरणों आदि प्रत्येक दृष्टि से विशिष्ट रूप लिये हुए है। इसी प्रकार का एक अन्य रोचक चित्र है जिसमें सौधर्मेंद्र को तीर्थंकर वर्धमान के समक्ष नृत्य करते हुए दर्शाया गया है। इस चित्र में नृत्यरत-मुद्रा में सौधर्मेंद्र के पैर पाद-स्वस्तिक मुद्रा में हैं।

तेलीकोटा के युद्धोपरांत विजयनगर साम्राज्य के क्षीण होने के बाद भी कला को परवर्ती अधिकारधारी सम्राटों तथा इस समय के अत्यंत प्रभावशाली नायक शासकों का संरक्षण निरंतर मिलता रहा। तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् स्थित उत्तरकालीन सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के चित्र नायकवंशीय शासकों के राज्यकाल से संबंधित हैं। ऋषभदेव, वर्धमान, तीर्थंकर नेमिनाथ तथा उनके भतीजे कृष्ण के जीवन-चरित्र संबंधी सभी चित्र लंबी चित्रमालाओं में सविस्तार अंकित किये गये हैं और इनपर तमिल भाषा में लिखे शीर्षक अंकित हैं जो प्रत्येक दृश्य की स्पष्टतः व्याख्या करते हैं; जैसे कि चिदंबरम्, तिरुवलूर आदि। अनेक स्थलों पर चित्रों के साथ शीर्षक पाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि विजयनगर-कालीन कला में शीर्षकों के अंकन की एक सामान्य परिपाटी प्रचलित रही है। यहाँ तक कि मंदिरों में लटकाये जानेवाले चित्रों में शीर्षकों का अंकन चित्र की विषय-वस्तु की व्याख्या की एक नियमित परिपाटी बन गयी थी। ये शीर्षक क्षेत्रानुसार तमिल या तेलुगु भाषा में लिखे जाते थे। तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् में ये शीर्षक तमिल भाषा में हैं और पत्रों पर लेख भी तमिल ग्रंथलिपि में हैं।

ऋषभदेव के जीवन की गाथाओं के चित्रांकन में दर्शाया गया है कि किस प्रकार लोकांतिक देवों ने ऋषभदेव को याद दिलाया कि यही समय है कि वे संसार को त्याग कर दीक्षा धारण करें (चित्र २६१), तथा किस प्रकार कच्छ एवं महाकच्छ तथा उनके अन्य उपासकों ने संसार को त्यागने का प्रयास किया, परंतु वे कड़ाके की सर्दी एवं भूख को सह नहीं सके इसलिए उन्होंने कपड़े पहन लिये और खाने-पीने लगे; किस प्रकार नमि और विनमि ने गंभीर ध्यानावस्थित ऋषभदेव से यह तर्क-वितर्क किया था कि वे अपने राज्य का भाग उन्हें दे दें (चित्र २६२); तथा किस प्रकार

धरणेंद्र ने ऋषभदेव की प्रथम चर्या के रूप में उन्हें विद्याधर जगत का आधिपत्य अर्पित किया। ये सभी जीवन-चरित्र संबंधी गाथाएँ अत्यंत विस्तार के साथ अंकित की गयी हैं (चित्र २६३)।

तीर्थंकर नेमिनाथ के भतीजे कृष्ण की जीवन-गाथा में दर्शाया गया है कि बलदेव ने नवजात शिशु को ग्रहण कर, यमुना नदी को पार किया, तथा उस शिशु को नंदगोप को दिया। कृष्ण की बाल-लीलाओं (चित्र २६४) में उनके द्वारा शकट, धेनुक आदि अनेक असुरों का संहार, यमला-वृक्ष का समूल उच्छेद, ऊखल-बंधन आदि-आदि घटनाओं एवं गायों, ग्वालों और गोपियों के समूहों का अंकन आदि---इन सबको चित्रमालाओं में क्रमबद्ध रूप से चित्रित किया गया है। इनमें विभिन्न रीति-रिवाजों, सामाजिक तौर-तरीकों, धर्म-विश्वास और मान्यताओं, उत्सव-समारोहों, धार्मिक अनुष्ठानों आदि का भी अंकन उल्लेखनीय है। इन चित्रांकनों में लाक्षणिक रूप से पूर्ण-कुंभ, पुष्प आदि मंगल-सूचक स्वागतपरक उपादानों, नृत्य और वादन, पर्व एवं त्योहारों के उत्साह और आनंद का अनेक चित्रफलकों में चित्रात्मक अंकन है। इन चित्रों के शीर्षक-पट्टों के सविस्तार विवरण, इनके मूलपाठ तथा विषय-वस्तुओं के विशद विवेचन तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम्-मंदिर विषयक टी० एन० रामचन्द्रन् की पुस्तक में देखे जा सकते है।[1] नायकवंशीय शासकों के काल की कला का दूसरा पक्ष उस वैभवशाली कला-परंपरा का अंतिम अध्याय है जिसका अनवरत धाराप्रवाह प्रचलन दक्षिण भारत और दक्षिणा-पथ में शताब्दियों तक रहा।

कलम्बूर शिवराममूर्ति

1 रामचंद्रन् (टी एन). **तिरुप्परुत्तिक्कुन्रम् एण्ड इट्स टेंपल्स**, बुलेटिन ऑफ द मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियम, न्यू सिरीज, जनरल सेक्शन, 1, 3. 1934. मद्रास.